चन्द्रालोकः

संस्कृत-टीका, हिन्दी-अनुवाद तथा हिन्दी-व्याख्या-सहित]

टीकाकार

सुबोधचन्द्र पन्त, एम. ए.

प्रस्तावना लेखक

पं० बदरीनाथ शुक्ल, न्यायाचार्य, एम० ए०

न्यायविभागाध्यक्ष, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय ।

प्रकाशक

मोतीलाल बनारसीदास

दिल्ली, • वाराणसी, • पटना

प्रकाशक
सुन्दरलाल जैन
© मोतीलाल बनारसीदास
पो० बा० ७५, नेपाली खपरा
वाराणसी ।

प्रथम संस्करण
मूल्य ३.५०
१९६६

मुद्रक—
मौर्य प्रेस एण्ड पब्लिकेशन्स
जे२४/२५ ख्वाजापुरा, [जैतपुरा]
वाराणसी

समर्पण

पापास्ते गुणमद्वयं गुणवता दोषं सदा ख्यान्ति ये
नीचास्ते विवशा वदन्ति बहु ये वाल्पं न वा तं द्विषः
मध्यास्ते प्रकृतीरिता क्वचन नो ये तं नयन्त्याननं
श्रेष्ठास्ते परमाणुतामितमगीकुर्वन्ति तं येऽमलम् ॥ १ ॥

गुर्वीमप्यखिलैः गुरुत्वकलनैरुर्वीं लघूकुर्वता
येनास्मिन्नगुणे जने गुणकथा आरोपिताः पोषिताः ।
केन श्रीविलसन्नहेतुकदयापूरो विशिष्टोऽखिले
विद्याब्धिः स भवेद् भवेऽत्र बदरीनाथो न जानीमहे॥२॥

पिकोऽहं मुखरस्तस्य गुणेऽजरमधौ वने ।
अर्पयामि कृतिं तस्मै मम शैशवजं कलम् ॥३ ॥

वात्सल्यभाजनं
सुबोधः ।

वे पापी गुणियों के गुण जो
दोष बना कहते रहते।
वे लघु उसे विवश हो कहते
जो न द्वेष-वश था कहते ॥
वे मध्यस्थ प्रकृति-प्रेरित है
उसे न मुँह पर लाते जो।
वे उत्तम उसका अणु निर्मल
उर से अचल बनाते जो ॥ १ ॥

जिनने इस गुरु उर्वी को भ
करते हुए स्व-गरिमा-जित।
इस गुण-हीन व्यक्ति में की गुण-
चर्चा आरोपित - पोषित ॥
निष्कारण - करुणा - वरुणालय
विद्या के अतुलित आकर।
वे श्री बदरीनाथ महोदय
क्या न ज्ञात हमको है पर ॥२॥

उन कृती के अजर - मधु गुण-विपिन में
रम रहा अविराम मैं कोकिल मुखर।
कर रहा यह कृति समर्पित हूँ उन्हें
यह न कुछ बस शैशव-ज-कल-रव-निकर ॥ ३ ॥

वात्सल्य-भाजन,
सुबोध।

दो शब्द

विश्व के बहुतर मनीषियों की यह मान्यता है कि संस्कृत मानव जाति की आदिम भाषा है। इसकी विशुद्धता, वैज्ञानिकता, अभिव्यंजनक्षमता और मधुरता अनुपम है, यह चिर काल तक भारतवर्ष की लोक-भाषा, राजभाषा और साहित्य-भाषा रह चुकी है। इसने अपने प्रभावपूर्ण लम्बे जीवनकाल में अनेक बहुमूल्य उपलब्धियाँ अर्जित की हैं, अनेक कलायें और विद्यायें आत्मसात् की हैं, जिनमें काव्य-विद्या का स्थान सर्वोपरि है। मम्मट के शब्दों में काव्य की यह फलश्रुति सर्वथा सत्य है—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥

पुरातन आचार्यों ने विद्या के चौदह स्थान बताये हैं—'तानीमानि चतुर्दश विद्यास्थानानि यदुत वेदाश्चत्वारः, षडङ्गानि, चत्वारि शास्त्राणि' इति। ऋग्, यजुः, साम और अथर्व यह चार वेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष यह छः वेदांग, पुराण, आन्वीक्षिकी, मीमांसा और धर्मशास्त्र यह चार शास्त्र, इस प्रकार सब मिलकर चौदह विद्यास्थान हैं। किन्तु काव्य-मीमांसा में राजशेखर ने 'सकलविद्यास्थानैकायतनं पञ्चदशं काव्यं विद्यास्थानम्' कहकर काव्य को समस्त विद्याओं का आधार-पीठ बना उसका परिचय प्रस्तुत करते हुये वाग्देवता के यह शब्द अंकित किये हैं।

"शब्दार्थौ ते शरीरं । संस्कृतं मुखम् । प्राकृतं बाहुः । जघनमपभ्रंशः, पैशाचं पादौ, उरो मिश्रम् । समः प्रसन्नो मधुर उदार ओजस्वी चासि । उक्तिचणं च ते वचः, रस आत्मा, रोमाणि छन्दांसि, प्रश्नोत्तर-प्रवह्लिकादिकं च वाक्केलिः, अनुप्रासोपमादयश्च त्वामलंकुर्वन्ति, भविष्यतोऽर्थस्याभिधात्री श्रुतिरपि भवन्तमभिष्टौति" ।

शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं, संस्कृत भाषा उसका मुख है, प्राकृत-भाषा उसका हाथ है, पैशाची भाषा उसका पैर है, मिश्र भाषा उसका वक्षस् है, समता, प्रसन्नता, मधुरता, उदारता और ओजस्विता उसके गुण हैं, उसकी वाणी विदग्ध है, रस उसकी आत्मा है, छन्द उसके रोयें हैं, प्रश्नोत्तर, पहेली आदि उसके वाग्विनोद हैं, अनुप्रास, उपमा आदि उसे अलंकृत करते हैं, भावी अर्थ का बोधक वेद उसका स्तावक है ।

वाग्देवी के इन शब्दों में 'अनुप्रासोपमादयश्च त्वामलंकुर्वन्ति' यह शब्द नितान्त साभिप्राय है । इस उक्ति से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि काव्य में चाहे कितनी भी रमणीयता क्यों न हो पर उसे भी अलंकारों की अपेक्षा होती है जैसे किसी नववयस्का रमणी के सहज सुन्दर वदन में उसके मनोरम परिधानों और लुभावने अलंकारों से एक अपूर्व मोहकता आ जाती है ठीक उसी प्रकार निसर्ग सुन्दर काव्य में भी शब्द और अर्थ के अलंकारों से एक लोकोत्तर कमनीयता और असदृश आस्वाद्यता प्राप्त हो जाती है । यही कारण है जिसमें काव्य के मर्मज्ञ मनीषियों ने काव्यालंकारो का परिचय देने के लिये अनेक अलंकार-ग्रन्थों की रचना की है । ऐसे ग्रन्थों में अपनी अमरवाणी से पीयूष की वर्षा करनेवाले जयदेव के चन्द्रालोक का एक विशिष्ट स्थान है । इस ग्रन्थ में संक्षिप्त किन्तु सुबोध और सुन्दर शब्दों में अलंकारों के लक्षण और उदाहरण इतने अच्छे ढंग से समझाये गये हैं जिससे सुकुमारमति अध्येता भी थोड़े ही श्रम और समय में उसका समीचीन परिचय प्राप्त कर सकते हैं । पर समय के प्रवाह ने मनुष्य की प्रकृति और प्रवृत्ति में इतना अधिक परिवर्तन

जा दिया है कि पाठकों के लिये ऐसे सुबोध ग्रन्थ की भी व्याख्या अपेक्षित होने लगी। फलतः अनेक अलंकारवेदी साहित्यकोविदों ने चन्द्रालोक की अनेक व्याख्यायें लिख डालीं जिससे पाठकगण लम्बे समय से लाभान्वित हो रहे हैं। किन्तु जो व्याख्यायें अब तक मेरे समक्ष आयीं उनके देखने से ऐसा लगा कि कुछ में तो कई स्थानों में अनपेक्षित विस्तार है, निष्प्रयोजन वाग-डम्बर है और कुछ में कई स्थानों में अत्यावश्यक प्रतिपादन की भी कमी है। यह भी देखने में आया कि व्याख्याकारों ने काव्य के समग्र विद्यास्थानों के आयतनत्व को उतना ध्यान में नहीं रखा जितना इस ग्रन्थ की व्याख्या के लिये अपेक्षित था। यह भी देखने को मिला कि जहाँ भाषा की सरलता और प्राञ्जलता की रक्षा का प्रयास किया गया है वहाँ विषय की शुद्धता और स्पष्टता कुछ तिरोहित सी हो गयी है और जहाँ विषय के विशुद्ध प्रतिपादन को लक्ष्य किया गया है वहाँ भाषा अपने प्रसाद और गतिशीलता को खो बैठी है। इन बातों को देख कर मैंने चन्द्रालोक की एक ऐसी व्याख्या, जिसमें यह सब न्यूनतायें न हों, लिखी जाने की आवश्यकता समझ अपने सहयोगी श्रीसुबोधचन्द्र पन्त, एम० ए० साहित्याचार्य, सहायक छात्रसंरक्षक, संस्कृत-विश्वविद्यालय वाराणसी को इस कार्य के लिये चुना और एतदर्थ उनकी अभ्यर्थना की। श्री पन्त संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेजी के अच्छे विद्वान् हैं। झाँसी की रानी पर इन्होंने संस्कृत में एक उत्तम काव्य ग्रन्थ की रचना की है, तथा नैषध चरित का हिन्दी पद्यों में हृदय-स्पर्शी अनुवाद किया है। गद्य-पद्य दोनों ही प्रकार की रचनाओं में इनकी लेखनी अनलस और दक्ष है। चन्द्रालोक की यह व्याख्या जो संस्कृत एवं हिन्दी के संक्षिप्त वाक्यों में श्री पन्त ने प्रस्तुत की है अत्यन्त सुस्पष्ट और प्रामाणिक है। इसमें कहीं भी भाषा का अनावश्यक विस्तार नहीं है और न कहीं भाषा के प्रयोगकार्पण्य के कारण भाव प्रकाशित होने से वंचित रहने पाया है। शास्त्रान्तर के विषय भी जहाँ कहीं आये हैं, बड़ी शुद्धता और स्पष्टता से प्रतिपादित हुये हैं। मेरे देखने में तो शब्द और अर्थ से समीचीन सहप्रयोग से यह व्याख्या साहित्य की एक सुन्दर पुस्तक बन

गई है। मुझे विश्वास है कि इस व्याख्या को एक बार देख लेने के बाद अध्येता इसकी विशिष्टता और गुणगरिमा के कारण इसकी ओर स्वयं आकृष्ट होंगे। मैं इने गिने दिनों मे ही चन्द्रालोक जैसे महत्त्वपूर्ण लोकप्रिय ग्रन्थ की ऐसी सुन्दर व्याख्या लिखने के निमित्त श्री पन्त को धन्यवाद देता हूँ और अलंकार के जिज्ञासुओं—विशेषेण चन्द्रालोक के अध्येताओं की ओर से कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

बदरीनाथ शुक्ल

विषय-सूची

छठा मयूख

सातवाँ मयूख

आठवाँ मयूख

जयदेव तथा चन्द्रालोक

प्रस्तुत अलङ्कार-ग्रन्थ "चन्द्रालोक" के रचयिता जयदेव हैं[1]। इनकी माँ का नाम सुमित्रा था जो पति-भक्ति-परायण थीं। पिता का नाम महादेव था। वे सत्रादि यज्ञों में अत्यन्त दक्ष थे।[2] इनका उपनाम पीयूष-वर्ष[3] या सूक्ति-पीयूष-वर्ष[4] था। गागा भट्ट ने चन्द्रालोक की राकागम टीका में बताया है कि पीयूष-वर्ष इनका दूसरा नाम[5] था। इनका गोत्र कौण्डिन्य[6] था और ये कुण्डिन (विदर्भ) के निवासी थे। अलङ्कार-ग्रन्थ के लेखक

१— अनेनामानाय सुकविजयदेवेन रचिते
चिरं चन्द्रालोके सुखयतु मयूखः सुमनसः ॥
(१।१६ तथा इसी प्रकार चन्द्रालोक के प्रत्येक मयूख के अन्त में)

२— महादेवः सत्रप्रमुखमखविद्यैकचतुरः (वही)
सुमित्रा तद्भक्तिप्रणिहितमतिर्यस्य पितरौ ।
जयन्ति याज्ञिकश्रीमन्महादेवाङ्गजन्मनः । (वही १।६)

३— चन्द्रालोकमयं स्वयं वितनुते पीयूषवर्षः कृती ॥ (वही १।२)
पीयूषवर्षप्रभवं चन्द्रालोकमनोहरम् । (वही १०।५)

४— सूक्तिपीयूषवर्षस्य जयदेवकवेर्गिरः ॥ (१०।६)

५— पीयूषवर्षनामा कवि.। (राकागम १।२)
जयदेवस्यैव पीयूषवर्ष इति नामान्तरम् । (वही १०।६)

६— कवीन्द्रः कौण्डिन्यः········ जयदेवः । (प्रसन्न-राघव १।१४)

होने के कारण ये आलङ्कारिक तो थे ही, कवि, विद्वान्[८] और तार्किक[९] भी थे। इनकी दूसरी रचना "प्रसन्न-राघव" नाटक है। दोनों ग्रन्थों में माता-पिता के साथ लेखक का नाम आने से दोनों जयदेवों के एक होने में कोई संशय नहीं रह जाता[१०]। शेष १४ जयदेव इनसे भिन्न हैं। इन १५ जयदेव-नामक लेखकों का उल्लेख जर्मन विद्वान् औफ्रेक्ट ने "केटलागोरस केटलागोरम" नामक ग्रन्थ-सूची में किया है। विद्वानों ने इन जयदेवों में से किन्हीं दो-दो को लेकर एक सिद्ध करने की कोशिशें की हैं पर उनका आधार प्रामाणिक नहीं है[११]। दूसरे अधिक प्रसिद्ध जयदेव गीत-गोविन्द के रचयिता हैं जो माता और पिता का नाम भिन्न होने से स्पष्ट रूप से इस ग्रन्थ के रचयिता से भिन्न हैं[१२]। तीसरे प्रसिद्ध जयदेव पक्षधर जयदेव हैं पर उनका समय ई० १४६४ (लक्ष्मण संवत्

७— वही।
येषां कोमलकाव्यकौशलकलालीलावती भारती। (वही १।१८)
सुकविजयदेवेन रचिते।
(चन्द्रालोक १।१६ तथा इसी प्रकार चन्द्रालोक के प्रत्येक मयूख के अंत में)

८—पीयूषवर्षः कृती। (चन्द्रालोक १।२)

९— ननु अयं प्रमाणप्रवीणोऽपि श्रूयते।
तेषां कर्कशतर्कवक्रवचनोद्गारेऽपि किं हीयते। (प्रसन्न-राघव १।१८)

१०— श्रवणयो।
रयासीदातिथ्यं न किमिहमहादेवतनयः।
सुमित्राकुक्षिजन्मनः। (वही। प्रस्तावना तथा १४।१५)

११— वटुकनाथ शर्मा (पीयूषवर्षो जयदेवः पृष्ठ ८-१०)
सुशीलकुमार दे (संस्कृत पोइटिक्स पृष्ठ ६५)

१२— श्रीभोजदेवप्रभवस्य रामादेवीसुतश्रीजयदेवकस्य (गीतगोविन्द १२।१२)

२४५)[१३] होने से तेरहवी शताब्दी के पीयूप-वर्ष जयदेव से वे भिन्न हैं।

जयदेव ने अपनी रचनाओं में कहीं न तो अपने समय का उल्लेख किया है और न पूर्व-वर्त्ती आलङ्कारिकों या कवियों के नाम ही दिये हैं। इन्होंने मम्मट की काव्य परिभाषा[१४] का उपहास किया है[१५]। श्री-हर्ष के एक श्लोक[१६] के कुछ शब्द इन्होंने प्रायः अविकल रूप से उद्धृत किये हैं[१७] और हर मयूख का अन्तिम श्लोक श्री-हर्ष के नैषध-चरित के हर सर्ग के अंतिम श्लोक की अनुकृति पर लिखा है। यह संभव नहीं है कि श्री-हर्ष-जैसा महान् कवि जयदेव की नकल करे। इन्होने रुय्यक का अनुकरण अलङ्कार-परिभाषाओ मे किया है। "विकल्प" और "विचित्र" अलङ्कार के प्रथम उद्भावक रुय्यक माने जाते हैं जिसका समर्थन जयरथ करते हैं।[१८] इन्हीं दो अलङ्कारो की परिभाषाओं की तुलना करने पर

१३– बाणैर्वेदयुतैः सशंभुनयनैः संख्यां गते हायने
श्रीमद्गौडमहीभृतो गुरुदिने मार्गे न पक्षे सिते।
(पक्षधर जयदेव का हस्त-लिखित विष्णु-पुराण)

१४– अनलङ्कृती (काव्य-प्रकाश १। कारिका ४)

१५– अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलङ्कृती॥ (चन्द्रालोक १।८)

१६– साहित्ये सुकुमारवस्तुनि दृढन्यायग्रहग्रन्थिले
तर्के वा मयि संविधातरि समं लीलायते भारती।

१७– येषां कोमलकाव्यकौशलकलालीलावती भारती
तेषां कर्कशतर्कवक्रवचनोद्गारेऽपि किं हीयते
(प्रसन्न-राघव १।१८)

१८– अनेनास्य ग्रन्थकृदुपज्ञत्वमेव दर्शितम्।
(अलङ्कार-सर्वस्व की विमर्शिनी टीका)

जयदेव का अनुकरण सिद्ध हो जाता है।[19] इन तीनों का समय क्रमशः ई० १०५० से ११००, १२ वीं शताब्दी का उत्तरार्ध तथा ई० ११३५ से ११५० होने से जयदेव १२ वीं शताब्दी के बाद के सिद्ध होते हैं।

विश्व-नाथ ने जयदेव का एक श्लोक[20] उद्धृत किया है। शार्ङ्गधर ने कई श्लोक[21] उद्धृत किये है। शिङ्ग-भूपाल ने जयदेव के दो

१९– तुलना करे :—

तुल्यबलविरोधी विकल्पः। (अलङ्कार-सर्वस्व ६४)

विकल्पस्तुल्यबलयोर्विरोधश्चातुरीयुतः (चन्द्रालोक ५।९६)

स्वविपरीतफलनिष्पत्तये प्रयत्नो विचित्रम्। (अलङ्कार-सर्वस्व ४७)

विचित्रं चेत्प्रयत्नः स्याद् विपरीतफलप्रदः। (चन्द्रालोक ५।८२)

२०– कदली कदली करभः करभः करिराजकरः करिराजकरः।
भुवनत्रितयेऽपि बिभर्ति तुलामिदमूरुयुगं न चमूरुदृशः॥
(प्रसन्न-राघव १।३७ तथा साहित्य दर्पण ४।३)

२१– अपि मुदमुपयान्तो वाग्विलासैः स्वकीयैः
परभणितिषु तोषं यान्ति सन्तः कियन्तः।
निजघनमकरन्दस्यन्दपूर्णालवालः
कलशसलिलसेकं नेहते किं रसालः॥
(प्रसन्न-राघव १।६ तथा शार्ङ्गधर-पद्धति १६४

विनैवाम्भोवाहं बहुलरुचिलिप्ताम्बरतलात्
तडिल्लेखा हेमद्युतिविततिरम्या विलसति।
विनैवस्वर्गङ्गां नभसि रभसोन्मुद्रशफरी
परीवर्त्तैः साकं स्फुरति नवनीलोत्पलवनम्॥
(प्रसन्न-राघव १।३३ तथा शार्ङ्गधर-पद्धति ३५२०)

शार्ङ्गधर-पद्धति ३५५७, ३६२६ तथा ३६३१ और प्रसन्न-राघव २।२२, ७।५९ तथा ७।६० देखें।

प्रिंटिंग प्रेस से हुआ है। इनके पिता का नाम महादेव और माता का नाम वेणी था। मिताक्षरा के व्यवहाराध्याय की टीका में इनकी माँ का नाम उमा मिलता है। इनकी पत्नी का नाम लक्ष्मी था जिनके नाम पर मिताक्षरा के व्यवहार-अध्याय की इनकी टीका का नाम लक्ष्मी भी है। कुवलयानन्द की अलङ्कार-चन्द्रिका टीका के लेखक वैद्यनाथ तत्सत् इनसे भिन्न हैं। इनके गुरु प्रसिद्ध वैयाकरण नागेश भट्ट थे। यह टीका अनेक बार छप चुकी है।

उक्त टीका के अतिरिक्त इन्होंने निम्नलिखित ग्रन्थ लिखे हैं :—

१. कला—यह नागेश-रचित वैयाकरण-सिद्धान्त-मध्य-मञ्जूषा-नामक व्याकरण ग्रन्थ की टीका है जिसकी रचना विक्रम संवत् १८१२ (ई० १७५६) में हुई थी।
२. अर्थ-संग्रह—यह व्याकरण का ग्रन्थ है।
३. छाया—यह व्याकरण-ग्रन्थ महाभाष्य (प्रदीप-उद्योत) के प्रथम आह्निक की टीका है।
४. परिभाषेन्दु-शेखर-टीका (कला-कुञ्जिका च) यह व्याकरण-ग्रन्थ की टीका है।
५. परिभाषेन्दु-शेखर-संग्रह—यह व्याकरण-ग्रंथ है।
६. भक्ति-तरङ्गिणी।
७. भूषण-टीका—यह व्याकरण-ग्रन्थ की टीका है।
८. र-प्रत्याहार-खण्डन—यह व्याकरण-ग्रन्थ है।
९. शुद्ध-शब्द-रत्न-शेखर—यह व्याकरण-ग्रंथ है।
१०. कला—यह व्याकरण-ग्रन्थ वैयाकरण-सिद्धान्त-मञ्जूषा की टीका है।
११. प्रभा यह व्याकरण-ग्रन्थ शब्द-कौस्तुभ की टीका है।
१२. भाव-प्रकाश—यह व्याकरण-ग्रन्थ लघु-शब्द-रत्न की टीका है।
१३. चिदस्थि-माला—यह व्याकरण-ग्रन्थ लघु-शब्देन्दु-शेखर की टीका है
१४. सर्व-मङ्गला टीका।

१५. बालम्भट्टी (लक्ष्मी)—यह धर्म-शास्त्र-ग्रन्थ मिताक्षरा के व्यवहार-अध्याय की टीका है।

१६. पराशर-स्मृति-टीका—यह धर्म-शास्त्र ग्रन्थ की टीका है।

१७. भरद्वाज-स्मृति-टीका—यह धर्म-शास्त्र के ग्रन्थ की टीका है।

३. राकागम—इसके लेखक गागा भट्ट हैं। इनका दूसरा नाम विश्वेश्वर था। इनके पिता का नाम दिवाकर भट्ट और चाचा का (नाम) कमलाकर भट्ट था जो निर्णय -सिन्धु ग्रन्थ के लेखक हैं। इन्होने चन्द्रालोक की ही एक दूसरी टीका "वाजचन्द्र-चन्द्रिका भी लिखी है। इनका जन्म ई० १६२० मे काशी मे हुआ था। इन्होंने ई० १६७४ मे महाराज शिवा जी का राज्याभिषेक कराया था। इनकी मृत्यु ई० १६८५ में हुई। टीका का दूसरा नाम सुधा है और यह विद्वत्ता-पूर्ण है। इसका प्रकाशन ई० १९३८ में चौखम्भा संस्कृत सीरिज स० ४५८ और ४५९ में हुआ है।

सके अलावा इनके लिखे ग्रन्थ निम्न-लिखित हैं :—

१. आपस्तम्ब-पद्धति —यह धर्म-शास्त्र का ग्रन्थ है।

२. अशौच-दीपिका—यह धर्म-शास्त्र का ग्रन्थ है।

३. कायस्थ-दीपक —यह ग्रन्थ ई० १६७७ में रचा गया।

४. जाति-विवेक —यह धर्म-शास्त्र का ग्रन्थ है।

५. तुला-दान-प्रयोग —यह धर्म-शास्त्र का ग्रन्थ है।

६. दिनकरोद्योत —यह धर्म-शास्त्र का ग्रन्थ है।

७. निरूढ-पशु-बन्ध-प्रयोग —यह धर्म-शास्त्र का ग्रन्थ है।

८. पिण्ड-पितृ-यज्ञ-प्रयोग —यह धर्म-शास्त्र का ग्रन्थ है।

९. प्रयोग-सार।

१०. भाट्ट-चिन्तामणि —यह जैमिनीय-सूत्र की टीका है।

११. सुज्ञान-दुर्गोदय।

१२. समय-नय—इसकी रचना शंभु-राज के लिये ई० १६८१ में की गई थी।

१३. सापिण्ड्य-विचार—यह धर्म-शास्त्र का ग्रन्थ है ।

१४. मीमासा-कुसुमाञ्जलि—यह मीमांसा का ग्रंथ है ।

१५. शिवार्कोदय ।

१६. श्लोक-वार्त्तिक-टीका ।

४. शारद-शर्वरी—इसके लेखक का नाम विरूपाक्ष है । अन्य विवरण नहीं मिलता । यह छपी नहीं है ।

५. चन्द्रालोक-दीपिका—विवरण नहीं मिलता । यह छपी नहीं है ।

६. निगूढार्थ-दीपिका—विवरण नहीं मिलता । यह छपी नहीं है ।

७. वाजचन्द्र-चन्द्रिका—इसके लेखक राकागम-टीका (क्रम सं० ३) के लेखक गागा भट्ट ही हैं । टीका का नाम अपने आश्रय-दाता वाज-चन्द्र-नामक राजा के नाम पर रखा गया है । यह टीका छपी नहीं है । इसकी हस्त-लिखित प्रति जयपुर-नरेश के पुस्तकालय में है ।

पूर्व-प्रकाशित आधुनिक टीकायें

चन्द्रालोक की निम्न-लिखित आधुनिक टीकाये मिलती हैं :—

१. पौर्णमासी कथाभट्टीया—ये दो टीकायें नन्दकिशोर शर्मा ने लिखी हैं और क्रमशः संस्कृत और हिन्दी में हैं । पहली टीका ई० १८७७ (संवत् १९३४) व दूसरी (टीका) ई० १९४० में लिखी गई है । इनका प्रकाशन हरिदास-संस्कृत-ग्रन्थ माला की क्रम-संख्या ५७ में हुआ है ।

२. अंग्रेजी अनुवाद और अंग्रेजी टीका (केवल मयूख ५)—यह सी० शंकर-राम शास्त्री की कृति है । इसका प्रकाशन ई० १९३६ में बाल-मनोरमा सीरिज संख्या २६ में हुआ है ।

३. चन्द्रिका—यह संस्कृत-हिन्दी टीका गौरीनाथ शर्मा ने लिखी है । इसका प्रकाशन ई० १९५४ में मास्टर-मणि-माला संख्या २४२ में हुआ है ।

४. **सुधा** (केवल मयूख ५)— इस हिन्दी-टीका के लेखक गुरु-प्रसाद शास्त्री और संपादक विश्वम्भर नाथ त्रिपाठी हैं। इसकी रचना सं० २०१८ (ई० १९६१) में की गई है तथा प्रकाशन विश्वविद्यालय-प्रकाशन के द्वारा हुआ है।

चेन्नपुरी से बुधरञ्जनी-नामक संस्कृत टीका के साथ चन्द्रालोक का प्रकाशन हुआ है, पर नाम भ्रामक है। वह टीका कुवलयानन्द की है न कि चन्द्रालोक की।

ॐ

पीयूषवर्षजयदेवविरचितः

चन्द्रालोकः

प्रथमो मयूखः

उच्चैरस्यति मन्दतामरसतां जाग्रत्कलङ्कैरव-
ध्वंसं हस्तयते च या सुमनसामुल्लासिनी मानसे।
दुष्टोद्यन्मदनाशनार्चिरमला लोकत्रयीदर्शिका
सा नेत्रत्रितयीव खण्डपरशोर्वाग्देवता दीव्यतु ॥ १ ॥

पीयूषवर्षापरनामधेयेन जयदेवेन विरचितोऽयं ग्रन्थश्चन्द्रालोकनामा। चन्द्रस्यालोकश्चन्द्रालोकः। प्रथमो मयूखोऽध्यायः। मयूखः किरण-वाचकोऽध्यायरूपेऽर्थे प्रयुक्तो मनोज्ञतामावहति।

उच्चैरिति—या (वाग्देवता)। **सुमनसां** सज्जनानाम्। शोभनं मानसं येषां तेषाम् **मानसे** हृदये। उल्लासिनी उल्लसनशीला। **दुष्टानां** खलानां च **उद्यन्** प्रादुर्भवन् **मदः** पाण्डितंमन्यता तस्य **नाशनं** नाशकमर्चिर्ज्वाला। **अमला** दोषरहिता। लोकत्रय्या दर्शिका। करतलामलकवत् सर्वं दर्शयित्री। **मन्दताम्** अल्पज्ञताम्। **अरसतां** रसहीनताम्। च। **उच्चैर्बहु**। **अस्यति** तिरस्करोति नाशयतीति यावत्। **जाग्रत्कलङ्कैः** जाग्रतो विद्यमानाश्च ते कलङ्काश्च। **तैर्** हेतुभिः। कर्मधारयः। जाग्रतः कलङ्का येषां तैर्बहुव्रीहिर्वा। **अवध्वंसं** विनाशम्। **हस्तयते** दूरीकरोति। सा **वाग्देवता** वाचां वचनानां देवताधिष्ठात्री देवी सरस्वती। **खण्डपरशोः** खण्डो गदासुरयुद्धे भग्नः परशुः कुठारो यस्य तस्य महादेवस्य। **नेत्राणाम्** नयनानाम्। **त्रितयी** त्रयी। **इव**।

दीव्यतु चकास्तु। महादेवस्य नेत्रत्रय्यपि मन्दं च तत्तामरसं च। तस्य भावो **मन्दतामरसताम्**। **उच्चैरस्यति**। सूर्यात्मकत्वात्। दक्षिणं नेत्रं सूर्यरूपम्' वामं च चन्द्रात्मकं नेत्रं **जाग्रत्य**: स्फुरन्त्यः **कला** यस्मिन् कर्मणि तद्यथा स्यात्तथा। **कैरवध्वंसं कैरवाणां** कुमुदाना ध्वंसं नाशं **हस्तयते** निवारयति। **सुमनसां** देवाना सज्जनानां वा **मानसे उल्लासिनी**। या **दुष्टः उद्यन् पुरः** आगच्छन् यो **मदनः** कामः सः एव **अशनं** भोजनं यस्य तत् **अर्चिः** ज्वाला। अग्निमयमिदं तृतीयं नेत्रं ललाटस्थितम्। पुरा हरस्तपोभङ्गकारणं मदनं ललाटस्थितेन चक्षुषा भस्मीचकारेति प्रसिद्धम्। **अमला** विमला। **लोकत्रयीदर्शिका** भूर्भुवःस्वर्लोकान् दर्शयित्री। वाग्देवी स्वयं बोधमयी लोकत्रय बोधयति यथा शिवनेत्राणि स्वयं द्युतिशालीनि लोकत्रयं द्योतयन्ति। श्लेषानुप्राणिता शाब्दी पूर्णोपमा। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्॥१॥

पीयूषवर्ष जयदेव-विरचित चन्द्रालोक। प्रथम मयूख। सज्जनों के मन में उल्लास प्राप्त करने वाली, दुष्टों के प्रगट हो रहे गर्व की नाशक ज्वाला (स्वरूप), निर्मल और तीनो लोकों का दर्शन कराने वाली जो सरस्वती मूर्खता, नीरसता तथा (मानवों में) विद्यमान कलङ्कों (या कलङ्की लोगों के कारण प्राप्त नाश) को दूर करती है, वह शम्भु के उस नेत्र-त्रय की भाँति शोभित हो जो कमल की मलिनता दूर करता है, जागरूक हो रही कलायें लेकर कुमुदों के नाश को निवारित करता है देवताओं या पुण्यात्माओं के हृदय में उल्लसित होता है एवं दुष्ट तथा उद्यत हो रहे कामदेव को खाने वाली लपट, निर्मल तथा तीनो लोकों का दर्शन कराने वाला है॥१॥

[यहाँ शब्द-श्लेष के चमत्कार से उपमेय सरस्वती के विशेषण, दूसरा अर्थ देकर उपमान महादेव के भी विशेषण बन जाते हैं और उपमा पूर्ण हो जाती है। शिव जी के तीन नेत्र हैं जिनमें से दाहिना सूर्य, बायाँ चन्द्र और तीसरा ललाट-स्थित अग्नि है। सूर्य मन्द-तामरसता अर्थात् तामरस-मन्दता दूर करता है, चन्द्र जाग्रत्कल रूप से (क्रिया विशेषण। जागरूक कलायें लेकर) कैरवों का ध्वंस (मुरझाना) दूर करता है और अग्नि-स्वरूप नेत्र मदन-भक्षक ज्वाला है। ये तीनों नेत्र लोक-त्रय को प्रकाशित करते हैं। यह पद्य मङ्गलाचरण के

लिये है। "आशीर्नमस्क्रिया वस्तु-निर्देशो वापि मङ्गलम्" के अनुसार यह मङ्गल (ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के लिये) आशीर्वाद, वन्दना तथा वस्तु का निर्देश हैं। यहाँ वाग् (देवता) रूपी वस्तु के निर्देश से वस्तु-निर्देशात्मक मङ्गल है। "दीव्यतु" के पूर्व "विद्वद्वदनेषु" (विद्वानों के मुख मे) का अध्याहार कर लेने पर आशीर्वादात्मक मङ्गल हो जाएगा और "दीव्यतु" को "काव्यप्रकाश" के मङ्गल-श्लोकस्थ "जयति" की तरह मानकर "नमस्कार" अर्थ ग्रहण करने से नमस्कारात्मक मङ्गल भी हो सकता है।

ग्रन्थ का नाम "चन्द्रालोक" (चाँदनी) है। नाम की संगति बैठाने के लिये अध्यायो के नाम "मयूख" (किरण) दिये है। यह रीति मनोहर है ॥१॥]

हं हो चिन्मयचित्तचन्द्रमणयः संवर्धयध्वं रसान्
रे रे स्वैरिणि निर्विचारकविते मास्मत्प्रकाशीभव।
उल्लासाय विचारवीचिनिलयालङ्कारवारांनिधे-
श्चन्द्रालोकमयं स्वयं वितनुते पीयूषवर्षः कृती ॥ २ ॥

हमिति। हं हो। हम् अनुनये। हो सम्बोधने। हे हे। चिन्मयानि चैतन्यबहुलानि चित्तानि अन्तःकरणानि एव चन्द्रमणयः चन्द्रकान्ताख्याः मणयः। यूयम्। रसान् जलानि काव्यरसान् वा। संवर्धयध्वम् वृद्धिं नयध्वम्। चन्द्रकान्तमणयः चन्द्रप्रकाशेन जलं पातयन्ति इति कविसमयः। रे रे अनादरे। सम्बोधनार्थकमव्ययपदद्वयम्। स्वैरिणि स्वेच्छाचारिणि औचित्यरहिते निर्विचारा विचारपूर्वकं न निबद्धा च सा कविता च। तत्सम्बोधने। मा निषेधे। न इति यावत्। अस्मत्प्रकाशा अस्मत्तः प्रकाशः उत्पत्तिः यस्याः सा। अनस्मत्प्रकाशा अस्मत्प्रकाशा सम्पद्यस्व इति। अन्यत्र स्वैरिणि कृष्णाभिसारिके। मा न। अस्मत् अस्माकं सकाशात् प्रकाशीभव। निःसरेत्यर्थः। विचाराणां या वीचयः लहर्यः तेषां निलयः आश्रयभूतः यो अलङ्काराणां वारांनिधिः समुद्रस्तस्य उल्लासाय प्रसाराय। अयं प्रस्तुतः। कृती कुशलः। पीयूषं वर्षति इति पीयूषवर्षः। पीयूषवर्षापरनामधेयः जयदेवः। अन्यत्र चन्द्रः। स्वयं साक्षात्। चन्द्रालोकं चन्द्रालोकाख्यम् अलङ्कारशास्त्रम्। अन्यत्र चन्द्रस्य आलोकं चन्द्रिकाम्। वितनुते प्रकटीकरोति। रूपकपरम्परितरूपकसंसृष्ट्यलङ्काराः। (शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्) ॥२॥

हे चेतनमय चन्द्रकान्त मणियो, रसों की वृद्धि करो। अरी स्वेच्छाचारी, विचार-पूर्वक न रची गई कविता, मुझसे तेरा जन्म न हो ('या मेरे सामने मत आ)। यह निपुण साक्षात् पीयूषवर्ष (जयदेव) विचार-लहरों के आगार अलङ्कार-सागर मे ज्वार लाने के लिये चन्द्रालोक की सृष्टि कर रहा है ॥२॥

[कवि-समय है कि चाँदनी के निकलने पर चन्द्रकान्त मणियाँ जल बहाती हैं, स्वेच्छाचारिणी अभिसारिकाओ का मार्ग प्रकाश के कारण अवरुद्ध हो जाता है और समुद्र मे ज्वार आ जाता है। उसी प्रकार इस अलङ्कार-ग्रन्थ चन्द्रालोक के प्रकाशित होने पर चेतनमय चित्त नव रसों की वृद्धि करे, स्वेच्छाचारी और विचार-रहित कविता सामने से न निकले तथा विचारो के आकर अलङ्कार-शास्त्र की वृद्धि हो ॥२॥]

युक्त्यास्वाद्यलसद्रसैकवसतिः साहित्यसारस्वत-
क्षीराम्भोधिरगाधतामुपदधत्सेव्यः समाश्रीयताम्।
श्रीरस्मादुपदेशकौशलमयं पीयूषमस्माज्जग-
ज्जाग्रद्भासुरपद्मकेशरयशःशीतांशुरस्माद्बुधाः ॥ ३ ॥

युक्त्येति। युक्त्या प्रमाणैः। आस्वाद्यः आस्वादनयोग्यः। लसन्तः शोभमानाः ये रसाः तेषाम् एका केवला वसतिः आश्रयस्थानम्। अगाधतां गम्भीरताम्। उपदधत् धारयन्। साहित्यात्मकं सारस्वतं शास्त्रम्। तदेव क्षीराम्भोधिः क्षीरसागरः। सेव्यः सेवनीयः। तत्फलमाह। (हे) बुधाः विद्वांसः देवाः वा। अस्मात् श्रीः लक्ष्मीः। अस्मात् उपदेशकौशलमयं शिक्षा-नैपुण्यात्मकम्। पीयूषं सुधा। अस्माच्च जाग्रत् विकसितं भासुरं देदीप्यमानं पद्मकेशरवत् कमलकिञ्जल्कवत् यशःकीर्तिः एव शीतांशुः चन्द्रः। समाश्रीयताम् प्राप्यताम्। रूपकालङ्कारः ॥३॥

हे विद्वानो (देवताओ), प्रमाणों के कारण आस्वादन-योग्य, शोभित हो रहे रसों का एकमात्र स्थान, गम्भीरता धारण करने वाला, साहित्य-शास्त्र-रूपी क्षीर-सागर अपनाने-योग्य है। इससे (प्राप्त होने वाली) लक्ष्मी (धन या

लक्ष्मी देवी), शिक्षा-निपुणता-रूपी अमृत तथा विकसित हो रहे और दीप्त कमल-केशर-तुल्य यश-चन्द्र की प्राप्ति करें ॥३॥

[भाव यह है कि साहित्य-शास्त्र प्रमाणों के कारण आस्वादन-योग्य, शोभित, नव रसों का घर, गंभीरता धारण करने वाला, सम्पत्ति, शिक्षा-निपुणता तथा उज्ज्वल यश की प्राप्ति कराने वाला तथा विद्वज्जन-सेव्य है, जिस प्रकार कौशल-पूर्वक आस्वादन-योग्य शोभित रस (अमृत या दुग्ध) का आश्रय-स्थान, गम्भीर, लक्ष्मी देवी, अमृत तथा चन्द्रमा की प्राप्ति कराने वाला क्षीरसागर सुर-गण-सेवनीय है ॥३॥]

तं पूर्वाचार्यसूर्योक्तिज्योतिस्तोमोद्गमं स्तुमः ।
यं प्रस्तूय प्रकाशन्ते मद्गुणास्त्रसरेणवः ॥ ४ ॥

तमिति । तं प्रसिद्धम् । **पूर्वे** प्राचीनाः ये **आचार्याः** भरतानन्दवर्धन-मम्मटादयः । तेषां सूर्यतुल्या उक्तिः । सा एव **ज्योतींषि** प्रकाशाः । तेषां **स्तोमः** पुञ्जः । तस्य **उद्गमम्** उद्भवस्थानम् । **स्तुमः** नुमः । **यम्** उद्भवस्थानम् । **प्रस्तूय** आश्रित्य । मम **गुणाः** एव **त्रसरेणवः** षट्परमाणवः । ते **प्रकाशन्ते** दीप्यन्ति नयनगोचरीभवन्ति इति यावत् । रूपकालङ्कारः । अनुष्टुप् छन्दः ।। ४ ।।

मैं प्राचीन आचार्यों की सूर्य-तुल्य उक्ति के (= रूपी) प्रकाश पुञ्ज-उद्गम की स्तुति करता हूँ जिसका सहारा लेकर मेरे गुण के त्रसरेणु प्रकाशित होते हैं ॥ ४ ॥

[यहाँ लेखक श्रीजयदेव ने विनम्रता दिखाते हुए अपनी शालीनता प्रगट की है और पूर्वाचार्यों को प्रणाम करते हुये कहा है कि मेरे गुण ऐसे तुच्छ हैं जैसे सूर्य के सामने त्रसरेणु जो दृष्टिगोचर तभी होते हैं जब सूर्य की किरणें उन्हें प्रकाशित करती हैं।

यहाँ त्रसरेणु शब्द पारिभाषिक है। खिड़की से आती हुई सूर्य-किरणों में जो अत्यन्त सूक्ष्म कण उडते हुये दिखते हैं, वे छह परमाणुओं के बराबर और त्रसरेणु के नाम से प्रसिद्ध हैं ॥४॥]

नाशङ्कनीयमेतेषां मतमेतेन दूष्यते।
किं तु चक्षुर्मृगाक्षीणां कज्जलेनेव भूष्यते ॥ ५ ॥

नेति। एतेन जयदेवेन चन्द्रालोकेन वा। एतेषां विदुषाम्। मतं सिद्धान्तः। दूष्यते मलिनीक्रियते। इति (योज्यम्)। न आशङ्कनीयम्। इत्थंभूता शङ्का नोचिता। किं तु एतद्विपरीतम्। भूष्यते सवर्ध्यते। मृगाक्षीणा हरिणनयनानाम्। चक्षुः दृष्टिः। कज्जलेन नेत्ररञ्जनेन इव। उपमालङ्कारः ॥ ५ ॥

यह आशंका नही करनी चाहिये कि इस (जयदेव या चन्द्रालोक) के द्वारा इन (पूर्वाचार्यो) के सिद्धान्त दूषित किये जा रहे है; इसके विपरीत (यह मानना उचित है कि) वे भूषित किये जा रहे है, जिस तरह काजल के द्वारा मृग-नेत्रोके तुल्य नेत्रो वाली सुन्दरियों के नेत्र भूषित किये जाते हैं ॥५॥

[यह शङ्का की जा सकती है कि सूर्य के होते हुये त्रसरेणु की क्या आवश्यकता। अच्छी और महान् वस्तु के रहते हुये बुरी और लघु वस्तु भार-स्वरूप या दोष (-रूप) बन सकती है। इसके परिहार के लिये एक सुन्दर उपमा देते हुये लेखक का कथन है कि मृगनयनाओं के लोचनों के सामने काजल कुछ नहीं है पर शोभा मे चार चाँद लगा देता है; उसी प्रकार मेरी उक्तियाँ पूर्वाचार्यों के सिद्धान्तों की श्री-वृद्धि करेंगी ॥ ५ ॥

प्रतिभैव श्रुताभ्याससहिता कवितां प्रति।
हेतुर्मृदम्बुसम्बद्धा बीजमाला लतामिव ॥ ६ ॥

प्रतिभेति। श्रुतम् शास्त्रम्। अभ्यासः काव्यज्ञशिक्षा। पुनः पुनः अनुशीलनम् च। ताभ्या सहिता सार्धम्। प्रतिभा एव शक्तिविशेपमात्रम्। कवितां प्रति काव्ये। हेतुः कारणम्। मृत् मृत्तिका च। अम्बु वारि च। ताभ्यां सम्बद्धा युक्ता। बीजानां माला पङ्क्तिः। लताम् वल्लरीम् इव ॥६॥

काव्य का हेतु, शास्त्र और अभ्यास से युक्त प्रतिभा ही है, जिस प्रकार लता का हेतु मट्टी और पानी के सहित बीज हैं ॥ ६ ॥

[जिस प्रकार मट्टी, पानी और बीज—तीनो—मिलकर लता की उत्पत्ति में कारण बनते हैं (अकेले-दुकेले नहीं), उसी प्रकार शास्त्रों के पठन और

पाठन से युक्त प्रतिभा ही काव्य-निर्माण में कारण है। यहाँ प्रतिभा की प्रधानता और पठन-पाठन की गौणता स्पष्ट है। लता का प्रधान कारण बीज है और सहायक कारण हैं मट्टी और पानी। तीनो मिलकर ही दण्ड-चक्र-न्याय से लता की सृष्टि करते हैं। इनमे से एक भी निकाल दिया जाय तो सफलता नहीं मिलेगी। यही बात मम्मट भट्ट निम्न शब्दो मे कह चुके हैं :—

शक्तिर्निपुणता लोक-शास्त्र-काव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥

प्रतिभा ईश्वर-प्रदत्त शक्ति है। रुद्रट ने इसे शक्ति नाम देते हुये दूसरो के मत का आदर कर प्रतिभा-नाम से भी उल्लिखित किया है। रुद्र-कोष के अनुसार नवीन- नवीन उद्भावनाओ से सम्पन्न प्रज्ञा प्रतिभा है तथा प्रज्ञा के अन्य दो भेद बुद्धि तथा मति है जिनका प्रयोग क्रमशः तात्कालिक प्रज्ञा तथा भविष्यदर्शी प्रज्ञा के लिये होता है :—

बुद्धिस्तात्कालिकी ज्ञेया मतिरागामिगोचरा।
प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।

॥६॥]

निर्दोषा लक्षणवती सरीतिगुणभूषणा।
सालङ्काररसानेकवृत्तिर्वाक्काव्यनामभाक् ॥ ७ ॥

निर्दोषेति। निर्गताः दोषाः यस्याः सा। दोषरहिता। लक्षणानि अस्याः लक्षणवती लक्षणयुक्ता। रीत्या सह। गुणाः भूषणानि यस्याः। गुणयुक्ता। अलङ्कारैः रसैः अनेकाश्च ताः वृत्तयश्च ताभिः सह। अलङ्काररसवृत्तिसहिता। वाक् वाणी। काव्यस्य नाम सञ्ज्ञाम्। तद् भजति ॥ ७ ॥

दोष-रहित, लक्षण-सहित, रीति वाली, गुणों के गहनों और अलङ्कार, रस तथा अनेक वृत्तियों से युक्त वाणी काव्य-नाम धारण करती है ॥ ७ ॥

[दोष श्रुतिकटु, च्युतसंस्कृति आदि हैं जो पद, पदांश, वाक्य और तदर्थ रस में पाये जाते हैं। इनका वर्णन द्वितीय मयूख में आयेगा। लक्षण तृतीय मयूख में आये अक्षर-संहति आदि हैं। रीतियाँ पाञ्चाली, लाटी, गौड़ी और वैदर्भी हैं। गुण श्लेष, प्रसाद आदि हैं। अलङ्कार शब्दार्थ-गत अनुप्रास, उपमा आदिक हैं। रस शृङ्गार, हास्य आदि नौ हैं। काव्य से सम्बद्ध वृत्तियाँ तीन

प्रकार की हैं :—पहली नाटक में आती है जिसके चार भेद कैशिकी, सात्वती आरभटी और भारती है, दूसरी काव्य में आती है और यहाँ छठे मयूख में इसके मधुर आदि भेद बताये जायेंगे; तीसरी शब्दशक्तिरूप है जिसके भेद अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना है। व्याकरण मे समासादि वृत्तियाँ आती हैं पर काव्य में उनका विशेष प्रयोजन न होने से उनको सम्मिलित नही किया गया है।

वाणी को काव्य मानने से यहाँ शब्द की प्रधानता है। शब्द, अर्थ के मूल है और सार्थक शब्द ही काव्य मे प्रयुक्त होते है, अतः अर्थ का ग्रहण अपने आप हो जाता है। इस पर मीमांसा का सूत्र है : "औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः"।

मम्मट ने शब्द और अर्थ दोनो को काव्य माना है :—

तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि।

वे शब्द और अर्थ काव्य हैं जो दोप-रहित, गुण-युक्त और अलङ्कार-सहित होते हैं, यद्यपि कहीं-कहीं अलकार स्पष्ट नहीं दिखते। अलङ्कार के विषय में मीसांसा अगले श्लोक मे की जायेगी।

रसगङ्गाधरकार पण्डितराज जगन्नाथ भी शब्द को ही काव्य मानते हैं। उनके अनुसार रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य है :

"रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।"

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ के अनुसार रसात्मक वाक्य काव्य हैं; इसमें भो शब्द की ही प्रधानता है :

वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।

"चन्द्रालोक" का लक्षण बहुत विस्तृत और उत्तम काव्य पर ही घटित हो सकता है जिससे काव्य में अव्याप्ति का डर है। लक्षण, काव्यों के उदाहरणों को लक्ष्य कर बनाया जाता है। यदि रस, अलङ्कार, लक्षण, रीति अथवा वृत्ति कहीं न हो या स्पष्ट न भासित हो तो वहाँ काव्यत्व रहते हुये भी अकाव्यत्व मानना पड़ेगा। रसाभासात्मक या वस्त्वलङ्कार-प्रधान काव्य में रस न होने से चन्द्रालोक तथा साहित्य-दर्पण के लक्षण में अव्याप्ति-दोष आ जायेगा,

अतः यह मानना पड़ेगा कि ये लक्षण आदर्श काव्य के हैं; काव्य-मात्र के नहीं। "कविकर्म काव्यम्" (कवि का कार्य काव्य है) परिभाषा बहुत संक्षिप्त है जिससे पूरा बोध नहीं होता। अन्य अनेक परिभाषाएँ विद्वानों ने की हैं जो उतनी मान्य न होने से यहाँ नहीं दी जा रही हैं ॥ ७ ॥]

अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती ॥ ८ ॥

अङ्गीकरोतीति। **यः** कोऽपि। **अनलङ्कृती** अलङ्काररहितौ। **शब्दश्च** वाचकश्च **अर्थश्च** वाच्यश्च। **काव्यं** काव्यनामधेयौ। **अङ्गीकरोति** मन्यते। **असौ** सः। **कृती** कुशलः। उपहासाय प्रशंसाशब्दोऽयम्। **कस्मात्** केन कारणेन। **अनुष्णम्** तापरहितम्। **अनलम्** अग्निम् न **मन्यते** स्वीकरोति। मन्येतेति उचितम्। निदर्शनालङ्कारः ॥ ८ ॥

जो अलङ्कार-रहित शब्दार्थ को काव्य मानता है, वह निपुण व्यक्ति ताप-रहित को अग्नि क्यों नहीं मानता ॥ ८ ॥

[पूर्वाचार्य मम्मट भट्ट ने यद्यपि यह माना है कि सर्वत्र काव्य में अलङ्कार होते हैं, पर कहीं-कहीं वे स्पष्ट नहीं दिखते तो भी काव्यत्व की क्षति नहीं होती। पर, लक्षण में उन्होंने "अनलङ्कृती पुनः क्वापि" कह दिया है जो अपने में पूर्ण न होने से आलोच्य है। वहीं से "अनलङ्कृती" पद लेकर श्री जयदेव ने उपहास किया है जो पहले आये चतुर्थ तथा पंचम श्लोक की नम्रता भूलकर किया गया है।

"अनलङ्कृती पुनः क्वापि" के पूरक-रूप में वृत्ति देते हुए "क्वापीत्यनेन सदाह यत्सर्वत्र सालङ्कारौ क्वचित्तु स्फुटालङ्कारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः।" कहकर मम्मट ने स्पष्ट कर दिया है कि वे सालङ्कार शब्दार्थ को ही काव्य मानते हैं। साथ ही वे यह मानते हैं कि काव्य-वर्णन-भङ्गियाँ इतनी अधिक हैं कि उन तक कभी-कभी उनके लक्षणों की पहुँच नहीं हो पाती; लक्षण बनाना संभव नहीं है या इतने विस्तार से विशेष लाभ नहीं है।

यहाँ "कृती" शब्द प्रशंसा-वाचक होते हुए भी उपहासात्मक है, क्योंकि शेष वर्णन में यह कह दिया गया है कि उसे ताप-रहित को अग्नि मानना चाहिये या वह वैसा क्यों नहीं मान लेता।

लेखक अलंकार-वादी है और अलङ्कार की उपेक्षा सहन करने में असमर्थ है ॥ ८ ॥]

विभक्त्युत्पत्तये योग्यः शास्त्रीयः शब्द इष्यते ।
रूढयौगिकतन्मिश्रैः प्रभेदैः स पुनस्त्रिधा ॥ ९ ॥

विभक्तीति । **शास्त्रीयः** शास्त्रसम्बन्धी । **विभक्तीनां** सुपां तिङाम् । **उत्पत्तये** ग्रहणाय । **योग्यः** योग्यताम् आपन्नः (वर्ण-समुदायः) । **शब्दः इष्यते** इष्टः । मन्यते इति यावत् । यस्मात् सुप्तिङ्प्रत्ययाः कर्तुं शक्यन्ते स शब्दः इत्यर्थः । **सः** शब्दः । **पुनः** च । वाक्यालङ्कारो वा । रूढश्च यौगिकश्च तन्मिश्रश्च, योगरूढश्च । तैः **प्रभेदैः** भेदैः । त्रिधा त्रिप्रकारकः ॥९॥

उस (वर्ण-समुदाय) को शब्द माना जाता है जो शास्त्रीय और विभक्ति-प्रयोग के योग्य हो । वह रूढ, यौगिक और योगरूढ़ भेदों से तीन प्रकार का होता है ॥९॥

[विभक्तियाँ मुख्य रूप से दो प्रकार की होती हैं :—(१) सुप् जिनसे संज्ञा, सर्वनाम और विशेषण शब्दों से पद बनाये जाते हैं तथा (२) तिङ् जिनसे क्रियाओं से पद बनाये जाते हैं । वाक्य में शब्द तभी प्रयुक्त होता है जब उसमें विभक्तियाँ लगा दी जाती हैं ।

पण्डितराज जगन्नाथ ने रसगङ्गाधर में इनके स्थान पर केवल समुदाय-शक्ति, केवलावयवशक्ति तथा समुदायावयवोभयशक्ति नाम प्रयुक्त किये हैं ।

केवल समुदाय-शक्ति से अर्थ-बोधक शब्द रूढ़ होता है; जैसे डित्थ (एक नाम) । केवल अवयव-शक्ति से अर्थ-बोधक शब्द यौगिक होता है; जैसे पाचक, तथा समुदाय और अवयव दोनो की शक्ति से अर्थ-बोधक शब्द योग-रूढ़ होता है; जैसे पङ्कज । पहले उदाहरण में वर्ण-समुदाय-मात्र में एक अर्थ प्रसिद्ध हो गया है । दूसरे में उसके अवयव-रूप धातु और प्रत्यय जो जुड़े हैं, अलग करने पर अर्थ मिलता है और अन्तिम में "पङ्क" शब्द के समुदाय-शक्ति से निष्पन्न होने के बाद उसमें प्रत्यय जुटने से यौगिकता आ जाती है और यह मिश्रित अथवा योगरूढ़ होता है ॥९॥]

अव्यक्तयोगनिर्योगयोगाभासैस्त्रिधादिमः ।
ते च वृक्षादिभूवादिमण्डपाद्या यथाक्रमम् ॥ १० ॥

अव्यक्तेति। **आदिमः** आदौ भवः। रूढः (शब्दः) इत्यर्थः। अव्यक्तश्च योगनिर्योगश्च योगाभासश्च। तैः भेदैः। त्रिधा त्रिप्रकारकः। ते भेदाः च **यथाक्रमम्** क्रमम् अनतिक्रम्य क्रमेणेति भावः। वृक्षः आदिः येषा ते **वृक्षादयः**। भूश्च वा च भूवौ। ते आदी येषां ते **भूवादयः**। मण्डपः आद्यो येषां ते **मण्डपाद्याः**। एतानि उदाहरणानि ॥ १० ॥

(इनमें से) प्रथम (अर्थात् रूढ़ शब्द) अव्यक्त, योग-निर्योग तथा योगाभास–इन तीन–भेदो से तीन प्रकार का होता है। वे (तीनप्रकार) क्रमशः वृक्ष-आदिक, भू (सदृश धातुये) आदिक तथा मण्डपादिक है ॥१०॥

[रूढ़ शब्द के तीन भेद होते है जिनमे प्रथम भेद अव्यक्त है। यौगिक अर्थ निकलने पर भी उसकी स्पष्ट प्रतीति न होने से समुदाय-शक्ति से अर्थ-बोधक होने के कारण शब्द अव्यक्तरूढ़ कहलाता है। इसका उदाहरण वृक्ष आदि हैं। यह "वृश्चति (दूर करता है) आतपम् (धूप) इति वृक्षः" व्युत्पत्ति से यौगिक होता हुआ भी हमेशा इस यौगिक अर्थ के लिये प्रयुक्त न होकर वृक्ष-जाति-विशेष के लिये आने से रूढ़ है।

यौगिक अर्थ का अभाव होना निर्योगत्व है, उदाहरणार्थः—"भू" का अर्थ सत्ता है तथा इसी प्रकार अन्य धातुओ का भी कुछ अर्थ है पर वे उन अर्थों में न आकर क्रिया बनती है, अतः यौगिक अर्थ नहीं रह जाता।

जब यौगिक अर्थ का सम्बन्ध वास्तविक अर्थ से नही रह जाता तब योगाभासत्व की स्थिति होती है; जैसे :—"मण्डपः" का यौगिक अर्थ है मण्डं पिबतीति अर्थात् जा माँड़ को पीता है, वह मण्डप है; पर अर्थ है इसका मिकान जसका सम्बन्ध यौगिक अर्थ से नहीं है ॥१०॥]

शुद्धतन्मूलसंभिन्नप्रभेदैर्यौगिकस्त्रिधा।
ते च भ्रान्तिस्फुरत्कान्तिकौन्तेयादिस्वरूपिणः॥ ११ ॥

शुद्धेति। यौगिकः (शब्दः)। **शुद्धः** शुद्धयौगिकः। **तन्मूलः** यौगिकमूलयौगिकः। **संभिन्नः** संभिन्नयौगिकः (च त्रिभिः)। **प्रभेदैः** भेदैः। त्रिधा त्रिप्रकारक.। ते च शब्दाः भ्रान्तिश्च स्फुरत्कान्तिश्च कौन्तेयश्य। ते आदयो येषां ते तादृशाः। ते स्वरूपाणि येषां तथाभूताः। एते त्रयः शब्दाः उदाहरणभूताः ॥११॥

यौगिक (शब्द), शुद्ध (यौगिक), तन्मूल (अर्थात् यौगिकमूल) (यौगिक) तथा संभिन्न (यौगिक) (इन ३) भेदों से तीन प्रकार का होता है। उन (भेदो)-के स्वरूप भ्रान्ति, स्फुरत्कान्ति तथा कौन्तेय आदि हैं ॥११॥

[यहाँ यौगिक शब्द के भेद बताये गये हैं। शुद्धयौगिक वह यौगिक शब्द है जिसमें प्रकृति और प्रत्यय के योग से अर्थ की प्रतीति होती है; जैसे:—भ्रान्ति शब्द मे भ्रम-वाचक भ्रमु धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय होने पर भ्रम-अर्थ का बोध होता है।

तन् (यौगिक)-मूल वह यौगिक शब्द है जहाँ दो शुद्ध यौगिक शब्दों का समास करने से अर्थ की प्रतीति हो, जैसे—स्फुरत्कान्ति। यहाँ स्फुर् धातु से "शतृ" करने पर "स्फुरत्" शब्द बनता है और कमु धातु से क्तिन् प्रत्यय करने पर कान्ति शब्द जो दोनो शुद्ध यौगिक हैं। "स्फुरन्ती कान्तिर्यस्य या स्फुरन्ती च सा कान्तिश्च" के अनुसार "खिल रही कान्ति" या "वह जिसकी कान्ति खिल रही है" अर्थ होगा।

संभिन्न (यौगिक) वह यौगिक शब्द है जहाँ यौगिक और अयौगिक शब्दों के सम्बन्ध से अर्थ की प्राप्ति होती है; जैसे:—"कौन्तेय" शब्द में "कुन्ती" यौगिक है (कुन्तेः अपत्यम् इयं स्त्री कुन्ती)। (राजा) कुन्ति की पुत्री के अर्थ में "कुन्ति" शब्द से ण्यङ् तथा ङीष् प्रत्यय होते हैं। इसके बाद इससे ढक् प्रत्यय लगाने पर "कुन्त्याः अपत्यं पुमान्" अर्थ मे "कौन्तेयः" बनता है जिसका अर्थ सामान्यत. अर्जुन लिया जाता है। इस अर्थ में यह अयौगिक है क्योंकि इससे युधिष्ठिर या भीम की प्रतीति नही होती ॥११॥]

तन्मिश्रोऽन्योन्यसामान्यविशेषपरिवर्त्तनात्।
नीरधिः पङ्कजं सौधं सागरो भूरुहः शशी ॥ १२ ॥
क्षीरनीरधिराकाशपङ्कजं तेन सिध्यति।

तदिति। तन्मिश्रः योगरूढः शब्दः। अन्योन्यं मिथः। सामान्यस्य। विशेषस्य। च। परिवर्तनात् विनिमयात्। सामान्यार्थस्थाने विशेषार्थबोधकत्वं विशेषार्थस्थाने सामान्यार्थबोधकत्वम्। एकस्मिन्नेव च स्थाने उभयबोधकत्वमित्यर्थः। त्रिविधः इति पूर्वतः अन्वयः। तेन परिवर्तनेन

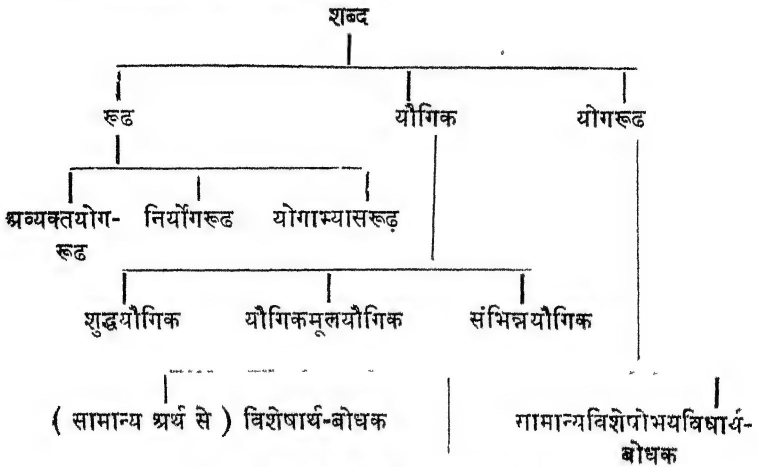
नीरधिः पङ्कजं सौधं सागरः भूरुहः शशी क्षीरनीरधिः आकाशपङ्कजम् । "च पदसमूहः" इति योज्यम् । सिध्यति निष्पद्यते । इमानि उदाहरणानि ॥१२॥

परस्पर सामान्य और विशेष के परिवर्तन से तन्मिश्र (= योगरूढ़ शब्द) के तीन भेद होते हैं। इससे नीरधि, पङ्कज, सौध, सागर, भूरुह, शशी, क्षीर-नीरधि और आकाशपङ्कज (शब्द) सिद्ध होते है ॥१२॥

[सामान्य और विशेष के परिवर्तन का अर्थ है जहाँ सामान्य अर्थ न देकर शब्द विशेष अर्थ देने लगता है, इसके विपरीत विशेष अर्थ छोड़कर शब्द सामान्य अर्थ देने लगता है या एक ही जगह दोनो (सामान्य और विशेष) अर्थों की प्रतीति होने लगती है। "नीराणि दधतीति नीरधिः"=जो जल धारण करता है, वह नीरधि है। यह सामान्य अर्थ छोड़कर "नीरधि" शब्द विशेष अर्थ समुद्र के लिए रूढ़ हो गया है। इसी प्रकार पङ्कज शब्द "पङ्क से उत्पन्न होने वाला" अर्थ छोडकर कमल के लिये (रूढ़ है), सौध शब्द "सुधा से उत्पन्न" अर्थ छोडकर चूने से पुते हुए भवन के लिये (रूढ़ है), सागर शब्द "सगर राजा से सम्बद्ध" अर्थ छोड़कर समुद्र के लिये (रूढ़ है), भूरुह शब्द "भूमि से उत्पन्न" अर्थ छोडकर वृक्ष के लिए (रूढ़ है), तथा शशी शब्द "शश (खरगोश) धारण करने वाला" अर्थ छोडकर चन्द्रमा के लिये रूढ़ है। ये सभी शब्द सामान्य अर्थ छोड़कर विशेष अर्थ धारण करते हैं। आगे दिया "क्षीर-नीरधि" उदाहरण भी सामान्य अर्थ छोड़कर विशेष अर्थ बताने वाला है और बहुत स्पष्टता के साथ। क्षीर का अर्थ दूध और नीरधि का अर्थ समुद्र है। यदि यौगिक अर्थ होंगे तो "नीर (=जल) धारण करने वाला" अर्थ निकलने से "क्षीर" शब्द के प्रयोग की संगति नहीं बैठेगी। विशेष अर्थ छोड़कर शब्द के सामान्य अर्थ ग्रहण करने का सुन्दर उदाहरण आकाश-पङ्कज है जिसका अर्थ है आकाश (=आकाश-गङ्गा) के पङ्क से उत्पन्न होने वाला और यह चन्द्रमा के लिये आया है जो कि आकाश गंगा के पंक से उत्पन्न है, न कि आकाश-कमल। दोनो प्रकार के अर्थ-परिवर्तन से जो तीसरा भेद संभव है, उसका उदा-हरण यहाँ नहीं दिया है, शायद लेखक का अभिप्राय दो ही भेदों से रहा है। तीसरे भेद का उदाहरण "नीरधितया कूपः समुद्रः" है। यहाँ "नीरधितया" शब्द कूप

के प्रसंग मे "जलधारी होने के कारण" और समुद्र के प्रसंग मे "सागर होने के कारण" अर्थ द्योतित करेगा।

इस प्रकार शब्द के ९ भेद हुये :—



जगदीश तर्कालङ्कार ने शब्द के निम्नलिखित ९ भेद माने हैं :—

रूढ़ के ३ भेद		यौगिक के ३ भेद		योगरूढ़ के ३ भेद	
नाम	उदाहरण	नाम	उदाहरण	नाम	उदाहरण
१। नैमित्तिक	गोचैत्रादिक	१। सामासिक	पुरुषसिंहादिक	१। सामासिक	कृष्णसर्पादिक
२। पारिभाषिक	आकाशडित्थादिक	२। तद्धितान्त	पाराशर्यादिक	२। तद्धितान्त	वासुदेवादिक
३। औपाधिक	भूतदूतादिक	३। कृदन्त	पाचकादिक	३। कृदन्त	पङ्कजादिक

तर्कालङ्कार के अनुसार यौगिक और योगरूढ़ के भेदों के नाम समान ही हैं॥१३॥]

विभक्त्यन्तं पदं वाक्यं तद्व्यूहोऽर्थसमाप्तितः ॥ १३ ॥
युक्तार्थानां तां च विना खण्डवाक्यं स इष्यते ।
वाक्यं च खण्डवाक्यं च पदमेकमपि क्वचित् ॥ १४ ॥

विभक्त्येति। विभक्तिः अन्ते यस्य तादृशं सुप्तिङन्तम्। पदं पदसञ्ज्ञां

लभते। तेषां पदानाम्। व्यूहः समूहः। अर्थस्य समाप्तिः समाप्तौ। निराकाङ्क्षः इत्यर्थः। वाक्यम्। कथ्यते इति योज्यम्॥ १३॥

युक्तः सम्बद्धः अर्थः येषां साकाङ्क्षाणां पदानाम्। च। सः व्यूहः। ताम् अर्थसमाप्तिं साकाङ्क्षतां विना खण्डवाक्यम् इष्यते इष्टम्। कथ्यते इत्यर्थः। क्वचित् कुत्रापि। एकम् केवलम्। अपि। पदम्। वाक्यम्। च। खण्डवाक्यम्। च। भवतीति शेषः॥ १४॥

जिसके अन्त मे विभक्ति लगी हो, वह पद है। उन (पदों) का आकाङ्क्षा-रहित समूह, वाक्य है। परस्पर अर्थ का सम्बन्ध रखनेवाला निराकाङ्क्षता-रहित वह (पद-समूह) खण्ड-वाक्य माना जाता है। कही-कही एक पद भी वाक्य और खण्ड-वाक्य होता है॥१३॥१४॥

[पाणिनि ने "सुप्तिङन्तं पदम्" (१। ४। १४) पद की परिभाषा दी है। सुप् वे विभक्तियाँ हैं जो सु से शुरू होकर प् तक जाती है और संज्ञा, सर्वनाम तथा विशेषण शब्दों से लगती हैं, और तिङ् वे विभक्तियाँ हैं जो ति से आरंभ होकर ङ् तक जाती हैं और क्रियाओं के लिये आती हैं। गौतम के अनुसार विभक्ति से अंत होने वाले शब्द पद हैं:—

"विभक्त्यन्ताः पदम्।"

न्याय-भाष्यकार वात्स्यायन के अनुसार पद का समूह वाक्य है:—"पद-समूहो वाक्यम्"।

निराकाङ्क्ष का अर्थ है जहाँ अर्थ पूरा-पूरा निकल आये; उसे बताने में शब्द को बाहरी शब्द की आकाङ्क्षा (सहायता की आवश्यकता) न हो।

धूमवत्त्वादिति यथा देवेत्यामन्त्रणं यथा।
वाक्यान्येकार्थविश्रान्तान्याहुर्वाक्यकदम्बकम्॥ १५॥

धूमेति। यथा उदाह्रियते। धूमवत्त्वात् इति। पदस्य च एकपदस्य च वाक्यस्य उदाहरणमिदम्। पञ्चम्यन्तं पदम्। हेत्वाकाङ्क्षारहितत्वात् पदमिदं निराकाङ्क्षम् अतः वाक्यम्। यथा उदाह्रियते। देव हे देव इति। आमन्त्रणम् आवाहनम्। सम्बोधनपदम्। पदस्य च खण्डवाक्यस्य च उदाहरणमिदम्। क्रियायाः आकाङ्क्षायां सत्यां वाक्यत्वं न भजति

पदमिदम् । न एके । अनेके च ते अर्थाश्च । तत्र विश्रान्तानि समाप्तानि । वाक्यानि इति शेषः । वाक्यकदम्बकम् । आहुः अकथयन् । विद्वांस इति शेषः ॥ १५ ॥

उदाहरणार्थ "धूमवत्त्वात्" या "देव" सम्बोधन हैं । अनेक अर्थों मे समाप्त होने वाले वाक्यों को "वाक्य-कदम्बक" कहते हैं ॥ १५ ॥

[यहाँ दो उदाहरण दिये गये हैं । पहला धूमवत्त्वात् है । इसमे पंचमी विभक्ति लगी होने से यह पद है और कारण की आकाङ्क्षा दूर करने वाला होने से यह निराकाङ्क्ष होने के कारण वाक्य है । "देव" सम्बोधन पद है । प्रथमा विभक्ति मे है,इसलिये पद है, पर क्रिया की आकाङ्क्षा होने से खण्डवाक्य है; वाक्य नहीं । क्रिया के बिना यह वाक्य होने की सामर्थ्य नही धारण करता । जहाँ अनेक वाक्य एक अर्थ मे समाप्त होते है अर्थात् एक ही अर्थ के सहायक होते हैं, वह "वाक्य-कदम्बक" है । इसे महावाक्य या प्रबन्ध भी कहा जाता है । कदम्बक का अर्थ समूह होता हे । रघुवंश या कुमारसंभव के आरंभ म विशेषणों से जो लम्बा वाक्य बनाया गया है, उसे उदाहरण-रूप मे रखा जा सकता है । अंग्रेजी में कांप्लेक्स या कम्पाउण्ड वाक्य अथवा हिन्दी मे मिश्रित तथा संयुक्त वाक्य "वाक्य-कदम्बक" कहे जा सकते हैं ॥१५॥]

महादेवः सत्रप्रमुखमखविद्यैकचतुरः
सुमित्रा तद्भक्तिप्रणिहितमतिर्यस्य पितरौ ।
अनेनासावाद्यः सुकविजयदेवेन रचिते
चिरं चन्द्रालोके सुखयतु मयूखः सुमनसः ॥ १६ ॥

इति चन्द्रालोके वाग्विचारो नाम प्रथमो मयूखः ।

महादेवः इति । यस्य कवेः जयदेवस्य । पितरौ माता च पिता च । सत्राणि यागभेदरूपाणि प्रमुखानि येषां ते । मखाः यज्ञाः । तेषां विद्या तत्र एकश्चासौ चतुरश्च परमनिपुणः । महादेवः । पितुः नाम इदम् । तस्मिन् भक्तिः भावः । तत्र प्रणिहिता अवहिता मतिः बुद्धिः यस्याः सा पतिव्रता । सुमित्रा । मातुः नाम इदम् । च इति शेषः । तेन इति योज्यम् । अनेन प्रागुक्तेन । शोभनश्चासौ कविश्च सुकविः । सुकविश्चासौ

जयदेवश्च । तेन **रचिते** निर्मिते **चन्द्रालोके**। ग्रन्थे चन्द्रिकायां वा । **आद्यः** प्रथमः। **मयूखः** अध्यायः किरणो वा। **सुमनसः** सुजनान् देवान् वा। **चिरं** चिरकालम्। **सुखयतु** प्रीणातु ।। १६ ।।

जिसके पिता सत्रादि यज्ञ-विधाओं में परम-निपुण महादेव और जिसकी माता उन (महादेव)-की भक्ति में तत्पर बुद्धि सुमित्रा हैं, उस प्रस्तुत श्रेष्ठ कवि जयदेव के द्वारा रचित चन्द्रालोक का यह प्रथम अध्याय सज्जनों (या देवताओ) को चिरकाल तक सुखी करे ।। १६ ।।

इस प्रकार चन्द्रालोकालङ्कार ग्रन्थ का वाग्विचार नामक प्रथम अध्याय समाप्त हुआ।

[यह श्लोक लेखक जयदेव के पिता तथा उनकी माता का नाम होने के कारण साहित्येतिहास की दृष्टि से महत्त्व-पूर्ण है। यहाँ "मयूख" शब्द पाठकों के लिये अध्याय-वाची होता हुआ भी सहृदयो और देवताओ के लिये किरण-वाची होकर चमत्कार उत्पन्न करता है। सहृदयो को चन्द्र-किरणें आनन्दित करती हैं और देवताओं को अमृत देकर प्रसन्न बनाती हैं।

१३ दिन से १,००० वर्ष तक चलने वाले यज्ञ सत्र कहलाते हैं।

यहाँ अपने ही नाम के पहले "सुकवि" प्रशंसा-पद रखना अहङ्कार-सूचक, अतः श्लोक ४ और ५ का विरोधी कहा जा सकता हैं, पर बाद के कवियों में इस तरह लिखने की परिपाटी हो जाने से इसे सामान्य रूप से ग्रहण किया जा सकता है ।। १६ ।।

अंतिम वाक्य में ग्रन्थ का नाम चन्द्रालोकालङ्कार लिखा गया है। अलङ्कार" शब्द उपमान या प्रतिपाद्य विषय के लिये भी आ सकता है। ग्रन्थ के नाम भिन्न स्थानों मे भिन्न देने की रीति संस्कृत में बहुत प्रचलित है और व्यक्ति-वाचक संज्ञाओं का भी अनुवाद कभी-कभी कर दिया जाता है जिससे भ्रम होने की संभावना रहती है। वाग्विचार में वाग् का अर्थ शब्द है। इस अध्याय में शब्द और वाक्य की चर्चा होने से यह नाम सार्थक है।

द्वितीयो मयूखः ।

अथ दोषाः ।

स्याच्चेतो विशता येन सक्षता रमणीयता।
शब्देऽर्थे च कृतोन्मेषं दोषमुद्घोषयन्ति तम्॥ १ ॥

स्यादिति । **येन** दोषेण । शब्दगतेन अर्थगतेन वा । **चेतः** मानसम् । **विशता** प्रवेशं कुर्वता । **रमणीयता** सुन्दरता । **सक्षता** क्षतेन सह । नष्टेत्यर्थः । **स्यात्** भवेत् । **शब्दे** वाचके । **अर्थे** वाच्ये च । कृतः **उन्मेषः** प्राकट्यं येन । प्रकटितम् । तम् । दोषम् । **उद्घोषयन्ति** वदन्ति । बुधाः इति शेषः ॥ १ ॥

जिसके हृदय मे प्रवेश करने के साथ-साथ सुन्दरता को आघात पहुँचता है, शब्द और अर्थ मे प्रगट होनेवाला वह दोष है, ऐसा (विद्वानों के द्वारा) कहा जाता है ॥ १ ॥

[यहाँ दोष का सामान्य लक्षण कहा गया है क्योंकि सामान्य के बिना विशेष की प्रतीति ही नहीं हो सकती ।

काव्य की परिभाषा में सबसे पहले "निर्दोष" होने की चर्चा आ चुकी है, इसलिये दोष का प्रतिपादन यहाँ किया गया है ।

यह दोष शब्द और अर्थ में प्रगट होता है, क्योंकि दोनो काव्य के शरीर माने जाते हैं; इसी प्रकार रस आत्मा, गुण शौर्यादिक, अलङ्कार कंकण आदि, रीतियाँ अवयव और दोष कानापन आदि है, ऐसा काव्य प्रकाश आदि में बताया गया है ।

ये दोष दो प्रकार के होते हैं । कुछ नित्य और कुछ अनित्य । जो च्युतसंस्कृति आदि दोष हर दशा में दोष ही बने रहते हैं, वे नित्य और ग्राम्यत्व आदि अनित्य माने जाते हैं क्योंकि ये हास्य रस आदि में दोष के स्थान पर गुण

हो जाते हैं। इसके ७ प्रकार भी बताये गये हैं :— (१) पदवृत्ति, (२) पदांश-वृत्ति, (३) वाक्यवृत्ति, (४) वाक्यांश-वृत्ति, (५) प्रबन्धवृत्ति, (६) अर्थवृत्ति तथा (७) रसवृत्ति। श्रुतिकटु आदि दोष पद, पदाश और वाक्य के दोष हैं। क्लिष्टत्व आदि समास-गत पद-दोष हैं। निरर्थकत्व आदि केवल पद में पाये जाते हैं। प्रतिकूलाक्षरत्व आदि केवल वाक्य मे होते है। अर्थ-दोष और रस-दोष भी दो भेद हैं जिनका वर्णन यहाँ नही है। अपुष्टार्थत्व आदि अर्थ-दोष और रस-शब्दोक्ति आदि रस-दोष है।

दोष शब्द-गत है या अर्थ-गत इसका अन्तर समझने के लिए दोष-युक्त शब्द को हटाकर उसके स्थान पर उसके पर्यायवाची शब्द की कल्पना करनी चाहिए। यदि शब्द बदलने पर भी दोष न हटे तो अर्थ-दोष और हट जाय तो शब्द-दोष मानना चाहिए। श्रुतिकटु आदि दोष होने पर शब्द बदलते ही दोष दूर हो जाता है अतः ये शब्द-गत दोष हैं। अपुष्टार्थत्व आदि दोषों के रहने पर शब्द बदलने पर भी दोष दूर नही होता, अतः ये अर्थ-गत दोष माने जाते है।

यहाँ निम्नलिखित दोष बताये गये है :—

दोष	आरंभ	अंत	संख्या
पदगत	श्रुतिकटु	अन्यसंगत	२०
वाक्यगत	प्रतिकूलाक्षर	अमतार्थान्तर	१९
अर्थ-गत	अपुष्टार्थ	विरुद्धान्योन्यसंगति	१४

उद्देश्य की प्रतीति में जो बाधक होता है वह दोष है, ऐसी सामान्य परिभाषा है। उद्देश्य की अप्रतीति कही रस मे पाई जाती है और कहीं अर्थ में। रसवान् काव्य में वहाँ दोष नहीं रह जाता है जहाँ रस की प्रतीति में देर न हो तथा रस की हानि न हो। वहाँ भी दोष नहीं रह जाता जहाँ अर्थ की प्रतीति मे देर न लगे और अर्थ-चमत्कार हो, भले ही काव्य नीरस हो। ऐसा न होने पर दोष होता है। सरस काव्यों में दोष तब होता है जब रस की प्रतीति नहीं होती, उसमें देर लगती है या रस का अपकर्ष (दबा होना या हानि) होता है। नीरस काव्य में दोष तब आता है जब मुख्य अर्थ की प्रतीति नहीं होती, उसमें विलम्ब होता है या अर्थ-चमत्कार नहीं रहता।

वामन ने "गुणविपर्ययात्मानो दोषाः" परिभाषा दी है। दोष गुणाभाव है, ऐसा उनका कहना उचित नहीं माना जाता। कहीं-कही प्रसाद आदि गुणों के रहते भी दोष देखने में आता है। इसके विपरीत गुण न भी रहे पर दोष न रहने पर गुण हो सकता है। दोष गुणी को नष्ट कर देता है जैसे कुष्ठ का एक दाग सुन्दर शरीर को असुन्दर बना देता है। गुण की अपेक्षा दोषाभाव की प्रधानता होने के कारण यहाँ सबसे पहले दोष की चर्चा की गई है।

मम्मट भट्ट ने मुख्य अर्थ का अपकर्ष दोष माना है। रस मुख्य और उसके आश्रय से अर्थ तथा दोनो के लिये उपयोगी होने से शब्दादि में भी दोष आ जाता है।

मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद्वाच्यः।
उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि सः ॥ १ ॥]

भवेच्छ्रुतिकटुर्वर्णः श्रवणोद्वेजने पटुः।
संविन्दते व्याकरणविरुद्धं च्युतसंस्कृति ॥ २ ॥

भवेदिति। श्रवणोद्वेजने। श्रवणयोः कर्णयोः। उद्वेजने विरसतोत्पादने। पटुः कुशलः। वर्णः। श्रुतिकटुः श्रुतिकटुनामा। भवेत् भवति। उदाहरणम् भवेच्छ्रुतिः इति।

व्याकरणस्य पाणिन्यादेः अनुशासनस्य। विरुद्धम् विपरीतम्। अनर्गलमिति यावत्। "यत् दुष्टं पदम्" इति योजनीयम्। च्युतसंस्कृति। नामेदम्। संविन्दते जानन्ति। आलङ्कारिकाः इति शेषः। "संविन्दते" इति उदाहरणम्। अकर्मकोऽयं सम्पूर्वको विद्धातुः अत्र सकर्मकत्वेन प्रयुक्तः इति दोषाय ॥ २ ॥

कानों में उद्वेग उत्पन्न करने मे कुशल वर्ण श्रुतिकटु (दोष) है। व्याकरण-विरुद्ध (वचन) च्युत-संस्कृति (नामक दोष) है, ऐसा (आलंकारिकों के द्वारा) कहा गया है ॥ २ ॥

[कानों में उद्वेग पैदा करने वाले वर्ण से अभिप्राय है वह वर्ण जो अर्थ की प्रतीति के पूर्व ही अपनी कर्कशता से खटक पैदा करे। इन लक्षणों में

स्वयं त्रुटि कर लेखक ने उदाहरण प्रस्तुत किये है। "भवेच्छ्रुति" उदाहरण हो सकता है। चकार, छकार और रेफ के एक साथ आने से परुषता आ गई है। इसी प्रकार च्युतसंस्कृति का उदाहरण "संविन्दते" आया है "समो गम्यृच्छिभ्याम्" सूत्र से सम्+विद् धातु अकर्मक मानी गई है पर यहाँ सकर्मक प्रयोग दिया गया है।

संस्कृत में पारिभाषिक नाम उसी लिङ्ग मे रखे जाते है जिसके वे भेद होते हैं। "काव्य-प्रकाश" आदि की तरह "च्युत-संस्कृति" और आगे "अप्रयुक्तम्" आदि नाम देने से यह स्पष्ट है कि ये नाम दुष्ट (दोष-युक्त) पद के भेद है। भेद भी नपुंसकलिङ्ग मे ही होते, जैसे "पद" है तो एक-रूपता होती, पर "श्रुतिकटु" को यहाँ पुंलिङ्ग में कर देने से पारिभाषिक शब्द संज्ञा न रहकर विशेषण हो गया है।

श्रुति, कान का पर्यावाची शब्द है। श्रुतिकटु नाम से ही लक्षण का आभास होता है। च्युतसंस्कृति में 'संस्कृति' शब्द व्याकरण-संस्कार के लिये आया है। "च्युता संस्कृतिः यस्मात्" विग्रह से अर्थ निकलेगा "जिससे व्याकरण-संस्कार हट गये हैं" ॥ २ ॥]

अप्रयुक्तं दैवतादिशब्दे पुंल्लिङ्गतादिकम् ।
असमर्थं तु हन्त्यादेः प्रयोगो गमनादिषु ॥ ३ ॥
स हन्ति हन्त कान्तारे कान्तः कुटिलकुन्तलः ।

अप्रयुक्तमिति । दैवतम् आदिर्यस्य सः । दैवतादिश्च सः शब्दश्च तस्मिन् । पुंल्लिङ्गतादिकम् । दैवतशब्दे पुंल्लिङ्गताप्रयोगः इत्यर्थः । अप्रयुक्तम् इति नाम दुष्टं पदम् । असमर्थम् असमर्थनाम दुष्टं पदम् । तु । गमनादिषु गमनादिषु अर्थेषु । हन्त्यादेः । धातोः इत्यर्थः । प्रयोगः । (उदाहरति यथा) हन्त आह्लादव्यञ्जकम् अव्ययपदम् । कुटिलाः वेल्लिताः कुन्तलाः केशाः यस्य सः । सः अनुभूतः । कान्तः प्रियः । कान्तारे निर्जने वने । हन्ति गच्छति । अत्र दैवतं शब्दः पुंल्लिङ्गे आम्नातोऽपि कविभिः अनादृतः केवलं नपुंसके प्रयुज्यते । हन्तिः गमनार्थे शास्त्रविहितोऽपि तत्र अर्थे असमर्थः अप्रसिद्धत्वात् ॥ ३ ॥

"दैवत" आदि शब्दों का पुंलिङ्ग आदि में प्रयोग अप्रयुक्त (दोष) है। असमर्थ (दोष) गमन आदि (अर्थों) में "हन्ति" आदि का प्रयोग है ॥ १३ ॥

(उदाहरण:—) अहा ! वह कुञ्चित केशों वाला प्रिय निर्जन वन में जा रहा है ॥ ४ ॥

अमर-कोश के अनुसार "दैवतानि पुंसि वा" के अनुसार "दैवत" शब्द पुंलिङ्ग में ठीक है किन्तु कवियों के द्वारा प्रयुक्त न होने से अप्रयुक्त दोष के अन्तर्गत आता है। इसका अर्थ है कि कवि परम्परा देखते हुए इसका प्रयोग काव्यों में नही होना चाहिए।

कौन शब्द काव्यों मे कवियों द्वारा प्रयुक्त हो चुका है, और कौन नही, इसका निर्णय बहुत कठिन है। सभी काव्यों का सतत अनुशीलन करने से ही यह विदित हो सकता है। उदाहरण मे कोई नया शब्द न देकर काव्यप्रकाश का ही उदाहरण लेखक ने यहाँ दिया है। इसी तरह अन्य दोषों के बारे मे समझना चाहिये। अधिक कवियों के द्वारा नही प्रयुक्त है और कम कवियों के द्वारा प्रयुक्त है, अत: अप्रयुक्त है, यह माना जा सकता है, इसीलिये कवियों के लिये यह मार्ग निर्दोष माना जाता है कि सुप्रयुक्त शब्दों का प्रयोग किया जाय जिससे अप्रयुक्त दोष के आने का डर ही न रहे। जो काव्य-मर्मज्ञ हैं, पर व्याकरण या कोष के मर्मज्ञ नहीं उन्हें ऐसे दोषों में च्युतसंस्कृति दोष की शंका होने से काव्य का आनन्द चला जायेगा जो उनका हक है। "आदि" से यह अर्थ लगाया जायेगा कि अन्य शब्दों मे भी अप्रसिद्ध-लिङ्गादि प्रयोग दोष होंगे।

"हन्ति" उदाहरण भी काव्यप्रकाश में आया है। "हन् हिंसा गत्योः" के अनुसार "हन्" का प्रयोग "गमन" अर्थ में ठीक है किन्तु अप्रसिद्ध होने से अब इसका प्रयोग असमर्थ-दोष माना जायेगा।

उक्त दोनो प्रकार के दोष मिलते-जुलते हैं। इनका अंतर यह है कि "दैवत" आदि शब्द केवल काव्य में अप्रसिद्ध हैं पर "हन्ति" आदि प्रयोग काव्य में ही नहीं लोक में भी अनादृत हैं। पुराने पड़ जाने से ये भ्रम उत्पन्न करेंगे जिससे

अर्थ और रस की प्रतीति में बाधा आयेगी। "दैवत" आदि का प्रयोग शास्त्रों में हो सकता है पर "हन्ति" आदि का नहीं, यह आशय है ॥३॥ ४ ॥]

निहतार्थं लोहितादौ शोणितादिप्रयोगतः ॥ ४ ॥

निहतेति। लोहितादौ रक्तवर्णादौ। शोणितादेः शब्दस्य। प्रयोगतः प्रयोगात्। निहतार्थम्। "नाम दुष्टं पदम्" इति शेषः। यद्यपि शोणित-शब्दः रक्तवर्णवाचकः किन्तु तत्र अप्रसिद्धत्वात् निहतार्थदोषजनकः। एकस्मिन् एव रक्ते इति अर्थे अस्य प्रयोगः प्रसिद्धः ॥ ४ ॥

रक्तवर्ण आदि (अर्थ) में शोणित आदि के प्रयोग से निहतार्थ (दोष) होता है ॥ ४ ॥

["शोणित" शब्द के दो अर्थ हैः—(१) खून और (२) लाल, पर दूसरे अर्थ में इसकी प्रसिद्धि नहीं है, अतः इस अर्थ मे इसका प्रयोग दोष हो जायेगा। निहतार्थ की परिभाषा मम्मट भट्ट ने अधिक विस्तृत की है जिससे स्पष्ट है। उनके अनुसार दो अर्थों वाला पद जब अप्रसिद्ध वाले अर्थ में प्रयुक्त होता है, तब यह दोष होता है :—

निहतार्थ यदुभयार्थमप्रसिद्धेऽर्थे प्रयुक्तम्।

जयदेव की परिभाषा से ऐसा लगता है, जैसे वे किसी पूर्व परिभाषा से पाठकों को अवगत समझकर संकेत-मात्र दे रहे है।

"निहतः अप्रसिद्धेन अविवक्षितेन अर्थेन अप्रसिद्धतया व्यवहितः विवक्षितः अर्थः यस्य तत्" विग्रह कर निहत का अर्थ लगेगा अप्रसिद्ध और अविवक्षित (अवाञ्छित) अर्थ से अप्रसिद्धता के कारण बाधित, तथा "अर्थ" शब्द विव-क्षित अर्थ का सूचक होगा।

यह दोष इसलिये माना जाता है कि प्रसिद्ध या रूढ़ अर्थ तुरन्त भासता है और अप्रसिद्ध अर्थ में बाधक होकर अर्थ की प्रतीति नहीं होने देता। इसके लिये एक ही शब्द के कम से कम दो अर्थ होने जरूरी हैं जिनमे से अप्रसिद्ध वाला कोई अर्थ विवक्षित हो, जब कि अप्रयुक्त दोष में एक ही अर्थ है और असमर्थ में अर्थ पुराना और विस्मृत हो जाने से त्याज्य और एक ही है। निहतार्थ में अर्थ निक-

लता है पर देर से जब कि असमर्थ मे निकलता ही नहीं। तीनो में बहुत सूक्ष्म अन्तर है ॥४॥]

व्यनक्त्यनुचितार्थं यत्पदमाहुस्तदेव तत्।
इयमद्भुतशाख्यग्रकेलिकौतुकवानरी ॥ ५ ॥

व्यनक्तीति । **यत्** । **पदम्** । अनुचितश्चासौ अर्थश्च । तं **व्यनक्ति** प्रकटयति । **तत्** (पदम्) । **तदेव** अनुचितार्थं नाम दुष्टं पदम् एव । **आहुः** वदन्ति । विद्वांसः इति शेषः । (अथ उदाह्रियते) **इयं** कामिनी । **अद्भुतः** अद्भुतरसः । सः एव **शाखी** वृक्षः । तस्य **अग्रे** उपरितने भागे । **केलिः** क्रीडा । तस्यां कौतुक कौतूहलं यस्याः सा । सा च सा **वानरी** मर्कटी च । अत्र वानरीति पदम् अनुचितार्थत्वदोषस्य उदाहरणम् । केलिकौतुकातिशयं विवक्षितम् अर्थं वानरीपदेन कविः व्यञ्जयितुमिच्छति किन्तु वानरीत्वारोपः तत्र वैरूप्यं द्योतयति ॥५॥

जो पद अनुचित अर्थ व्यक्त करता है उसे वही (अनुचितार्थ नामक दोष) कहा जाता है।

(उदाहरण:—) यह (कामिनी) अद्भुत (रस) के वृक्ष के ऊपर क्रीड़ा-कौतुक करने वाली वानरी है ॥५॥

[अटपटा अर्थ निकलना अनुचितार्थ दोष है। यहाँ कवि का अभिप्राय "वानरी" शब्द देकर क्रीड़ा-कौतुक का अतिशय व्यक्त करना है, पर यह दोष कर बैठने से कामिनी के प्रति विरक्ति या उद्वेग का भाव पैदा होता है।

अनुचितार्थ और विरुद्धमतिकृत् (ये दो) दोष मिलते-जुलते हैं। इनका अन्तर यह है कि पहला अकेले पद में होता है जब कि दूसरे के लिये अन्य पद की भी अपेक्षा रहती है।

यह दोष कहीं वाच्य अर्थ में दोष, कहीं अर्थ का असंभव होना और कहीं असम्भव बात का समर्थन करनेवाला अर्थ दिखाता है। ऊपर अधम अर्थ प्रगट हो रहा है अतः पहले प्रकार का दोष है ॥५॥]

निरर्थकं तुहीत्यादि पूरणैकप्रयोजनम्।
अर्थं विदधदित्यादौ दधदाद्यमवाचकम् ॥ ६ ॥

निरर्थकमिति। तु हि इति आदिः यस्य तत् तुहीत्यादि **पूरणं** छन्दश्चरण पूर्तिः एव **एकं** मुख्यं प्रयोजनं यत्र। (तत् दुष्टं पदम्)। निरर्थकम् (**इति कथ्यते**) आदिपदेन वैचादीनां ग्रहणम्। निर्गतः अर्थः यस्मात् तत् **निरर्थकम्**। अर्थवत्त्वेऽपि प्रयोजनाभावः निरर्थकत्वम् एव।

विदधत् इति आदिः यस्य तस्मिन्। अर्थे वाच्ये। दधत् आद्यम् आदिः यस्य तत् पदम्। तस्य पदस्य प्रयोगः इत्यर्थः। अवाचकम्। नाम दुष्टं पदम् इति शेषः ॥ ६ ॥

तु हि आदि से जहाँ (छन्द-चरण) पूर्ति ही मुख्य उद्देश्य होता है वह निरर्थक (नामक दोष) है ॥६॥

तु, हि, च, वै, खलु, एव आदि को बिना किसी अन्य प्रयोजन के केवल छन्द के अक्षरों या उसकी मात्राओं की पूर्ति के लिये भर देना निरर्थक नाम से बताया गया है। ये अव्यय शास्त्रों मे चल सकते हैं पर काव्य में नहीं। इनका प्रयोग कर छन्द-रचना शीघ्र हो सकती है, क्योंकि जहाँ सूझा हुआ शब्द या प्रयोग नहीं बैठ रहा है, वहाँ इन अव्ययो से बैठाया जा सकता है। पाठक इनका उद्देश्य ढूँढ़ने मे व्यग्र हो जायेगा और न मिलने से अर्थ और रस की प्रतीति में बाधा होने से विरक्ति होगी। यह काव्यकार में शक्ति का अभाव द्योतित करता है। यहाँ "तुहीत्यादि" को "पूरण" पद से अलग कर उदाहरण मान सकते हैं पर पूरण के साथ जोड़ने पर वह सार्थक हो जायेगा।

च, हि, तु आदि का अर्थ, होता है, पर ये शब्द जब चरण-पूर्ति के लिये प्रयुक्त किये जाते हैं तो लेखक की इच्छा होती है कि इनका अर्थ ग्रहण न किया जाय। इस प्रकार विवक्षित अर्थ के स्थान पर अविवक्षित अर्थ का प्रगट होना निरर्थक नामक दोष है।

विवक्षित अर्थ को प्रगट करने के लिये जहाँ ऐसा पद व्यवहृत किया जाय जिससे वह (अर्थ) न निकल पाये, वहाँ अवाचक दोष होता है। प्रत्येक शब्द के अर्थ निश्चित होते हैं। यदि खींच-तान कर या प्रमाद-वश उसका अर्थ बलाकर बैठाने का प्रयत्न किया जायेगा तो यह दोष आयेगा। "डुधाञ्धारण-पोषणयोः" के अनुसार डुधाञ् धातु का अर्थ धारण या पोषण करना है। इसमें

"वि" उपसर्ग लगने पर ही विधान करना, या बनाना अर्थ निकलता है; अकेले नहीं, अतः बाद के अर्थ मे "डुधाञ्" धातु अवाचक है। इसी प्रकार दधत् की जगह विदधत् का प्रयोग भी अवाचक हो जायेगा। शब्द की वाचकता को अपनी सीमा से अधिक मानने से यह दोष आता है और निरर्थक मे पद-पूरण-मात्र ही प्रयोजन है, यह दोनो का भेद है।

दधत् की जगह विदधत् का प्रयोग करने पर "वि" उपसर्ग पद-पूरणार्थक क्यों न मान लिया जाय, यह शंका हो सकती है। इसका परिहार यह है कि उपसर्ग, चरण-पूरणार्थक नही है। "च-ह-वै पाद-पूरणे" के अनुसार कुछ अव्यय शब्द ही ऐसे माने जाते है।

उपसर्ग कभी अर्थ मे परिवर्तन नही लाते; कभी अर्थ का उत्कर्ष बढ़ाते हैं और कभी उसमे परिवर्तन ला देते हैं। लेखक भ्रम-वश उपसर्ग को "स्वार्थ" मे अर्थात् अर्थ का अपरिवर्तनकारी मान बैठे तब अवाचक दोष होता है। बहुत सूक्ष्म अंतर है ॥६॥]

धत्ते नभस्तलं भास्वानरुणं तरुणैः करैः।
एकाक्षरं विना भूभ्रूक्ष्मादिक खतलादिवत्॥ ७॥

धत्त इति। (उदाह्रियते)। भास्वान् सूर्यः। तरुणैः नवैः। करैः किरणैः। नभस्तलम् आकाशम्। अरुणं रक्तवर्णम्। धत्ते विधत्ते इति अर्थे विवक्षितमिदं पदम् अवाचकम्।

एकम् अक्षरं यत्र तत्। भूश्च भ्रूश्च क्ष्मा च। ताः आदयः यस्य तादृशं (पदं) विना। खस्य तलम्। तत् आदिः यस्य। तद्वत्। तत्तुल्यं पदम्। अवाचकम् इति दुष्टं पदम्। तलयुगतलादि शब्दाः भूभ्रूक्ष्मादीनामनुगामिनः न तु खादीनाम्। कविप्रयोगादर्शनात् अवाचकम् ॥७॥

[उदाहरणः—] सूर्य नवीन किरणों से आकाश को लाल बना रहा है। एक अक्षर वाले भू, भ्रू, क्ष्मा आदिक (पद) के अतिरिक्त खतल आदि के तुल्य पद अवाचक (दोष के उदाहरण) हैं ॥७॥

[यहाँ धत्ते का अर्थ "धारण करता है" कवि को इष्ट न होकर "विधत्ते=बनाता है" इष्ट है। बाद के अर्थ का वह अवाचक है।

उत्तरार्ध में दिये लक्षण से तल शब्द का प्रयोग भू, भ्रू, क्ष्मा आदि एक अक्षर वाले कुछ ही (सभी एकाक्षर वाले नहीं) शब्दो के साथ ठीक है, ख आदि एक अक्षर वाले तथा सभी एकाधिक अक्षरों वाले शब्दो के साथ नहीं। श्लोक के पूर्वार्ध में नभस्तल पद "नभस्" का अवाचक है क्योंकि "तल" शब्द ने अंत में लगकर उसे अवाचक बना दिया है। "तल" शब्द, लगकर सुन्दरता का नाश करने के साथ-साथ विवक्षित अर्थ जो "भू" आदि शब्दों के साथ देता है, न देने के कारण दोनो प्रकार के अवाचक दोष का उदाहरण है।

भ्रू के साथ "तल" शब्द नहीं आता, "युग" शब्द आता है और भू, भ्रू, क्ष्मा आदि शब्द अकेले भी आते है। तल, युग आदि शब्द अर्थ स्पष्ट करने के कारण शोभाधायक हैं।

"काव्य-प्रकाश" आदि के अनुसार असमर्थ दोष व्यापक है और उसमें अप्रयुक्त, निहतार्थ और अवाचक का समावेश भी हो सकता है पर प्राचीन सम्प्रदाय (परम्परा) के अनुसार ये दोष अलग-अलग बताये गये हैं। सम्प्रदाय का सम्मान करना उचित है जब तक वह (सम्प्रदाय) प्रगति में बाधक न हो ।।७।।]

अश्लीलं त्रिविधं व्रीडाजुगुप्साऽमङ्गलात्मना।
आह्लादसाधनं वायुः कान्तानाशे भवेत्कथम् ।। ८ ।।

अश्लीलमिति। श्रियं गृह्णातीति श्लीलम्। न श्लीलम् अश्लीलम्। व्रीडा लज्जा च जुगुप्सा घृणा च अमङ्गलम् अशुभं च आत्मा स्वरूपं यस्य तेन। त्रिविधं त्रिप्रकारकम्। व्रीडाश्लीलं जुगुप्साश्लीलम् अमङ्गलाश्लीलं च। (उदाहरणमाह) कान्तायाः प्रियायाः। नाशे विरहे। वायुः वातः। कथं केन प्रकारेण। आह्लादस्य आनन्दस्य। साधनं निमित्तम्। भवेत् स्यात्। न कदापि भवितुं शक्नोतीति अर्थः। अत्र साधनं (पदं) पुरुषलिङ्गवाचकं व्रीडाश्लीलस्य उदाहरणम्। वायुः अपानवायुद्योतकः जुगुप्साश्लीलस्य उदाहरणम्। नाशः मरणार्थतां सूचयन् अमङ्गलाश्लीलस्य उदाहरणम् ।। ८ ।।

लज्जा, घृणा और अमङ्गल रूपों के भेद से अश्लील (नामक दोष) तीन प्रकार का होता है।

(उदाहरण:—) प्रिया के विरह मे पवन आनन्द का निमित्त भला कैसे हो सकता है ॥८॥

"श्रियं लातीति श्रीलम्" और "रलयोर्भेदो नास्ति" व्युत्पत्ति से शोभा-धायक के लिये श्लील शब्द आता है। अश्लील का अर्थ शोभा नष्ट करने या धब्बा लगाने वाला होगा। हिन्दी में अश्लील का अर्थ साधारणतः लज्जा-अश्लील से लिया जाता है, पर काव्य में "अश्लील" शब्द अनुचित के लिये होने से घृणित और अमङ्गल वर्णन को भी "अश्लील" की सीमा मे मानते हैं।

संस्कृत मे "लज्जा-अश्लील" बहुत संकुचित है जब कि हिन्दी में साधारण श्रृंगारिक वर्णन भी अश्लील माने जाते है, संस्कृत मे उनकी चरम सीमा भी अश्लील नही मानी जाती। किसे अश्लील मानते है और किसे नही, यह कवि प्रयोग से जाना जा सकता है।

शोभा-रहित न होते हुये भी जो प्रयोग असभ्य अर्थ का बोधक होता है, उसे अश्लील कहते है। इसके विपरीत जो प्रयोग स्वतः शोभा-रहित है, उसे ग्राम्य कहते हैं; यह दोनो मे अन्तर है।

जहाँ अभिधा से विपरीत अर्थ की प्रतीति हो, समास हो और अर्थ श्लील हो, वहाँ विरुद्धमतिकृत् दोष होता है। इसके विपरीत जहाँ व्यञ्जना से विपरीत अर्थ निकले, समास हो या न हो और अर्थ अश्लील हो, वहाँ अश्लील दोष होता है। यह दोनो मे अन्तर है।

प्रत्येक अश्लील के तीन भेद किये जा सकते हैं :—

१. विवक्षित अर्थ का व्रीडादि-आलम्बन होने से,

२. प्रकृतार्थ में अन्वित होने वाले अविवक्षित अर्थ का व्रीडा-आलम्बन होने से तथा

३. प्रकृतार्थ में अन्वित न होने पर भी विवक्षित अर्थ का स्मरण होने से।

शिवलिङ्ग, सुभगा, भगिनी, ब्रह्माण्ड आदि शब्दों के अच्छे अर्थ में प्रसिद्धि होने से अश्लीलता की प्रतीति नहीं होती, अतः ये अश्लीलत्व दोष के उदाहरण नहीं होते। अश्लीलत्व दोष मे अप्रिय अर्थ से श्रोता सुनने से विमुख हो जाता है

जिससे अर्थ और रस से उसका सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है; यही दूषकता-बीज है। इसका निवारण करना चाहिये।

अश्लीलत्व दोष हास्य और शोक में गुण में बदल जाता है, अतः यह अनित्य दोष है। ऐसी स्थिति में उदाहरण वैसे संदर्भ का नहीं देना चाहिये। यहाँ संदर्भ-अभाव के कारण यह नही पता चलता कि हास्य और शोक का वर्णन है या नही।

उदाहरण मे "साधन" शब्द का विवक्षित अर्थ "निमित्त" है पर पुरुष के गुप्तांग की प्रतीति होने से दोष है। इसी प्रकार "वायु" शब्द पवन के लिये विवक्षित है पर इससे अपान वायु की प्रतीति होती है। "नाश" शब्द विरह के अर्थ में होने पर भी इससे मरण अर्थ निकलता है। ये तीनो अर्थ क्रमशः व्रीड़ा, जुगुप्सा और अमङ्गल (रूप) होने से उस-उस नाम के अश्लीलत्व दोष में परिगणित हैं ॥८॥]

स्याद्द्व्यर्थमिह सन्दिग्धं नद्यां यान्ति पतत्रिणः।
स्यादप्रतीतं शास्त्रैकगम्यं वीताऽनुमादिवत् ॥ ९ ॥

स्यादिति। इह अलङ्कारशास्त्रे। द्वौ अर्थौ यस्य तत् पदं द्व्यर्थम्। सन्दिग्धम् (नाम दुष्टं पदम्)। (उदाहरति यथा) पतत्रिणः पक्षिणः। नद्यां सरिति इति विवक्षितम् वा न द्यां स्वर्गं वेति स्पष्टं न ज्ञायते, अतः सन्दिग्धम्। यान्ति गच्छन्ति।

वीतानुमादिः संज्ञा (पारिभाषिक)-शब्दः साङ्ख्यशास्त्रे एव प्रसिद्धः। तद्वत्। शास्त्रैकगम्यं सांख्ययोगादिशास्त्रेण एकम् एकमात्रं गम्यं बोध्यम्। अप्रतीतं (नाम दुष्टं पदं) स्यात् भवत्। काव्ये लोकप्रसिद्धानि एव पदानि व्यवह्रियन्ते। एकस्मिन् एव शास्त्रे प्रसिद्धे विरलप्रचारे वा पदे उपन्यस्ते अर्थ-प्रतीतौ बाधा अनुभूयते ॥ ९ ॥

इस (अलङ्कार-शास्त्र) में दो अर्थ वाला (पद) सन्दिग्ध (नामक दोष) है।

(उदाहरण:—) पक्षी नदी में या स्वर्ग को जाते हैं। "वीतानुमा" इत्यादि

(पद) की तरह शास्त्र से ही एकमात्र जानने योग्य (पद) अप्रतीत (नामक दोष का उदाहरण) है ॥६॥

[दो अर्थ वाले से अभिप्राय है कम से कम दो अर्थ वाला; दो से अधिक अर्थ निकलने वाले पद भी इस दोष के अन्तर्गत आयेंगे।

सन्दिग्ध का अर्थ है सन्देह-युक्त। एक से अधिक अर्थ निकलने पर संदेह हो जाता है कि किस अर्थ में यह शब्द लगाया जाय। इससे अर्थ की प्रतीति मे बाधा होने से दोष पैदा होता है।

"निहतार्थत्व" दोष से इस (सन्दिग्धत्व) दोष का अन्तर यह है कि पहले मे प्रसिद्ध की जगह अप्रसिद्ध अर्थ याद करने पर ही काम चलता है। इसके विपरीत दूसरे (सन्दिग्ध) दोष मे एक से अधिक प्रसिद्ध अर्थ एक ही जगह बैठने लगते हैं और परेशानी होती है कि कौन-सा अर्थ ग्रहण किया जाय।

दूसरे चरण में उदाहरण है। यहाँ "नद्याम्" है या "न द्याम्" यह सन्देह उत्पन्न होता है। नदी से नद्याम् और द्यौ से द्याम् बनता है। नद्याम् सप्तमी मे है और द्याम् द्वितीया मे। नद्याम् का अर्थ है नदी मे और न द्याम् का अर्थ "स्वर्ग को नही"।

"यह यही है" यह निश्चित ज्ञान न होना संदेह कहलाता है।

"अप्रतीति" नामक दोष तब होता है जब किसी शास्त्र का पारिभाषिक शब्द काव्य में प्रयुक्त किया जाय। यह जरूरी नहीं है कि काव्य का श्रोता या पाठक सभी शास्त्रों का पूर्ण ज्ञाता हो। काव्य रसज्ञों के लिये होते हैं; विद्वानों के लिये नहीं।

अप्रयुक्त दोष में इसे भी रखा जा सकता है, क्योंकि कवियों के द्वारा अनादृत है, किन्तु परम्परा से इसे अलग किया जाता रहा है। दोनो में थोड़ा अन्तर भी है। अप्रयुक्त में शब्द तो प्रचलित होता है पर उसका विशिष्ट (खास) रूप प्रचलित न होने पर भी प्रयुक्त किया जाता है। इसके विपरीत अप्रतीत दोष में शब्द ही ऐसा होता है जो काव्य में नहीं आता और अर्थ के लिए शास्त्र-विशेष को उलटने की जरूरत होती है या सभी शास्त्रों की विद्वत्ता आवश्यक होती है।

शास्त्रीय अर्थ में यदि शब्द, काव्य में प्रयुक्त किया जाता है, तभी यह दोष आता है। यदि "वीत (निकल गई है) अनुमा (अनुमान) जिससे" इस अर्थ में प्रयोग किया जाय तो अप्रतीत दोष नहीं होगा। उदाहरण अधूरा-अधूरा देने से दोष के स्वरूप का ठीक निर्धारण यहाँ नहीं हो पा रहा है।

सांख्य-शास्त्र में अनुमान के भेदों में वीतानुमान प्रसिद्ध है। "अन्वय-व्याप्ति से उत्पन्न हो रहे ज्ञान" को वीतानुमान कहते हैं। अनुमान का पर्यायवाची "अनुमा" शब्द होने से यहाँ वीतानुमा का प्रयोग है।

केवल अलङ्कार-शास्त्र में प्रसिद्ध होने पर यह दोष नहीं होगा क्योंकि अर्थ-बाधकता नहीं आयेगी।

सार-बोधिनी (नामक काव्यप्रकाश-टीका) में प्रतीत की व्युत्पत्ति "प्रति प्रति शास्त्रे इतं ज्ञात प्रतीतम्। न प्रतीतम् अप्रतीतम्" की गई है जिससे इसका लक्षण अपने आप निकल आता है ॥९॥]

शिथिलं शयने लिल्ये मच्चित्तं ते शशिश्रियि।
मस्तपिष्टकटीलोष्ट गल्लादि-ग्राम्यमुच्यते ॥ १० ॥

शिथिलमिति। (अथ) शिथिलम् (नाम दुष्टं पदम्)। शशिनं श्रयतीति शशिश्रि तस्मिन्। शशिसदृशे इत्यर्थः। ते तव। शयने पल्यङ्के मम चित्तं मनः। लिल्ये अलीयत।

मस्तश्च पिष्टं च कटी च लोष्टं च गल्लश्च आदयःयस्य तत् (दुष्टं पदं) ग्राम्यम् उच्यते कथ्यते। एतानि उदाहरणपदानि मस्तचूर्णाङ्ग-नितम्ब-मृत्पिण्ड-कपोलार्थेषु ग्राम्याणि ॥ १० ॥

शिथिल (दोष निम्नलिखित उदाहरण में है):—
चन्द्रमा के समान तेरी पलँग में मेरा मन लीन हो गया है।
मस्त, पिष्ट, कटी, लोष्ट और गल्ल आदि (पद) ग्राम्य कहे जाते हैं।

[श्लोक के पूर्वार्ध में दिये उदाहरण को पढने से काव्य-मर्मज्ञों को शिथिल-बन्धता का अनुभव होता है, अतः शिथिलत्व-नामक दोष है। इसमें काव्यज्ञ ही प्रमाण हैं।

ग्राम्यत्व दोष तब आता है जब ऐसे पद प्रयुक्त किये जायँ जो साहित्यिक-समाज में हेय पर अन्यत्र लोगों में प्रचलित हों। मस्त, पिष्ट, कटी, लोष्ट, और गल्ल शब्द क्रमशः मत्त, आटे, कमर, ढेले तथा गाल के लिये गाँवों मे प्रयुक्त किये जाते हैं; साहित्यिकों में नहीं।

यह दोष ग्राम्य, अनागर और नागर भेदो से तीन प्रकार का होता है। ग्राम्य वे शब्द है जो केवल ग्राम में प्रचलित हों, उपनागर वे है जो न ग्राम्य है न नागर और नागर वे शब्द हैं जो केवल नगर मे बोले जाते है।

यह दोष अनित्य है, क्योंकि विदूषक जैसे अधम पात्रों की उक्ति या हास्यरस मे गुण हो जाता है। ऐसी स्थिति में केवल पद-मात्र कह देने से दोष का उदाहरण ठीक नहीं बैठता; अव्याप्ति होती है। ऐसे प्रसग का उदाहरण होना चाहिए जहां हास्य या विदूषक उक्ति नही है।

अप्रयुक्त और ग्राम्य मे इतना ही भेद है कि पहला शास्त्र-सिद्ध होता है, काव्य-प्रचलित नहीं, जब कि दूसरा केवल लोक (साहित्येतर जगत्) मे प्रसिद्ध होता है।

अश्लीलत्व से भी ग्राम्यत्व-दोष भिन्न है। पहला विदग्ध और अविदग्ध दोनो को खटकता है जब कि दूसरा केवल विदग्धों को।

मस्त के लिए मत्त या उन्मत्त, पिष्ट के लिये चूर्णान्न (आटा), कटी के लिये नितम्ब या श्रोणी, लोष्ट के लिये मृत्तिकाखण्ड तथा गल्ल के लिये गण्ड या कपोल शब्द प्रयुक्त करने पर दोष का परिहार हो जाता है। यह शब्द-दोष है ॥१०॥]

नेयार्थं लक्षणात्यन्तप्रसरादमनोहरम्।
हिमांशोर्हारधिक्कारजागरे यामिकाः कराः ॥ ११ ॥

नेयार्थमिति। लक्षणायाः **अत्यन्तः** अत्यधिकः च सः **प्रसरः** विस्तरः च तस्मात् **अमनोहरम्** असुन्दरम् (दुष्टं पदम्)। **नेयार्थम्** (नाम) (नेयः स्वकल्पनया अन्यथा लभ्यः अर्थः यस्मिन् तत्)।

(उदाह्रियते यथा :—) **हिमांशोः** हिमाः अंशवः यस्य तस्य चन्द्रस्य।

करा: किरणाः । **हारेण** कामिनी-स्रजा (कृतो) यो **धिक्कारः** तिरस्कारः । तेन यः चन्द्रस्य **जागरः** जागरणम् । तत्र । **यामिका** प्रहरकाः । कामिनी-मुक्ताहारस्य शोभा चन्द्रकिरणशोभायाः अपि अधिका इति विवक्षितार्थः किन्तु लक्षणायाः अप्रसिद्धतया अत्यन्तविस्तरात् अर्थस्य अप्रतीतिः प्रतीतौ अमनोज्ञता वा ॥ ११ ॥

लक्षणा के अत्यन्त विस्तार से जो हृदयहारी नहीं रह जाता वह (दुष्ट पद) नेयार्थ (नामक दोष के अन्तर्गत आता) है।

(उदाहरण :—) (कामिनी के) हार से प्राप्त तिरस्कार के कारण (चन्द्रमा के) जागरण में चन्द्र-किरणें पहरेदार हैं [अर्थात् चन्द्र की अपेक्षा हार की शोभा श्रेष्ठ है] ॥ ११ ॥

[निरूढा लक्षणाः काश्चित् सामर्थ्यादभिधानवत् ।
क्रियन्ते साम्प्रतं काश्चित् काश्चिन्नैव त्वशक्तितः ॥ [तन्त्र-वार्तिक]

मुख्य अर्थ का बाध होने पर उक्त भाट्ट मत के अनुसार कुछ लक्षणायें रूढ़ हो जाती हैं और उनमें प्रसिद्धि के कारण सामर्थ्य आ जाती है, कुछ लक्षणायें प्रयोजन के लिये गढ़ी जाती हैं पर प्रचलन और सामर्थ्य होने पर ही। दोनों ही दशाओं में मुख्य अर्थ से सम्बन्ध बना रहता है, भले ही उसका बाध हो। अन्य लक्षणायें सामर्थ्य के अभाव से नहीं हो सकतीं। ऊपर के उदाहरण में हार, धिक्कार और यामिक पदों से किसी का श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिये लक्षणा रूढ़ नहीं है और न यहाँ ऐसी लक्षणा लाने का कोई प्रयोजन ही सिद्ध होता है। "गङ्गायां घोषः" लक्षणा का एक उदाहरण है। संस्कृत में यह लक्षणा रूढ़ है और इसमें घोष (अहीरों के गाँव) को गङ्गा के अन्दर कहकर शीतलता, पावनता आदि प्रयोजनों की सिद्धि की गई है।

श्लोक में दिये उदाहरण में लक्षणा का बहुत अधिक विस्तार होने से उसी की मीमांसा में पड़ जाने से पाठक या श्रोता का मन अर्थ और रस से दूर शास्त्र-चिन्ता में लग जाता है जिससे काव्य का उद्देश्य ही नष्ट हो जाता है। उदाहरण की लक्षणा से निम्नांकित अर्थ निकाला गया है :—

कामिनी का हार इतना सुन्दर है कि चन्द्रमा का तिरस्कार होता है जिससे

चिन्तित होकर वह जागता रहता है। तिरस्कार करने वाला शत्रु कहीं पास आकर और हानि न करे, इस डर से वह जो पहरेदार नियुक्त करता है, किरणें वे ही (पहरेदार) हैं।

लक्षणा-वृत्ति के असामर्थ्य से उसके अभाव में अर्थ की प्रतीति न होना दोष है।

लेखक ने लक्षणा की असमर्थता न मानकर उसका अत्यंत विस्तार अमनोरम होने से दोष का कारण है, यह माना है। अन्य लेखक असमर्थता मानते हैं। इस आधार पर कभी-कभी नेयार्थ के दो भेद किये जाते हैं :—

(१) प्रयोजन और रूढ़ि के न होने पर लक्षणा करना।

(२) लक्षणा का विस्तार।

वास्तव में दोनो मे एक ही बात है। अत्यन्त विस्तार से भी असामर्थ्य आ जाने से लक्षणा का अभाव हो जाता है।

प्रकृत (प्रस्तुत) अर्थ में वृत्ति के अभाव से यह दोष होता है, अतः अप्रयुक्त दोष से भिन्न माना जाता है। अप्रयुक्त का संबंध लक्षणा की असमर्थता से नही होता।

यह दोष नित्य माना गया है।

हिन्दी में लक्षणाओं के सुन्दर उदाहरण मुहावरे हैं। वे किसी प्रयोजन से मुख्य अर्थ का बाध कर उसके सहारे अन्य अर्थ का ग्रहण करते हैं ॥११॥]

क्लिष्टमर्थो यदीयोऽर्थश्रेणिनिःश्रेणिमृच्छति।

हरिप्रियापितृवधूप्रवाह-प्रतिमं वचः ॥ १२ ॥

क्लिष्टमिति। (तत्) क्लिष्टं (नाम दुष्टं पदम्)। यदीयः यस्य। अर्थः वाच्यः। अर्थानां वाच्यानाम्। श्रेण्या समूहेन। निःश्रेणिं परम्पराम्। ऋच्छति गच्छति। अर्थ-परम्परया यत्र स्खलनं अर्थः तत्रायं दोषः आपतति।

(उदाह्रियते यथा) वचः वचनम्। हरेः विष्णोः। प्रिया लक्ष्मीः। तस्याः पिता तातः समुद्रः। तस्य वधूः गङ्गा। तस्याः प्रवाहप्रतिमं प्रवाहतुल्यम्। [अत्र हरिप्रियापितृवधूः इति अर्थपरम्परया गङ्गार्थ-बाधकत्वं क्लिष्टत्वम् ॥ १२ ॥

जिसका अर्थ, अर्थ-समूह से परम्परा की प्राप्ति करता है, वह क्लिष्ट (नामक दुष्ट पद) है।

(उदाहरणः—) वचन, विष्णु-पत्नी के पिता की पत्नी (गङ्गा) के प्रवाह के तुल्य है ।।१२।।

[शब्द-समूह से अर्थ-समूह निकलता है। उसकी परम्परा शब्द-परम्परा के कारण आई अर्थ-परम्परा होगी। इस विस्तार से जब कोई अर्थ निकाला जाता है, तब क्लिष्ट दोष होता है।

मम्मट भट्ट ने इसका सीधा लक्षण किया है कि जहाँ अर्थ की प्रतिपत्ति व्यवहित होती है, वहाँ क्लिष्ट दोष होता है। जयदेव और बारीकी में गये हैं और उन्होंने लक्षण (=परिभाषा) की व्यापकता को सीमित करने का प्रयास किया है। यह परिभाषा अपेक्षाकृत अच्छी है।

इस अर्थों की सीढ़ी पर चढते जाने से पाठक या श्रोता थक जाता है या भ्रान्त हो जाता है और अर्थ या रस से हटकर वह शब्दार्थों की पहेली में फँस जाता है। काव्य मे ऐसी पहेलियाँ देना दोष है।

विष्णु की प्रिया (लक्ष्मी) के पिता (समुद्र) की वधू (गंगा) कहने से पूरी पहेली बन जाती है। एक ही स्थान पर इतने अर्थ आ जाने पर भी कुछ विशेष अर्थ न निकलकर गंगा अर्थ निकलना "खोदा पहाड निकली चुहिया" की उक्ति चरितार्थ करता है। यदि विष्णु-प्रिया से लक्ष्मी अर्थ लिया जाय और समुद्र-वधू से गंगा का, और ये अलग-अलग रहे तो दोष नहीं है। यहाँ औरतों की तरह दूर-दूर के संबंध जोडने की कला से क्लिष्ट दोष हुआ है।

विलंब से अर्थ की प्रतीति दूषण-बीज है।

यह उदाहरण समस्त (समास-युक्त) पद में घटित होता है। क्लिष्ट दोष समास-गत ही होता है, व्यास (समास का अभाव)-गत नहीं।

निहतार्थ तथा क्लिष्ट में यह अन्तर है कि पहले में पदार्थ (वास्तविक अर्थ) की प्रतीति में विलम्ब होता है और अन्य अर्थ (जो प्रसिद्ध है) प्रतीत होने लगता है तथा दूसरे (क्लिष्ट) में केवल एक अर्थ प्रतीत होता है और बहुत विलम्ब के साथ।

यह अनित्य दोष है। प्रहेलिका और यमक में यह दोष नहीं होता और परिहास और उन्मत्त के प्रलाप में यह गुण भी हो सकता है।

इस दोष के लिये एक अर्थ का दूसरे और दूसरे का तीसरे आदि से संबंध समास में ही होना आवश्यक है। गंगा-प्रवाह-प्रतिम कहने के लिये ऐसा द्राविड़ प्राणायाम करना अर्थ-प्रतीति मे बाधक होता है ॥१२॥]

अविमृष्ट-विधेयांशः समासपिहिते विधौ।
विशन्ति विशिखप्रायाः कटाक्षाः कामिनां हृदि ॥ १३ ॥

अविमृष्टेति। **विधौ** विधेये। **समासेन** इतरपद-सम्बद्धेन। पिहिते व्यवहिते सति। **अविमृष्टविधेयांशः** (नाम दोपः)। विमृष्टः प्राधान्येन निर्दिष्टः विधेयः अंशः यत्र सः दोपः वा "न विमृष्टश्च सः विधेयाशः च" वा।

(उदाहरति यथा) **विशिखप्रायाः** बाणतुल्याः। **कटाक्षाः** कटौ अतिशयितौ अक्षिणी नेत्रे यत्र ते। कामिनाम्। हृदि हृदये। **विशन्ति** प्रविशन्ति।

अत्र विशिखवत् प्रविशन्ति इति अर्थः प्रवेशे तीव्रतां द्योतयितुं विवक्षितः किन्तु प्रायशब्देन विशिखशब्दे समस्ते पिहितः कटाक्षविशेषणत्वेन च गृहीतः प्रवेशनक्रियायाम् अन्वेतुं न समर्थः ॥ १३ ॥

विधेय के समास से ढक जाने पर अविमृष्टविधेयांश (नामक दोष) होता है।

(उदाहरणः—) बाण-तुल्य कटाक्ष, कामियों के हृदय में घुस जाते हैं ॥१२॥

[विधेय के उद्देश्य में चले जाने से उसकी अनुपस्थिति से यह दोष होता है। समास कर देने से यहाँ "विशिख-प्राय" पद कटाक्ष का विशेषण होकर उद्देश्य बन गया जब कि अर्थ ठीक-ठीक तब निकलेगा जब "विशिख" शब्द को विधेय में डालकर उसका अन्वय "विशन्ति" के साथ किया जाय। ऐसा करने के लिये "विशिखवत्" "या विशिखप्रायम्" प्रयोग उत्तम होता। यहाँ "विशिखप्रायाः सन्तः" (=होते हुये) विशन्ति" इस प्रकार अन्वय करने से किसी प्रकार अर्थ निकलेगा।

उद्देश्य और विधेय का क्रम बदलने पर वास्तविक विधेय न प्राप्त हो पाने से भी यह दोष होता है।

विधेय की अनुपस्थिति दोष का बीज है।

यद्यपि क्रिया से उद्देश्य के अन्वित होने के कारण उसका विशेषण भी अन्वित होता है किन्तु यह अन्वय सीधा न होकर घुमा-फिराकर होने से दोष है।

उद्देश्य और विधेय की परिभाषा भट्ट-वार्त्तिक के अनुसार निम्नलिखित हैः—

यच्छब्दयोगः प्राथम्यं सिद्धत्वं चाप्यनूद्यता।
तच्छब्दयोग औत्तर्यं साध्यत्वं च विधेयता॥

वाक्य के पूर्वार्ध का योग "यत्" शब्द के साथ होता है और उत्तरार्ध का तत् शब्द के साथ तथा दोनो क्रमशः उद्देश्य और विधेय कहलाते है; जैसेः— "यः क्रियावान् स पण्डितः" मे "क्रियावान्" उद्देश्य और "पण्डित" विधेय है। "क्रियावान् पण्डितः" आदि उदाहरणों में यत् तथा तत् शब्द प्रयुक्त नही होते पर गम्य होने के कारण उद्देश्य और विधेय का बोध करा देते हैं।

उद्देश्य और विधेय का पृथक्-पृथक् निर्देश न करने से यहाँ दोष है॥१३॥]

अपराधीन इत्यादि विरुद्धमतिकृन्मतम्।
अन्यसङ्गतमुत्तुङ्गहारशोभिपयोधरौ ॥१४॥

अपराधीन इति परस्य अधीनः पराधीनः। न पराधीनः अपराधीनः। इति आदिः यस्य तत् (दुष्टं पदम्)। **विरुद्धमतिकृत्** (विरुद्धस्य मतिः यद्वा विरुद्धा च सा मतिश्च। तत्कृत्) (नाम) **मतम्** कथितम्। अत्र अपरस्य अन्यस्य अधीनः इति विरुद्धार्थस्य प्रतीतिः दोषबीजम्।

उत्तुङ्गौ उन्नतौ **हारशोभिनौ** स्रक्सुन्दरौ तौ **पयोधरौ** स्तनौ च (इत्यत्र)। **अन्यसङ्गतम्** [अन्येन सङ्गतम्] (नाम दुष्टं पदम्)। अत्र उदाहरणे उत्तुङ्गशब्दः पयोधरयोः विशेषणं किन्तु हारशब्दस्य पूर्ववर्त्तित्वात् हारस्य विशेषणं प्रतीयमानः अन्यसङ्गतत्वदोषस्योदाहरणम्।

"अपराधीन" इत्यादि (उदाहरण) विरुद्धमतिकृत् (नामक दोष) माने गये हैं। "उत्तुङ्गहारशोभिपयोधर" (उदाहरण) अन्यसङ्गत (नामक दोष) माना गया है।

[विरुद्धमतिकृत् दोष वहाँ होता है जहाँ प्रकृत (प्रस्तुत) अर्थ का प्रतिबन्धक अप्रकृत (अप्रस्तुत) अर्थ उत्पन्न होता है। परिभाषा यहाँ नहीं दी गई है। केवल उदाहरण से दोष का लक्षण निकालना है। लेखक को "अपराधीन" पद से "जो पराधीन नहीं है" अर्थ निकालना इष्ट है पर "अपर (अन्य) व्यक्ति के अधीन" अर्थ की प्रतीति उस अर्थ मे बाधक है।

"अभवन्मत" में इष्ट अन्वय का बोध नहीं होता पर विरुद्धमतिकृत् में अनिष्ट अन्वय का बोध होता है; यही दोनो का अन्तर है।

अनुचितार्थत्व और अश्लीलत्व नामक दोषो मे परस्पर प्रतिबन्धकता न होने तथा एक पद मे होने के कारण विरुद्धमतिकृत् से वे भिन्न हैं जिसमें परस्पर प्रतिबन्धकता और पदान्तरसन्निधान का होना आवश्यक है।

निहतार्थत्व दोष एक पद में होने के कारण विरुद्धमतिकृत्त्व से भिन्न है जिसके लिये समस्त (=समास-युक्त) पद होना आवश्यक है।

विरुद्धमतिकृत् का उक्त उदाहरण समासान्तरविग्रह का है। कहीं-कहीं विरुद्धार्थक रूढ़ समस्त (समास-युक्त) पद को तोड़कर यौगिक अर्थ विवक्षित होने पर यह दोष होता है; गलग्रह का अर्थ एक रोग है और इसी अर्थ में यह रूढ़ है पर इसका अर्थ कण्ठ-ग्रहण (गले लगना) इष्ट हो तो विरुद्धमतिकृत् का दूसरा भेद होगा।

कहीं-कहीं पद की व्यर्थता का प्रसङ्ग आने से विरुद्ध अर्थ की प्रतीति होती है; इसका उदाहरण "भवानी-पति" है। इसका अर्थ शिव लेने से विरुद्ध अर्थ "भव (शिव) की पत्नी के पति अर्थात् शिव से भिन्न पति" की प्रतीति होगी क्योंकि स्त्री-लिङ्ग प्रत्यय "आनुक्" तथा पति पद की व्यर्थता का प्रसंग आने से विरुद्ध अर्थ की ओर जाने के लिये पाठक या श्रोता विवश होगा।

"अन्य-सङ्गत" का अर्थ है भिन्न पद से जुट जाना जिससे विवक्षित अर्थ न निकल पाये। उदाहरण में "उत्तुङ्ग" शब्द "पयोधर" के पहले जुटना चाहिये तभी उन्नत स्तन का अर्थ निकलेगा; उसके "हार" के पहले जुटने से वह "हार" का विशेषण प्रतीत होता है। समास के सन्देह से अर्थ-बोध में विलम्ब होना दूषकता का कारण है।

ऊपर बताये गये क्लिष्ट, अविमृष्ट-विधेयांश, विरुद्धमतिकृत् तथा अन्य संगत के उदाहरण केवल समास होने पर होते हैं।

असंगत दोष काव्य-प्रकाशादि के अनुसार "अविमृष्ट-विधेयांश" के अन्तर्गत लाना होगा ॥ १४ ॥]

रसाद्यनुचिते वर्णे प्रतिकूलाक्षरं विदुः।
न मामङ्गद जानासि रावणं रणदारुणम् ॥ १५ ॥

रसेति। वर्णे। रसः आदिः येषां ते रसादयः तेषाम्। अनुचिते अनर्हे (सति)। प्रतिकूलाक्षरं (प्रतिकूलानि अक्षराणि यत्र) नाम (दूषणं) विदुः जानन्ति (विद्वांसः इति शेषः)।

(उदाहरति यथा) (हे) अङ्गद (सम्बुद्धौ) रामदूत बालिपुत्र। रणे युद्धे दारुणं कर्कशम्। माम् रावणं न जानासि अवगच्छसि। अत्र उदाहरणे वीररसः किन्तु प्रयुक्ताः वर्णाः शृङ्गाररसोचिताः न तु वीररसोचिताः प्रतिपाद्यस्य रसस्य अप्रतीतिः दूषकताबीजम् ॥१५॥

वर्ण के रस आदि के लिए अनुचित होने पर प्रतिकूलाक्षर (नामक दोष) (विद्वानों के द्वारा) जाना गया है।

(उदाहरण :—) (हे) अङ्गद, युद्ध में कठोर मुझ रावण को (तू) नहीं जानता ॥ १५ ॥

[बीस पद दोष कहने के पश्चात् अब वाक्य-दोष कहे जा रहे हैं जिनमें पहला प्रतिकूलाक्षर है। अक्षर हमेशा रस के अनुकूल रखे जाते हैं जिससे उस (रस)-की पुष्टि होती है। यदि भिन्न रस के पोषक अक्षर रखे जाते है तो प्रतिपाद्य रस की पुष्टि में बाधा पहुँचने से दोष होता है। वीर रस में ओजस्वी रचना के लिये परुष वर्ण और समास की बहुलता अपेक्षित है, किन्तु यहाँ कोमल वर्ण आये हैं जो शृङ्गार-रस के लिये उचित, कोमल और प्रसाद-गुण-युक्त हैं ॥ १५ ॥

यस्मिन्नुपहतो लुप्तो विसर्ग इह तत्तथा।
कुसन्धिः पटवागच्छ विसन्धिर्नृपती इमौ ॥१६॥

यस्मिन्निति । यस्मिन् (वाक्ये) । विसर्गः उपहतः अवस्थान्तरं प्राप्तः । **यस्मिन्** (वाक्ये) च विसर्गः **लुप्तः** । इह अलङ्कारशास्त्रे **तत्** (दूषणं) **तथा** उपहतविसर्गः लुप्तविसर्गश्चेत्यर्थः । उदाहरणे अत्रैव श्लोके पूर्वार्धे वर्त्तते । उपहतविसर्गस्य (दूषणस्य) उदाहरणं यथा उपहतो लुप्तो वा । अत्र विसर्गस्य उत्वम् अवस्थान्तरद्योतकम् । लुप्तविसर्गस्य उदाहरणं यथा द्वितीये चरणे "विसर्ग इह" । अत्र विसर्गस्य लोपः ।

(अथ) **कुसन्धिः** । उदाहरणं यथा **पटवागच्छ—पटो** आगच्छ । **कुसन्धिः** सन्धिवैरूप्यम् । अश्लीलतया वा क्लिष्टतया वा उद्भवति । अत्र उदाहरणे सन्धौ कुत्सितत्वम् ।

(अथ) विसन्धिः । (उदाहरति यथा) नृपती इमौ ॥ १६ ॥

[विसर्ग का परिवर्तन, विसर्ग का लोप तथा विसन्धि दोप तब होते हैं जब एक से अधिक बार किसी का प्रयोग हो; एक बार के प्रयोग से दोप नहीं होता । यहाँ परिभाषा स्पष्ट नहीं है । लगता है, लेखक ने स्मरण के लिये टिप्पणी तैयार की है ।

ऊपर जो उदाहरण आये हैं, उनमें विसर्ग का उत्व तथा उसका लोप एवं सधि न होना सभी स्थितियाँ व्याकरण-सम्मत है । व्याकरण का उल्लंघन करने पर तो दोष आ ही जायेगा; व्याकरण से ठीक होने पर भी दोप इसलिये होता है क्योंकि कवियों के द्वारा एक ही श्लोक में ऐसी स्थिति बार-बार नहीं लाई गई है ।

व्याकरण-सम्मत सन्धि न करना भी विसन्धि दोप है । सन्धि अनिवार्य है । यदि अनिवार्य न हो तो उसके लिये व्याकरण-शास्त्र में विकल्प होता । जहाँ-जहाँ विकल्प हैं, वहाँ दोनो प्रयोग हो सकते हैं और जहाँ संधि न होने का विधान है, वहाँ संधि नहीं होगी । श्लोक में ही नहीं, गद्य में भी सन्धि अनिवार्य है । नीचे के श्लोक में जो यह कहा गया है कि वाक्य में सन्धि करना ऐच्छिक है, वह भ्रामक है । आज-कल के प्रचलन के अनुसार सरलता के लिये सन्धि न करना दूसरी बात है । सन्धि न होने पर विराम की स्थिति आ जाने से वाक्य मे अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती । "रामः

गच्छति" और "रामो गच्छति में अन्तर है। पहले का अर्थ होगा "रामः। गच्छति" ये शब्द अलग-अलग होने से एक अर्थ मे अन्वित नहीं हो सकते। वाक्य में संधि की ऐच्छिकता बताने वाला श्लोक निम्नलिखित है :—

संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोः।
नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते ॥

"नृपती इमौ" उदाहरण मे विसन्धि व्याकरण-सम्मत होने से कई जगह ऐसी स्थिति आने पर दोष होगा। अप्रचलित होने से खटकता है। "ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्" और "प्लुत-प्रगृह्या अचि नित्यम्" सूत्रों के अनुसार "नृपती" के अंत का ईकार द्विवचनान्त होने के कारण प्रगृह्य है और प्रगृह्य के बाद स्वर आने पर स्वर-सन्धि नही होती।

कुसन्धि-दोष तब होता है जब सन्धि होने पर अटपटा प्रतीत हो। यहाँ "पटवागच्छ" में अटपटापन प्रतीत हो रहा है ॥१६॥]

हतवृत्तमनुक्तोऽपि च्छन्दोपश्चकास्ति चेत्।
विशाललोचने पश्याम्बरं तारातरङ्गितम् ॥१७॥

हतेति। न उक्तः अनुक्तः अकथितः। अपि। छन्दसः दोषः चकास्ति आभासते। चेत् यदि (तदा)। हतवृत्तम् (नाम दुष्टं वाक्यम् भवति)।

(उदाहरति यथा) विशाले लोचने यस्याः सा आयताक्षि। ताराभिः नक्षत्रैः तरङ्गितं सञ्जाततरङ्गम्। अम्बरं नभः। पश्य अवलोकय। अत्र अनुष्टुप्छन्दः। छन्दो दोषस्य असत्त्वे सत्यपि तृतीयचरणान्तस्थितस्य अकारस्य चतुर्थचरणारम्भस्थितेन अकारेण सन्धौ सति प्रस्तत्वात् दोषः आभासते ॥ १७ ॥

न कहे जाने (या न होने) पर भी यदि छन्द दोष भासित होता है तो हतवृत्त (नामक वाक्य-दोष) होता है।

(उदाहरण :—) हे दीर्घ नेत्रों वाली, ताराओं से तरङ्गित आकाश देखो ॥ १७ ॥

[छन्द ठीक होने पर भी यदि कोई अप्रचलित संधि कर देने से दोष-सा

प्रतीत होता है तब हतवृत्त की स्थिति आती है। यहाँ "अम्बरम्" के आरंभ के "अ" के "पश्य" के अंतिम "अ" से जुटने के कारण विरसता प्रतीत होती है। यदि "अम्बरम्" के स्थान पर "नभः" या "व्योम" कर दिया जाय तो दोष नहीं रहेगा। यह दोष केवल वाक्य में आ सकता है; पद में नहीं।

यति के स्थान पर सधि नही की जाती। संधि करने पर खटकती है ॥१७॥]

न्यूनं त्वत्खड्गसम्भूतयशःपुष्पं नभस्तटम्।
अधिकं भवतः शत्रून् दशत्यसिलताफणी ॥१८॥

न्यूनमिति। अथ न्यूनम् (नाम दुष्टं वाक्यम्)। (उदाहरति यथा) **नभसः** आकाशस्य। तटं तीरम्। तव **खड्गात्** करवालात्। **संभूतं** जातं **यशः** कीर्तिः एव **पुष्पं** कुसुम यस्य तत् (तादृशं)। वर्त्तते इति शेषः। अत्र उदाहरणे यशसः पुष्पत्वरूपणे खड्गस्य लतात्वरूपणमपेक्षितम्। तदभावात् न्यूनत्वम्।

अथ अधिकम् (नाम दुष्टं वाक्यम्)। (उदाहरति यथा) असिः खड्गः एव लता वल्लरी। असिलता एव फणी सर्पः। भवतः तव। शत्रून् अरीन् दशति। अत्र असिफणीति विवक्षितम्। लतेति पदम् अधिकम्॥ १८ ॥

न्यून (नामक दोष-युक्त वाक्य का उदाहरण) :—आकाश के किनारे आप की तलवार से उत्पन्न कीर्ति-रूपी फूल हैं।

अधिक (नामक दोष-युक्त वाक्य का उदाहरण) :—

तलवार-रूपी लता का सर्प आप के दुश्मनों को डसता है।

[यहाँ जब यश को पुष्प बताया गया तब खड्ग को लता बनाना अभीष्ट था। इस रूपक के अभाव से यहाँ न्यूनत्व दोप है।

दूसरे उदाहरण मे लेखक को असि-रूपी सर्प कहना है पर लता शब्द जोड़ देने से अधिकत्व दोष हो गया है।

"न्यून" में अर्थ को पुष्ट करने के लिये जिस शब्द की आवश्यकता होती है, उसकी न्यूनता (कमी) दोष-बीज होती है तथा "अधिक" में जो

पद अर्थ का पोषण नहीं करता; व्यर्थ आया होता है, दोष-बीज होता है।
आशय यह है कि प्रासङ्गिक शब्द को लाना चाहिये और अप्रासंगिक शब्द को
निकाल देना चाहिये ।। १८ ।।]

कथितं पुनरुक्ता वाक् श्यामाब्जश्यामलोचना ।
विकृतं दूरविकृतैरैयरुः कुञ्जराः पुरम् ।। १९ ।।

कथितमिति । पुनः **उक्ता** आवृत्ता । **वाक्** वाणी । **कथितम्** (नाम दुष्टं वाक्यम्) । (उदाहरति यथा) **श्यामं** नीलं च तत् **अब्जं** कमलं च । तद्वत् **श्यामे** नीले **लोचने** नेत्रे यस्याः सा । अत्र "श्यामाब्जलोचना" इति एव लोचनयोः श्यामत्वं व्यनक्ति । श्यामशब्दस्य आवृत्तिः दोषाय ।

दूरं यथा स्यात् तथा । **विकृतैः** विकारम् आपन्नैः अत्यधिकधातुप्रत्यया-दिविकार-निष्पन्नैः । पदैः इति शेषः । **विकृतम्** (नाम दुष्टं वाक्यम्) । (उदाहरति यथा) **कुञ्जराः** गजाः । **पुरं** नगरम् । **ऐयरुः** जग्मुः । अत्र ऐयरुः इति दुष्टवाक्यताबीजम् । जुहोत्यादि-गणस्य ऋगताविल्यस्मात् धातोः लङि अडागमे श्लौ,शपः श्लौ, द्वित्वे, उरदत्वे, रेफलोपे "अर्तिपिपर्त्योश्च" इत्यभ्यासस्य इत्वे "अभ्यासस्यासवर्णे" इति इयङि "सिजभ्यस्त-विदिभ्यश्च" इति जुसि "जुसि च" इति गुणे, आडागमे "आटश्च" इति वृद्धौ च ऐयरुः इति पदस्य सिद्धिः ।। १९ ।।

पुनः कही गई बात "कथित" (नामक दोष-युक्त वाक्य) होता है ।

(उदाहरण:-) नील कमल के समान नील लोचनों वाली,

दूर तक विकृत (अधिक व्याकरण नियमो से बने) (पदों) से "विकृत" (नामक दोष-युक्त वाक्य) होता है ।

(उदाहरण :-) हाथी नगर में गये ।

[कथितत्व दोष में उपमान का विशेषण उपमेय में अपने आप आ जाने के कारण उपमेय "लोचन" का विशेषण "श्याम" पिष्ट-पेषण होने से "कथित" का उदाहरण है ।

"विकृत" दोष तब होता है जब ऐसे पद का प्रयोग किया जाय जो

अनेक प्रत्ययों से बनने के कारण देर में स्पष्ट हो। यह दोष इसलिये माना जा सकता है कि कवि चलते हुये शब्दों का प्रयोग अधिक करते हैं। उन्हीं का उपयोग बाद के कवियों को भी करना चाहिये। व्याकरण के अनेक नियम लगने का अर्थ है कि अमुक रूप अप्रचलित होने से इसकी सिद्धि प्रचलित और अल्प सूत्रों से नहीं होती। जहाँ तक प्रचलित भाषा का प्रश्न है, यह दोष व्याकरण नियमों के कारण नहीं माना जा सकता। व्याकरण तो भाषा का अनुगामी है न कि भाषा व्याकरण की। शिष्ट लोग बिना व्याकरण ज्ञान के शुद्ध भाषा बोलते हैं। ऐसी स्थिति मे उनके लिये यह दोष नहीं माना जा सकता। अप्रयुक्तत्व दोष मे इसे गिनना ज्यादा अच्छा होता। संस्कृत के लोक-भाषा न रह जाने पर व्याकरणानुगामी भाषा मानकर यह परिभाषा दी गई है।

जुहोत्यादि गण की गमनार्थक "ऋ" धातु के लङ् लकार मे ऐयरुः होता है। इसे सिद्ध करने में लङ्, अडागम, झि, शप्, श्लु द्वित्व, उरत्, "अ" अभ्यास को इत्व, इयङ्, जुस्, गुण और वृद्धि आदि सूत्र तथा प्रत्यय लगते हैं॥ १६॥]

पतत्प्रकर्षहीनाऽनुप्रासादित्वे यथोत्तरम्।
गम्भीरारम्भदम्भोलिपाणिरेष समागतः॥ २०॥

पतदिति। यथोत्तरम् उत्तरोत्तरम् हीनाः रहिताः च ते अनुप्रासादयः च। तस्य भावः। तस्मिन् (सति) पतत्प्रकर्षम् (पतन् ह्रसन् प्रकर्षः उन्नतिः यत्र) नाम दुष्टं वाक्यम्।

(उदाहरति यथा) एषः। गम्भीरः धीरः। आरम्भः उपक्रमः यस्य सः। दम्भोलिः वज्रम् पाणौ यस्य सः इन्द्रः। समागतः आयातः। अत्र मकार-भकार-जन्यस्यानुप्रासस्य श्लोकान्ते रहितत्वात् पतत्प्रकर्षत्वम्॥

उत्तरोत्तर अनुप्रास आदि का राहित्य होने पर पतत्प्रकर्ष (नामक दोष युक्त वाक्य) होता है।

(उदाहरण :—) यह गम्भीर कार्यों वाला इन्द्र आया॥ २०॥

[अनुप्रास आदि का प्रयोग होने पर यह आवश्यक होता है कि उसका

प्रकर्ष उत्तरोत्तर बढ़े। गिरने से दोष की स्थिति आती है। अंत तक पहुँचते-पहुँचते काव्य का स्वाद फीका पड़ जाता है। उदाहरण मे गम्भीर, आरम्भ और दम्भोलि पदों मे मकार और भकार के आने से अनुप्रास का आरम्भ हुआ था जो अंत में "पाणिरेष समागतः" मे एकाएक त्याग दिया गया। इसके विपरीत अनुप्रास के अन्त में आने पर दोष न होता ॥२०॥]

समाप्तपुनरात्तं स्यादेष पीयूषभाजनम्।
नेत्रानन्दी तुषारांशुरुदेत्यम्बुधिबान्धवः ॥ २१ ॥

समाप्तेति। (अत्र उदाहरणे) **समाप्तपुनरात्तं** (समाप्तं च तत् पुनः आत्तं गृहीतं च) स्यात्। अन्वये समाप्ते तस्मिन्नेव वाक्ये यद् वाक्यम् अन्वयि शब्दान्तरेण गृह्यते तत्समाप्त-पुनरात्तम्। (उदाहरति यथा) **एषः** साक्षात्। **पीयूषस्य** अमृतस्य **भाजनम्** पात्रम् केवलं स्थानम्। **नेत्रानन्दी** नयनाह्लादकः। **अम्बुधेः** समुद्रस्य। **बान्धवः** बन्धुः। तुषाराः शीतलाः **अंशवः** किरणाः यस्य सः चन्द्रः। **उदेति** उदयति। अत्र "अम्बुधिबान्धवः" इति अन्वये समाप्ते सति [illegible] पुनरात्तम् ॥ २१ ॥

(निम्नाकित उदाहरण मे) समाप्तपुनरात्त (नामक दुष्ट वाक्य) होता है।

(उदाहरण :—) अमृत का एकमात्र स्थान, आँखों को प्रसन्न करनेवाला और समुद्र का बन्धु चन्द्रमा उदित हो रहा है ॥ २१ ॥

[अन्वय समाप्त हो जाने पर यदि बाद में कुछ और जोडा जाता है तो समाप्तपुनरात्त दोष हो जाता है। यहाँ उदाहरण में "उदेति" पर वाक्य की स्वाभाविक समाप्ति हो जाती है। जितने विशेषण थे वे पहले ही आ गये। अन्त में एक विशेषण अम्बुधि-बान्धव इस प्रकार जोड़ा गया है कि फालतू प्रतीत हो रहा है, अतः दोष-कारण है।

यदि "अम्बुधि-बान्धव" विशेषण पहले आ जाता तो दोष-जनक न होता या यदि बाद मे आकर अर्थ मे कुछ विशेषता ले आता तो दोष न होता पर यहाँ कोई विशेषता नहीं लाता ॥२१॥]

अर्धान्तरपदापेक्षिक्रीडानृत्येषु सस्मितम् ।
मोघारम्भं स्तुमः शम्भुमर्धरम्भोरुविग्रहम् ॥२२॥

अर्धान्तरेति । (अथ) **अर्धान्तरपदापेक्षि** (नाम दुष्टं वाक्यम्) । अन्यत् अर्धम् **अर्धान्तरम्** । तत्र यत् पदम् । तत् अपेक्षते इति अर्धान्तरापेक्षि । यदि पूर्वार्धे स्थितं किमपि पदम् उत्तरार्धस्थितस्य पदस्य (अन्वयम् अपेक्षते) उत्तरार्धस्थितं च पदं पूर्वार्धस्थितस्य पदस्य अन्वयम् अपेक्षते तदा अस्य दोषस्य आविर्भावः ।

(उदाहरणं यथा) अन्यत् अर्धम् **अर्धान्तरं** पार्वतीरूपम् तत्र यत् **पदं** चरणम् । तद् अपेक्षन्ते इति **अर्धान्तरपदापेक्षीणि** । तानि च क्रीडानृत्यानि च तेषु **मोघः** निष्फलः आरम्भः यस्य तम् । अतः **स्मितेन** विहासेन सह । **अर्धः** अर्धपरिमितः रम्भायाः ऊरू इव ऊरू यस्याः सा पार्वतीत्यर्थः पार्वतीरूपः । **विग्रहः** शरीरं यस्य तम् **शम्भुं** शङ्करम् । **स्तुमः** प्रणमामः । अत्र "अर्धान्तरपदापेक्षिक्रीडानृत्येषु" इत्यस्य पूर्वार्धस्थितस्य अन्वयः "मोघारम्भम्" इति उत्तरार्धस्थेन पदेन सह । "सस्मितम्" इति पूर्वार्धस्थितं पदं च तत्पश्चात् अन्वितं स्यात् उत्तरार्धे ॥२२॥

अर्धान्तरपदापेक्षी (का उदाहरण निम्नलिखित है):—

अन्य अर्ध भाग में स्थित चरण की अपेक्षा रखने वाले क्रीडा-नृत्यों में विफल-प्रयास (अत एव) विहास-युक्त उन शङ्कर की हम स्तुति करते हैं जिनका आधा भाग पार्वती का शरीर है ॥२२॥

[जहाँ पूर्वार्ध के पद उत्तरार्ध के पद (के बिना) और उत्तरार्ध के (पद), पूर्वार्ध के बिना अन्वित नहीं होते, वहाँ यह अर्धान्तरपदापेक्षी नामक दोष-युक्त वाक्य होता है । उदाहरण में "अर्धान्तिरपदापेक्षिक्रीडानृत्येषु" का सम्बन्ध "मोघारम्भं" से है जो भिन्न अर्धक—उत्तरार्ध—में है । इसी प्रकार "मोघारम्भं" का सम्बन्ध सस्मितं से है जो भिन्न अर्द्धक—पूर्वार्ध—में है । प्रत्येक अर्द्ध के अन्त में विराम होने से जो चीज पूर्वार्ध में शुरू की जाय, वह वहीं समाप्त हो जानी चाहिये; वाक्य भले न समाप्त हो ।

उदाहरण का भाव यह है कि अर्धनारीश्वर भगवान् शंकर से पार्वती देवी रुष्ट होकर उनके ताण्डव नृत्य में सहयोग नहीं कर रही हैं। वे अपना पैर नहीं उठातीं। बायें पैर के न उठने से ताण्डव नृत्य विफल हो जाता है जिससे वे (शंकर) खीज से मुस्कराने लगते हैं ॥२२॥]

अभवन्मतयोगः स्यान्न चेदभिमतोऽन्वयः।
येन बद्धोऽम्बुधिर्यस्य रामस्यानुचरा वयम् ॥२३॥

अभवन्निति। अभिमतः इष्टः। **अन्वयः** पदसम्बन्धः। **न स्यात्** भवेत्। (तदा) **अभवन्मतयोगः** [न भवन् मतस्य इष्टस्य योगः यत्र] नाम दोषः **स्याद्** भवेत्।

(उदाहरति यथा) येन रामेण। अम्बुधिः समुद्रः बद्धः सेतुद्वारा अवरुद्धः। यस्य रामस्य। वयम्। अनुचराः सेवकाः। अत्र येन इति पदस्य सम्बन्धः "रामस्य" इति पदेन अभिमतः किन्तु स न सम्भवति भिन्नविभक्तिकत्वेन॥२३॥

यदि इष्ट अन्वय न हो तो अभवन्मत योग (नामक दोष) होता है।

(उदाहरण:—) जिसने समुद्र को (बाँध बाँधकर) बन्धन मे डाल दिया। जिस राम के हम सेवक हैं ॥२३॥

[यहाँ दो वाक्य परस्पर जुटे हुये नहीं है। कवि को "येन" से "रामस्य" का सम्बन्ध इष्ट है पर दोनो पदों को विभक्तियाँ भिन्न-भिन्न होने से वह संभव नहीं है।

यहाँ उक्त अभिमत सम्बन्ध तभी हो सकता है जब यस्य को बदलकर तस्य कर दें या बाद मे एक अन्य वाक्य "तेन रावणो हतः" जोड़ दें। यत् तथा तद् के नित्य सम्बन्ध का नियम मानने से वाक्य ठीक हो जायेगा।

अविमृष्टविधेयांश तथा अभवन्मतयोग मे यह अंतर है कि पहले में इष्ट अन्वय होता है पर विधेय नहीं रहता या समास में चला जाने से गुणीभूत हो जाता है जब कि दूसरे में इष्ट सम्बन्ध हो नहीं होता ॥२३॥]

द्विषां सम्पदमाच्छिद्य यः शत्रून् समपूरयत्।
अस्थानस्थसमासं न विद्वज्जनमनोरमम् ॥२४॥

द्विषामिति। (अथ) **अस्थानस्थसमासम्** (नाम दुष्टं वाक्यम्) (न

स्थानस्थः समासो यत्र)। (उदाहरति यथा) यः। **द्विषां** शत्रूणाम्। **सम्पदं** श्रियम्। **आच्छिद्य** बलात् आहृत्य तान् **शत्रून्** अरीन् (एव) **समपूरयत्** समृद्धान् अकरोत्। (तस्य इदं कृत्यं) **विद्वज्जनानाम्** प्राज्ञानाम्। **मनोरमं** रुचिकरम्। न। अत्र पूर्वार्धे विक्रमवर्णनप्रसङ्गे ओजोगुणपुष्ट्यर्थं समासस्य अपेक्षा किन्तु तत्र स न उपन्यस्तः। चरमे चरणे "विद्वज्जनमनोरमम्" इत्यत्र सामान्यं वर्णनं समासं न अपेक्षते। इत्थम् अस्थानस्थसमासत्वम्।

यद्वा अस्थानस्थसमासं नाम दुष्टं वाक्यम्। विद्वज्जनमनोरमं न इति पृथक् उदाहरणम्। अयमन्वयः इष्टतरः ॥२४॥

अस्थानस्थसमास (नामक दोष-युक्त वाक्य) विद्वानों को रुचिकर नहीं होता।

(उदाहरणः—) जिसने शत्रुओं की सम्पत्ति छीनकर (उन) शत्रुओं को (ही) समृद्ध किया।

[जहाँ समास की जरूरत हो वहाँ न कर जहाँ न जरूरत हो, वहाँ करना अस्थानस्थसमासत्व नामक दोष है। प्रतिकूलाक्षरत्व नामक दोष में वर्ण-प्रतिकूल होते हैं और इस दोष मे समास अपन स्थान पर न रखकर दूसरे स्थान पर रखा जाता है; यही दोनो का अन्तर है।

उदाहरण के पूर्वार्ध में शौर्य का वर्णन है पर उसमें समास बिलकुल न करने से शौर्य की पुष्टि न होने के कारण अस्थानस्थसमास दोष है। उत्तरार्ध में "विद्वज्जनमनोरमम्" में सामान्य वर्णन होने से समास की अपेक्षा नहीं है पर समास होने से यह भी उक्त दोष का उदाहरण है। इस प्रकार ये दो भेद हुये:—

(१) जहाँ समास होना चाहिये वहाँ न करना तथा

(२) जहाँ समास नहीं होना चाहिये वहाँ करना।

इस दोष से सहृदय विमुख होते हैं; यह दोप का मूल कारण है ॥२४॥]

मिथः पृथग्वाक्यपदैः संकीर्णं यत्तदेव तत्।
वक्त्रेण भ्राजते रात्रिः कान्ता चन्द्रेण राजते ॥२५॥

मिथ इति। **यत्** (दुष्टं वाक्यम्)। पृथक् च तानि वाक्यस्य पदानि तैः।

मिथः परस्परम्। **सङ्कीर्णं** सम्बद्धम्। **तत्** (दुष्टं वाक्यम्)। **सङ्कीर्णम्। एव**। भवतीति शेषः। यदा किमपि (वाक्यस्य) पदं वाक्यान्तरं प्रविशति तदा अस्य दोषस्य आविर्भावः।

(उदाहरति यथा) **रात्रिः** निशा। **चन्द्रेण** शशिना। **राजते** शोभते। **कान्ता** प्रिया (च)। **वक्त्रेण** मुखेन। **भ्राजते** शोभते। अत्र रात्रिः इति पदं "वक्त्रेण भ्राजते" इति वाक्यान्तरे कान्ता इति पदं च "चन्द्रेण राजते" इति वाक्यान्तरे प्रविष्टम् अतः सङ्कीर्णत्वम्॥ २५॥

जो भिन्न वाक्य के पद से परस्पर संकीर्ण (सम्बद्ध) हो जाता है वह, वही (सङ्कीर्ण-नामक दोष-युक्त वाक्य) होता है।

(उदाहरणः—) रात, चन्द्रमा से शोभित होती है और प्रिया, (सुन्दर) मुख से॥ २५॥

[एक वाक्य के पद के दूसरे (वाक्य) मे घुस जाने पर यह दोष होता है। उदाहरण में "रात्रि" पद, "मुख से शोभित होती है" वाक्य मे तथा "कान्ता" पद, "चन्द्रमा से शोभित होती है" वाक्य मे चला गया है जिससे अर्थ-प्रतीति में गड़बड़ी आ जाती है। "चन्द्रेण भ्राजते रात्रिः कान्ता वक्त्रेण राजते" कर देने से दोष दूर हो जायेगा॥ २५॥

कुछ टीकाकारों ने संकीर्ण के दो भेद कर दिये है:—(१) जब पद दूसरे वाक्य में घुस जाय (२) जब वाक्य दूसरे वाक्य में घुस जाय।

काव्यप्रकाश में अपर भेद "गर्भित" नाम से आया है। श्लोक सं० २६ गर्भित नाम आया है जिससे यह प्रतीत होता है कि जयदेव को भी गर्भितत्व नामक वाक्य-दोष इष्ट है। दोनो का अन्तर अगले श्लोक की टीका में और स्पष्ट कर दिया गया है।

एक वाक्य का पद दूसरे वाक्य में घुस जाने पर सङ्कीर्ण और एक ही वाक्य में पद का अपने स्थान पर न रहना क्लिष्टत्व दोष में गिना जाता है। यही दोनो का भेद है॥२५॥]

ब्रह्माण्डं त्वद्यशःपूर-गर्भितं भूमिभूषण।
आकर्णय पयः-पूर्णसुवर्णकलशायते॥ २६॥

ब्रह्माण्डमिति । (अथ) गर्भितम् (नाम दुष्टं वाक्यम्) (उदाहरणं यथा) भूमिः पृथ्वी । भूषणम् आभरणम् । यस्य तत्सम्बुद्धौ (हे) भूमिभूषण । आकर्णय शृणु । ब्रह्माण्डं त्रिलोकी । तत्र ते । यशः कीर्तिः । तस्य पूरैः प्रवाहैः, गर्भितं व्याप्तम् (सत्) । पयसा पूर्णश्च स सुवर्णस्य कलशश्च । स इव आचरति । अत्र "भूमिभूषण आकर्णय" इति वाक्यं "ब्रह्माण्डं त्वद्यशः-पूरगर्भितं पयःपूर्णसुवर्णकलशायते" इति वाक्ये प्रविष्टम् अतः गर्भितम् ॥२६॥

गर्भित (नामक दोष-युक्त वाक्य का उदाहरण):—

हे पृथ्वी-भूषण, सुनो; त्रैलोक्य, तुम्हारी कीर्ति के प्रवाह से व्याप्त होकर जल से भरा सोने का घड़ा बन गया है ।

[एक वाक्य के दूसरे वाक्य में घुस जाने पर "गर्भितत्व" दोष होता है, जब कि एक पद के दूसरे वाक्य मे घुस जाने पर सङ्कीर्णत्व दोष (होता है); यही दोनो में भेद है । कुछ टीकाकारों ने सङ्कीर्ण में ही यह दोष, भेद रूप में डाल दिया है और गर्भित का नाम ही नहीं लिया है, पर काव्य-प्रकाश में पृथक् चर्चा होने और यहाँ भी पृथक् प्रतीत होने से इस तरह अर्थ किया गया है । इसे निम्नलिखित रूप देकर संशोधित किया जा सकता है:—

शृणु त्वं त्वद्यशःपूरगर्भितं भूमिभूषण ।
ब्रह्माण्डं जलसम्पूर्णसुवर्णकलशायते ॥

"भूमिभूषण सुनो" यह वाक्य "ब्रह्माण्ड आपके यश-प्रवाह से व्याप्त होकर जल-युक्त स्वर्ण-घट बन गया है" वाक्य में घुस गया है जिससे अर्थ की प्रतीति के लिये वाक्यों का विश्लेषण करने मे विलम्ब होता है जो दोष-बीज है ।

यश के साथ प्रवाह जोड़कर उस (यश)-को जल बनाया गया है; जल का प्रवाह, कवि-सम्प्रदाय के अनुसार श्वेत यश के प्रवाह से मिलता-जुलता है । यहाँ ब्रह्माण्ड का सुवर्ण-कलश हो जाना उत्प्रेक्षित है । मनुस्मृति में सृष्टि के प्रसग में आया है कि ब्रह्माण्ड स्वर्ण का अण्डा था:—

तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम् ।
तस्मिन् जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥

॥२६॥]

भग्न-प्रक्रममारब्धशब्दनिर्वाह-हीनता।
अक्रमः कृष्ण पूज्यन्ते त्वामनाराध्य देवताः ॥२७॥

भग्नेति। **आरब्धस्य** प्रारब्धस्य। उद्देश्यस्थाने प्रयुक्तस्य इति वा। शब्दस्य। यः **निर्वाहः** प्रतिनिर्देश्यस्थाने प्रयोगः। तत्र **हीनता** अभावः। **भग्नप्रक्रमम्** (नाम दुष्टं वाक्यं भवति) (भग्नः नष्टः प्रक्रमः प्रस्तावः यत्र)।

(उदाहरति यथा) (हे) **कृष्ण** सम्बुद्धौ। त्वां भवन्तम्। **अनाराध्य** अपूजयित्वा। **देवताः** सुराः। **पूज्यन्ते** आराध्यन्ते। इत्यहो न क्रमः अक्रमः मर्यादोल्लङ्घनम्। अत्र "अनाराध्य" इति राधधातुना प्रारब्धस्य कृष्णाराधनाऽभावरूपस्य कार्यस्य निर्वाहः प्रतिनिर्देश्यरूपेण तेनैव धातुना अपेक्षितः न तु अन्येन पूजधातुना।

आरम्भ किये गये शब्द के निर्वाह का न होना भग्न-प्रक्रम (नामक दोष-युक्त वाक्य) है।

(उदाहरणः—) हे कृष्ण, तुम्हारी आराधना न कर देवता पूजे जा रहे हैं। यह मर्यादा का उल्लंघन है।

[जिस शब्द का जिस तरह आरंभ किया गया हो, उसी प्रकार अंत तक उसका निर्वाह होना अभीष्ट है। यहाँ "राध" धातु से आरंभ होने पर "राध" धातु से ही अंत होना चाहिये था पर बदलकर "पूज" धातु कर दी गई है। इससे भिन्न अर्थ प्रतीत होता है, यद्यपि दोनो का अर्थ पूजन ही है। इस तरह प्रतीति में शंका होने से वैरस्य उत्पन्न हो जाता है जो दूषण-बीज है। यदि उत्तरार्ध की जगह निम्नांकित कर दिया जाय तो दोनो जगह "पूज" धातु हो जाने से दोष दूर हो जायेगाः—

अक्रमोऽपूजयित्वा त्वां पूज्यन्ते कृष्ण देवताः।

शास्त्रानुसार कृष्ण की पूजा पहले और अन्य देवताओं की पूजा बाद में होनी चाहिये, अतः मर्यादा का उल्लंघन होना कहा गया है।

प्रकृति (क्रिया), प्रत्यय, सर्वनाम, पर्याय, उपसर्ग, वचन, विभक्ति तथा क्रम का निर्वाह न होने पर इस दोष के आठ भेद हो जायेंगे। यहाँ पहला भेद दिया है जिसमे क्रिया का निर्वाह न होने से एकरूपता नष्ट हो गई है।

वाक्य के दो खण्ड उपक्रम और उपसंहार होते हैं। जिस धातु आदि से उपक्रम हो, उसी से उपसंहार न करना भग्न-प्रक्रम दोष है। इस दोष को प्रक्रम-भंग भी कहते हैं। उपक्रम दो प्रकार का होता है:—(१) शब्द से और (२) अर्थ से।

मूल श्लोक में "अक्रम" शब्द आया है। काव्य-प्रकाश में "अक्रम" दोष आया है जो किसी शब्द का क्रम गलत कर देने से होता है। इस दोष की सूचना-मात्र के लिए यह शब्द माना जा सकता है। जहाँ बात समाप्त हो, ठीक उसके बाद इति, इत्थम्, एवम् आदि शब्द आने चाहिये, कुछ देर के बाद नहीं। "च" और "वा" से जिन शब्दों को जोड़ा जाय, उन्हें ठीक पहले रखना चाहिये। यह सब अक्रमत्व दोष के अंतर्गत प्रतिपाद्य है।

अमतार्थान्तरं मुख्येऽमुख्येनार्थे विरोधकृत्।
त्यक्तहारमुरः कृत्वा शोकेनालिङ्गिताऽङ्गना ॥२८॥

अमतेति । **मुख्ये** प्रधाने प्रकृते वा। **अर्थे** वाच्ये। **अमुख्येन** अप्रधानेन अप्रकृतेन वा (अर्थेन)। विरोधं करोतीति **विरोधकृत्**। **अमतार्थान्तरम्** (नाम दुष्टं वाक्यं भवति)।

(उदाहरति यथा) **उरः** वक्षःस्थलम्। **त्यक्तः** परिहृतः **हारः** स्रक् यस्मात्। **कृत्वा** विधाय। **शोकेन** दुःखेन। **अङ्गना** नायिका (नायकेन) **आलिङ्गिता** उपगूढा। अत्र करुणरसप्रतीतिः "त्यक्तहारमुरःकृत्वा" इति "अशोकेन" इति च शृङ्गाररसप्रतीत्या विरुध्यते ॥२८॥

अप्रधान (अर्थ) से प्रधान अर्थ में विरोध पैदा करने वाला (दोष-युक्त वाक्य), अमतार्थान्तर होता है।

(उदाहरण:—) छाती से हार निकालकर शोक-वश नायिका का आलिङ्गन किया ॥२८॥

[यहाँ प्रधान अर्थ करुण-रस-परक है पर अप्रधान शृंगार-परक अर्थ ने घुसकर विरोध उत्पन्न कर दिया है। सन्धि-विग्रह से "शोक" के स्थान पर "अशोक" आ जाने से "आनन्द से" या "शोकरहित नायक ने" अर्थ निकलेगा और "छाती से हार निकालना" शृंगार रस में ज्यादा बैठेगा।

"अमत", "प्रकृत (प्रस्तुत-वर्णन)-विरुद्ध" तथा "प्रासंगिक रस के विरुद्ध रस का व्यञ्जक" अर्थ मे है। अर्थान्तर का अर्थ, दूसरा अर्थ है। काव्य-प्रकाश में यह दोष, "अमतपरार्थ" के नाम से आया है।

काव्य-प्रकाश की प्रदोप तथा सारबोधिनी टीकाओं मे विरुद्ध रसों के जोड़े गिनाये गये है। तदनुसार शृंगार, वीर, रौद्र तथा हास्य रस क्रमशः बीभत्स, भयानक, अद्भुत तथा करुण के विरोधी है:—

ज्ञेयौ शृङ्गारबीभत्सौ तथा वीरभयानकौ।
रौद्राद्भुतौ तथा हास्यकरुणौ वैरिणौ मिथः ॥

यद्यपि यहाँ दो वैरी रस नहीं आये है; फिर भी शृंगार के द्वारा करुण रस की प्रतीति मे अवरोध होने से यहाँ दोष हुआ है।

विरुद्धमतिकृत् मे विरुद्ध अर्थ की प्रतीति होती है पर अमतार्थान्तर में दोनो अर्थ एक दूसरे के बाधक हो जाते हैं जिससे प्रतीति मे बाधा होती है; यही दोनो दोषों का अन्तर है।

यह नित्य दोष है।

इस प्रकार १६ वाक्य-दोष हो गये।

इन वाक्य-दोषों मे न्यून, कथित, अभवन्मतयोग तथा अविमृष्ट- विधेयांश, काव्य तथा अकाव्य दोनो मे पाये जाते है। सङ्कीर्ण और गर्भित को एक भी कर सकते हैं।

च्युतसंस्कृति, असमर्थ और निरर्थक को छोडकर सभी पद-दोष वाक्य में तथा उनमें से कई पदांश में भी होते हैं जिनके उदाहरण काव्य-प्रकाशादि मे देखे जा सकते हैं:—

अपास्य च्युतसंस्कारमसमर्थं निरर्थकम्।
वाक्येऽपि दोषाः सन्त्येते पदस्यांशेऽपि केचन ॥

वाक्य में होने पर वाक्य-दोष कहे जायेंगे तथा पदांश में होने पर पदांश-दोष ॥२८॥]

अपुष्टार्थो विशेष्ये चेन्न विशेषो विशेषणात्।
विशन्ति हृदयं कान्ताकटाक्षाःखञ्जनत्विषः ॥२९॥

अपुष्टार्थ इति । अथ **अपुष्टार्थः** (नाम दुष्टः अर्थः) (न पुष्टः अर्थः यस्मिन्) । विशेषणात् । विशेष्ये धर्मिणि । **विशेषः** विशिष्टता । **न** । **चेत्** यदि (तदा अपुष्टार्थो नाम दुष्टः अर्थः भवति) ।

(उदाहरति यथा) **खञ्जनस्य** खञ्जरीटस्य त्विट् कान्तिः इव कान्तिः येषां ते । **कान्तायाः** प्रियायाः । **कटाक्षाः** अपाङ्गदृष्टयः । हृदयं मनः । **विशन्ति** प्रविशन्ति ।

अत्र उदाहरणे "खञ्जन-त्विषः" इति पदं विशेषणम् । किन्तु विशेष्ये कान्ताकटाक्षाः इति पदे किमपि वैशिष्ट्यं नादधाति । कटाक्षाणां तीव्रतायाः प्रकटनार्थम् अत्र "बाणसन्निभाः" इति विशेषणपदं युक्तं स्यात् ॥ २६ ॥

यदि विशेषण से विशेष्य में कोई विशिष्टता न आये तो अपुष्टार्थ (नामक दोष-युक्त अर्थ) होता है ।

(उदाहरणः—) प्रिया के खञ्जन की-सी कान्ति वाले कटाक्ष हृदय में प्रविष्ट हो रहे हैं ।।२६।।

[विशेषणों के व्यर्थ प्रयोग से अत्यन्त खटकने वाला अर्थ-दोष होता है, यह बताने के लिये यहाँ अपुष्टार्थत्व दोष अर्थ-दोष में सबसे पहले गिनाया गया है ।

"कान्ता के कटाक्ष हृदय में घुसते हैं" यह संक्षिप्त अर्थ है । इस (अर्थ)-की विशिष्टता तभी होगी जब "बाण-तुल्य" या इसी तरह का कोई विशेषण लगाया जाय; न कि "खञ्जन की सी कान्ति वाले" ।

विशेषण, विशेष्य-उपकारी न होने से व्यर्थ हो जाता है, अतः सरस्वती-कण्ठाभरण में भोजराज ने इसे "व्यर्थ" नाम दिया है । मम्मट ने इसे अपुष्ट कहा है । ऐसे शब्दों के ग्रहण न करने से भी प्रतिपाद्यमान अर्थ में बाधा नहीं पहुँचती, अतः अधिक और पुनरुक्त (आगे द्रष्टव्य) से इसे भिन्न बताया है ।

अविवक्षा न होने पर भी किसी पद को दे देना अन्य प्रयोजन के अभाव के कारण अधिकत्व नामक दोष होता है प्रयोजन होने पर भी उपयोगी विशेषण न रखकर अनुपयोगी विशेषण रख देना अपुष्टार्थ दोष है ।

पदों और शब्दों के बाद अर्थ का क्रम होने से पद-दोष और शब्द-दोष के बाद अर्थ-दोष वर्णित किये गये हैं ॥ २९ ॥]

कष्टः स्पष्टावबोधार्थमक्षमो वाच्यसन्निभः ।
व्याहतश्चेद्विरोधः स्यान्मिथः पूर्वापरार्थयोः ॥३०॥

कष्ट इति । स्पष्टः स्फुटश्च सः अवबोधः प्रतीतिश्च **स्पष्टावबोधः** तदर्थम् । न क्षमते इति **अक्षमः** । **वाचि** शब्दे । **असन्निभः** अनुपस्थित-कल्पः । कष्टः (दुष्टः अर्थः) ।

(उदाहरति यथा) वाचि असन्निभः । अत्र वाच्यतुल्य. इति झटिति अविवक्षितार्थस्य प्रतीतिः । वाचि असन्निभः इति विवक्षितार्थस्य प्रतीतौ कष्टम् ।

पूर्वश्च अपरश्च पूर्वापरौ पूर्वापरौ च तौ अर्थौ च **पूर्वापरार्थौ** । तयोः **मिथः** परस्परं प्रति । **विरोधः** । **स्यात्** भवेत् । **चेत्** यदि (तदा) । **व्याहतः** (नाम दुष्टः अर्थः) ॥३०॥

स्पष्ट प्रतीति में असमर्थ शब्द मे अनुपस्थित सा (दोष-युक्त अर्थ), "कष्ट" (-नामक) होता है ।

(उदाहरणः—) वाणी मे न रहता-सा ।

यदि पूर्व और अपर अर्थों में परस्पर विरोध हो तो "व्याहत" (नामक दोष-युक्त अर्थ) होता है ॥ ३० ॥

[शब्द मे रहता हुआ भी न रहने के समान होने के कारण अर्थ, दोष-युक्त हो जाता है । इससे विरुद्ध अर्थ की प्रतीति हो सकती है और विवक्षित अर्थ निकालने में कष्ट होता है । उदाहरण के "वाच्यसन्निभः" का इष्ट अर्थ "वाणी (शब्द) में अनुपस्थित-सा" है, किन्तु "वाच्य (अर्थ) के तुल्य" अर्थ की प्रतीति, वास्तविक अर्थ-प्रतीति में बाधक बन जाती है ।

सम्यक् प्रतीति न होना दूषकता-बीज है, अतः यह नित्य दोष है ।

व्याहत दोष तब होता है जब दो अर्थ कहे जायें और वे परस्पर विरोधी हों । पहले किसी की उत्कृष्टता दिखाकर फिर अपकृष्टता दिखाई जाय या

पहले अपकृष्टता और फिर उत्कृष्टता दिखाई जाय, तब यह दोष आता है। इस प्रकार दो भेद हुये। इसी को निम्नलिखित श्लोक में बताया गया है :—

उत्कर्षो वापकर्षो वा प्राग् यस्यैव निगद्यते।
तस्यैवार्थस्तदन्यश्चेद् व्याहतोऽर्थस्तदा भवेत् ॥

वाक्यार्थ की अप्रतीति दूषकता का बीज है, और यह दोष नित्य है ॥३०॥]

सहस्रपत्रमित्रं ते वक्त्रं केनोपमीयते।
कुतस्तत्रोपमा यत्र पुनरुक्तः सुधाकरः ॥ ३१ ॥

सहस्रेति। (व्याहतदोषस्य उदाहरणं यथा) **सहस्रं पत्राणि** यस्य तत् कमलम्, तस्य **मित्रं** तुल्यम्। **ते** तव। **वक्त्रम्** आननम्। **केन** उपमानभूतेन वस्तुना। **उपमीयते** समीकर्तुं शक्यम्। न केनापि इत्यर्थः। अत्र पूर्वं कमल-तुल्यम् इति निगद्य पश्चात् अनुपमताप्रतिपादनं व्याहतत्वम्।

(अथ) **पुनरुक्तः** (नाम दुष्टः अर्थः) (उदाहरति यथा) **कुतः** कथम्। **तत्र** तस्मिन् मुखे (विषये)। **उपमा** उपमानम्। स्यादिति शेषः। **यत्र** यस्मिन् मुखे। **सुधाकरः** चन्द्रः। **पुनरुक्तः** व्यर्थः। अत्र कुतस्तत्रोपमा इति कथयित्वा उपमाऽभावं प्रतिपाद्य यत् पुनः "पुनरुक्तः सुधाकरः" इति कथितं तत् पिष्टपेषणमात्रम्।

तुम्हारे कमल के तुल्य मुख को उपमा किससे दी जा सकती है (अर्थात् किसी से नहीं)।

वहाँ उपमा कैसे हो सकती है जहाँ चन्द्रमा व्यर्थ है ॥ ३१ ॥

व्याहत दोष के दूसरे भेद का उदाहरण यहाँ दिया गया है। पहले कमल के तुल्य बताकर मुख की अपकृष्टता दिखाई गई है; फिर "उसकी तुलना नहीं हो सकती" कहकर उसे अनुपम बना दिया गया है। दोनो एक दूसरे के विरोधी हैं। इसे क्रमशः विकास भी नहीं कहा जा सकता। उसके लिये विकास की स्थिति का सूचक वर्णन आना चाहिये।

पुनरुक्त का अर्थ है किसी बात को कहकर पुनः कहना। उदाहरण में पहले कहा जा चुका है कि "वहाँ उपमा कैसे हो सकती है" जिससे बात समाप्त हो गई पर पुनः कहा गया जहाँ "चन्द्रमा भी व्यर्थ है"। इससे पुनरुक्ति हो

गई जो पुनरुक्तत्व नामक अर्थ-दोष है। इसे जोर देकर किसी बात को कहना नहीं माना जा सकता। साहित्य में उसके लिये दूसरी शैली है। यह शैली शास्त्र की है जिसमें एक ही बात दो बार या बार-बार अभ्यास कराने के लिये कही जाती है।

यह दोष पदार्थ और वाक्यार्थ मे होने के कारण दो प्रकार का होता है (१) पदार्थ पुनरुक्त तथा (२) वाक्यार्थ पुनरुक्त। उक्त उदाहरण दूसरे भेद का है ॥३१॥]

दुष्क्रम-ग्राम्य-सन्दिग्धास्त्रयो दोषाः क्रमादमी।
त्वद्भक्तः कृष्ण गच्छेयं नरकं स्वर्गमेव वा ॥ ३२ ॥

दुष्क्रमेति। (अथ) दुष्क्रमश्च (दुष्टः लोकशास्त्रविरुद्धः क्रमः यत्र) ग्राम्यश्च सन्दिग्धश्च (नाम दुष्टाः अर्थाः)। अमी इमे। त्रयः। दोषाः। क्रमात् क्रमेण। उदाह्रियन्ते इति शेषः।

(दुष्क्रमम् उदाहरति यथा) (हे) कृष्ण सम्बुद्धौ। तव ते। उपासकः भक्तः। अहम् इति शेषः। नरकं निरयम्। स्वर्गं नाकम्। एव वा। गच्छेयं व्रजेयम् इति संभावना वर्णिता। कृष्णभक्तस्य स्वर्गगमनसम्भावना अतः स्वर्गमिति पदं पूर्वं निधातव्यं, तत् न कृतम् अतः दुष्क्रमत्वं नाम अर्थदोषः ॥३२॥

दुष्क्रम, ग्राम्य तथा संदिग्ध—ये तीन दोष क्रमशः होते हैं (नीचे इनके उदाहरण दिये जाते हैं)।

(दुष्क्रम का उदाहरणः—) हे कृष्ण, मैं तुम्हारा भक्त हूँ; नरक जाऊँ या स्वर्ग ! ॥ ३२ ॥

[दुष्क्रम दोष वहाँ होता है जहाँ क्रम उलटा हो। क्रम न होने से सहृदयों को उद्वेग होता है जो दूषण का बीज है।

उदाहरण मे कृष्ण से प्रार्थना करते हुये भक्त कहता है कि "मैं आप का भक्त हूँ; नरक जाऊँ या स्वर्ग!" भक्त को नरक की संभावना पहले नहीं हो सकती, इसलिये यहाँ क्रम- भंग है और दुष्क्रमत्व नामक दोष है। यदि "स्वर्ग" पहले करने के लिये "स्वर्गं नरकमेव वा" कर दिया जाय तो दोष का परिहार हो जायेगा।

दुष्क्रम, उस क्रम को कहते हैं जो लोक और शास्त्र के विरुद्ध हो।
भोजराज ने सरस्वतीकण्ठाभरण में इसे अपक्रम नाम दिया है ॥३२॥]

एकं मे चुम्बनं देहि तव दास्यामि कञ्चुकम्।
ब्रूत किं सेव्यतां चन्द्रमुखीचन्द्रकिरीटयोः ॥३३॥

एकमिति। (क्रमेण ग्राम्यमुदाहरति यथा स्वम्) एकं केवलम्। मे मह्यम्। चुम्बनं देहि। (अहम्) तव तुभ्यम्। कञ्चुकं स्तनावरणवस्त्रम्। दास्यामि वितरिष्यामि। अत्र चुम्बनयाचने अचातुर्यं कञ्चुकलोभनं च ग्राम्यम्।

(क्रमेण सन्दिग्धमुदाहरति यथा) ब्रूत (यूयं) कथयत। चन्द्रः शशी इव मुखं वदनं यस्याःसा चन्द्रमुखी च। चन्द्रः चन्द्रमाः किरीटे मौलौ यस्य सः चन्द्रकिरीटश्च। तयोः। मध्ये इति शेषः। किं कतमत् वस्तु। सेव्यताम् आश्रीयताम्। अत्र प्रकरणाद्यभावे शान्तरसः प्रतिपाद्यः शृङ्गाररसः वा इति न ज्ञायते अतः सन्दिग्धत्वं नाम अर्थदोषः ॥३३॥

(ग्राम्य का उदाहरणः—) मुझे एक चुम्बन दो; मैं तुम्हें चोली दूँगा।

(सन्दिग्ध का उदाहरणः—) बतायें कि चन्द्रमुखी (चन्द्रमा के समान मुख वाली) और शंकर में से किसे अपनाया जाय ॥ ३३ ॥

[यहाँ ग्राम्यत्व दोष का उदाहरण-मात्र दिया गया है; परिभाषा नहीं दी गई है। ग्राम्य अर्थ की परिभाषा निम्नलिखित की गई है :—

स ग्राम्योऽर्थो रिरंसादिः पामरैर्यत्र कथ्यते।
वैदग्ध्यवक्रिमबलं हित्वैव वनितादिषु ॥

जहाँ स्त्री-आदि के प्रति कामेच्छादि का कथन मूर्खों के द्वारा विदग्धता-भङ्गिमा की शक्ति का परित्याग कर किया जाता है वह अर्थ ग्राम्य है।

उदाहरण में भोंड़े ढंग से बात-चीत की गई है और चोली देने का लोभ दिखाया गया है।

"ग्राम्य" शब्द "ग्राम में उत्पन्न" के लिये आता है। गाँव में प्रचलित या गाँव का रहने वाला साहित्य में असभ्य अर्थ में इसलिये प्रयुक्त होता है क्योंकि राज-सभादि में जो शिष्टाचार प्रचलित है, ग्राम मे प्रायः उन्हें कोई नहीं जानता।

हिन्दी मे भी गवार, देहाती आदि शब्द इसी असभ्य अर्थ के द्योतक है। सामान्य-रूप से ग्रामीण या ग्राम्य शब्द असभ्य के लिये हिन्दी मे नहीं प्रयुक्त होता।

अश्लील-तुल्य कथन से सहृदय जनो का हृदय विमुख हो जाता है। ऐसी उक्ति से ग्रस्त विभावादि (-रूप) अर्थ, रस उत्पन्न करने मे उसी प्रकार समर्थ नहीं होते जैसे खराब बीज अङ्कुर उत्पन्न करने मे; यही दोष का बीज है।

विदूषक की उक्ति मे यह दोष नही माना जाता, अतः अनित्य है।

"संदिग्ध" की परिभाषा भी यहाँ नही दी गई है। संदिग्ध का अर्थ संदेह-युक्त होता है। प्रसग के अभाव मे जिस अर्थ से संदेह उत्पन्न हो उसे संदिग्ध कहते है।

वक्ता के निश्चित न होने से संदेह होता है कि शात रस इष्ट है या शृंगार रस। यह उद्देश्य के निश्चय का अभाव ही दूषकता का बीज है।

जहाँ संदेह दिखाना ही इष्ट हो, वहाँ दोप की स्थिति नही होगी ॥३३॥]

अनौचित्यं कीर्तिलतां तरङ्गयति यः सदा।
प्रसिद्धया विद्यया वापि विरुद्धं द्विविधं मतम् ॥३४॥

अनौचित्यमिति। अनौचित्यं (नाम दूषणम्) (उचितस्य भावः औचित्यम् न औचित्यं यत्र) द्वे विधे प्रकारौ यस्य तत् द्विविधं द्विप्रकारकम्। मतम् कथितम्। (१) प्रसिद्धया लोकरीत्या (विरुद्धम्) (२) विद्यया शास्त्रेण वापि च विरुद्धम्।

(लोकविरुद्धम् उदाहरति यथा) यः। सदा सर्वदा। कीर्तिः यशः एव लता वेल्लिः। ताम्। तरङ्गयति तरङ्गितां करोति। अत्र लतायाः तरङ्गितत्वं लोके न प्रसिद्धम् ॥ ३४ ॥

अनौचित्य (नामक अर्थ-दोष) दो प्रकार का माना गया है; (१) प्रसिद्धि-विरुद्ध तथा (२) शास्त्र-विरुद्ध।

(उदाहरण:—) जो हमेशा यश को (-रूपी) लता तरंगित करता है ॥३४॥

[काव्य-प्रकाश में "अनौचित्य" के पूर्व "निर्हेतु" दिया गया है। अनौचित्य" को मम्मट ने "प्रसिद्धविद्याविरुद्ध" नाम दिया है।

"लोक-विरुद्ध" का अर्थ कवि-सम्प्रदाय-विरुद्ध भी लगाया जाता है। कवि-

सम्प्रदाय मे बहुत सी ऐसी बातें भी मानी जाती हैं जो विज्ञान के द्वारा असंभव कही जाती हैं। फिर भी काव्य मे उनको मानना पड़ता है। उनके विरुद्ध जाना दोष होता है।

देश, काल आदि के विरुद्ध बातें भी इस दोष के अंतर्गत आती हैं। भिन्न-भिन्न शास्त्रों के विरुद्ध अनौचित्य के उदाहरण काव्य-प्रकाशादि में देखे जा सकते हैं।

इष्ट अर्थ की प्रतीति मे बाधा दूषण का बीज है। कुछ लोग विरुद्ध अर्थ-प्रतीति से सहृदयों के हृदय मे विरसता का उत्पन्न हो जाना, दोष का कारण मानते हैं।

यहाँ जब कीर्ति को लता का रूपक दिया गया है तब तरंगित लिखना ठीक नहीं है। लता पल्लवित होती है; तरंगित होना, नदी, समुद्र आदि के लिये प्रचलित है। यहाँ "तरङ्गयति" के स्थान पर "पल्लवयति" रखने पर रचना निर्दोष हो जायेगी ॥३४॥]

न्यस्तेयं पश्य कन्दर्प-प्रतापधवलद्युतिः।
केतकी शेखरे शम्भोर्धत्ते चन्द्रकलातुलाम् ॥३५॥

न्यस्तेति। (कविप्रसिद्धिविरुद्धम् अनौचित्यम् उदाहरति यथा) पश्य अवलोकय। इयं पुरस्तात्। कन्दर्पस्य कामस्य। यः प्रतापः विक्रमः। तस्य धवला श्वेता च सा द्युतिः कान्तिश्च। न्यस्ता स्थापिता। प्रतापस्य वर्णः रक्तः न तु श्वेतः इति कविसमयः। तस्य त्यागः अर्थदोषः।

(शास्त्रविरुद्धम् अनौचित्यम् उदाहरति) शम्भोः शिवस्य। शेखरे मुकुटे। केतकी केतकवृक्षखण्डम्। चन्द्रकलायाः चन्द्रिकायाः। तुलाम् समताम्। धत्ते धारयति। केतकी शम्भुपूजने निषिद्धेति पुराणम् ॥३५॥

(कवि-प्रसिद्धि के विरुद्ध अनौचित्य का उदाहरण :-) देखो, यह कामदेव के पराक्रम की श्वेत कान्ति स्थापित की गई है।

(शास्त्र-प्रसिद्धि के विरुद्ध अनौचित्य का उदाहरणः-) शिव के मुकुट पर केतकी, चाँदनी की उपमा धारण कर रही है।

[कवि-सम्प्रदाय के अनुसार उष्णता, क्रोध, अनुराग और प्रताप का रंग

लाल, कीर्ति और पुण्य आदि का श्वेत तथा अकीर्ति और पाप आदि का काला होता है। यहाँ प्रताप का रंग श्वेत कह देने से दोष हो गया। अलङ्कार-शेखर में केशव मिश्र ने कुछ कवि-सम्प्रदायों की चर्चा की है जिन्हें नीचे दिया जा रहा है। इसमें निम्नलिखित संभव नहीं है; फिर भी कवियों के द्वारा मान्य है :—

रत्नानि यत्र तत्राद्रौ हंसाद्यल्प-जलाशये।
जलेभाद्यं नभोनद्यामम्भोजाद्यं नदीष्वपि॥
तिमिरस्य तथा मुष्टिग्राह्यत्वं सूचिभेद्यता।
शुक्लत्वं कीर्तिपुण्यादौ कार्ष्ण्यं चाकीर्त्यघादिषु॥
प्रतापे रक्ततोष्णत्वे रक्तत्वं क्रोधरागयोः।
ज्योत्स्नापानं चकोराणां प्रवालं सर्ववारिषु॥
केसराशोकयोः सत्स्त्रीगण्डूपात्पादघातत.।
मासान्तरेऽपि पुष्पाणि रोमालिस्त्रिवलिः स्त्रियाम्॥

निम्नलिखित चीजें होती है पर कवि नहीं मानते :—

वसन्ते मालतीपुष्पं फलपुष्पे च चन्दने।
कामिदन्तेषु कुन्दानां कुड्मलेषु च रक्तता।
नारीणां श्यामता पातस्तनयोर्यच्च वा ह्रिये॥

कुछ चीजें अनेक स्थानों मे संभव होने पर भी केवल निम्नलिखित स्थानों में कवि-सम्प्रदाय-द्वारा सीमित है :—

हिमवत्येव भूर्जत्वक् चन्दनं मलये परम्।
हेमन्तशिशिरौ त्यक्त्वा सर्वदा कमलस्थितिः॥
सामान्यग्रहणे शौक्ल्यं पुष्पाम्भश्छत्रवाससाम्।
ध्वजचामर-हंसानां हारस्य बकभस्मनोः॥
कृष्णत्वं शैल-वृक्षादिमेघवारिधिवीरुधाम्।
भिल्लकाचासुराणां च धूपपङ्कशिरोरुहाम्॥
लौहित्यं धातुमाणिक्य-जपारत्नविवस्वताम्।
पद्मपल्लवबन्धूक - दाडिमीकरजादिषु॥

पीतत्वं शालिमण्डूकवल्कलेषु परागके ।
वर्षास्वेव शिखिप्रौढिर्मधावेव पिकध्वनिः ॥

पौराणिक कथा है कि एक बार विष्णु और ब्रह्मा मे यह विवाद छिड़ा कि दोनो में से कौन श्रेष्ट है। वे निर्णयार्थ शिव के पास गये। यह प्रतियोगिता कराई गई कि जो शिव-लिंग का अन्त प्राप्त कर लेगा, उसे श्रेष्ठ माना जायेगा। विष्णु ऊपर गये और ब्रह्मा नीचे। अंत न पाकर विष्णु ने तो सत्य बात कह दी पर ब्रह्मा ने अन्त प्राप्त करने की घोषणा की और केतकी से भूठी गवाही दिलाई। इस पर शिव ने कुपित होकर शाप दिया कि मेरे पूजन मे केतकी निषिद्ध मानी जायेगी। सनत्कुमार-संहिता के कार्तिक-माहात्म्य में आता है :—

शृणु केतक ते पुष्पैर्नरो मामर्चयिष्यति ।
लक्ष्मीसन्तति-हीनोऽसौ रौरवं नरकं व्रजेत् ॥३।४६॥

॥३५॥]

सामान्य-परिवृत्तिः स्यात्कुण्डलच्छविविग्रहा ।
विशेषपरिवृत्तिः स्याद्वनिता मम चेतसि ॥ ३६॥

सामान्येति । कुण्डलच्छविः कुण्डलस्य कर्णभूषणस्य **छविः** कान्तिः इव छविः कान्तिः यस्य सः। कुण्डलच्छविः स्वर्णकान्तिः विग्रहः देहः यस्याः सा कुण्डलच्छविविग्रहा कनककान्तिकलेवरा। अत्र उदाहरणे इति शेषः **सामान्यपरिवृत्तिः** (नाम वाक्य-दोषः) (**सामान्यस्य** विशेषस्य स्थाने **परिवृत्तिः** परिवर्तनं यत्र) **स्यात्** भवेत्। यत्र सामान्यार्थ-बोधकस्य पदस्य स्थाने विशेषार्थ-बोधकं पदम् उपादीयते तत्र अस्य दोषस्य अवकाशः अत्र स्वर्णस्य स्थाने कुण्डलस्य उपादानं दोषाय।

वनिता प्रिया। **मम** मे। **चेतसि** हृदये। इति उदाहरणे इति शेषः। विशेषपरिवृत्तिः (नाम वाक्यदोषः) (विशेषस्य सामान्यस्थाने परिवृत्तिः परिवर्तनम्)। स्यात् भवेत्। यत्र विशेषार्थ-बोधकस्य पदस्य स्थाने सामान्यार्थबोधकं पदं गृह्यते तत्र अयं दोषः आविर्भवति। अत्र प्रियापदस्य स्थाने वनितापदस्य ग्रहणं दोषाय ॥ ३६ ॥

"जिसका शरीर कुण्डल की कान्ति के समान कान्ति वाला है" सामान्य-परिवृत्ति है।

"नारी मेरे हृदय मे है" विशेष-परिवृत्ति है ॥ ३६ ॥

[यहाँ उदाहरण मात्र दिये है; परिभाषा नही। संक्षेप के लिये सार्थक नाम देकर काम चलाया गया है।

वर्णन करते समय कहीं पूरी जाति के बोधक सामान्य शब्द के प्रयोग की आवश्यकता होती है और कही केवल किसी विशेष शब्द की। श्लोक के पूर्वार्ध में जो उदाहरण है उसमें शरीर-कान्ति की उपमा कुण्डल-कान्ति से दी गई है। "कुण्डल" शब्द स्वर्ण के लिये नही आ सकता और शरीर-कान्ति की उपमा स्वर्ण-कान्ति से देना ही ठीक है;एक विशेष शब्द "कुण्डल" की कान्ति से देने पर विशेष कारण ढूँढ़ने में व्यग्र पाठक या श्रोता काव्य के अर्थादि से वंचित हो जायेगा, यही दूषण का बीज है। यहाँ कुण्डल की जगह "कनक" रख देने से दोष नहीं रह जायेगा।

इसके पूर्व अनवीकृत, सनियमानियमविशेषाविशेष-परिवृत तथा अनियम-परिवृत्त दोष यहाँ नही दिये गये हैं जो अन्यत्र देखे जा सकते हैं। कहीं-कहीं "विशेष-परिवृत्ति" को पहले और "सामान्य परिवृत्ति" को बाद मे रखते है तथा क्रमशः "विशेष-परिवृत्त" और "सामान्य-परिवृत्त" नाम रखते है।

"विशेष-परिवृत्त" के उदाहरण "मेरे हृदय मे नारी है" मे "नारी" शब्द से "प्रिया" अर्थ नही निकलता। सामान्य जाति-बोधक शब्द के ग्रहण से सभी नारियों का बोध होता है, और यह विवक्षित नही है ॥ ३६ ॥

द्वौ स्तः सहचराऽचारुविरुद्धान्योन्यसंगती।
ध्वाङ्क्षाः सन्तश्च तनयं स्वं परञ्च न जानते ॥३७॥

द्वाविति। सहचराचारुः (सह चरतीति सहचरः। सः चासौ अचारुश्च। न चारुः अचारुः। (राजदन्तादित्वात्परनिपातः अचारुशब्दस्य) (नाम वाक्यदोषः) च विरुद्धान्योन्यसंगतिः (विरुद्धा चासौ अन्योन्यसंगतिश्च) (नाम वाक्यदोषः) (च) (इमे) द्वौ (वाक्यदोषौ)। स्तः भवतः।

(सहचराचारुम् उदाहरति यथा) ध्वाङ्क्षाः काकाः। सन्तः सज्जनाः। न। स्वं स्वकीयम्। तनयं पुत्रम्। परं परकीयम्। च। न। जानते बुध्यन्ते। अत्र ध्वाङ्क्षपदेन सह सत्पदस्य प्रयोगः सहचराचारुत्वनाम्ने वाक्यदोषाय ॥३७॥

सहचरचारु और विरुद्धान्योन्यसंगति दो (वाक्य-दोष) होते हैं।

(उदाहरण.—) कव्वे और सज्जन अपने और पराये पुत्र मे भेद नहीं करते ॥३७॥

[काव्य में शब्दों को रखते समय यह ध्यान रखना पड़ता है कि बेमेल शब्द, एक साथ न आयें। जैसे नीच और उच्च समाज में एक कोटि मे नही रखे जाते; न उनका साथ होता है, उसी प्रकार काव्य में इन्हें पास-पास न रखकर दूर-दूर दिखाते है। दो विरोधी बातें दिखाने के लिये ऐसे एक दूसरे के विपरीत अर्थ वाले शब्द ग्रहण किये जाते है।

यहाँ सहचराचारु का अर्थ है अचारु सहचर। कव्वे के साथ दुष्ट शब्द रखा जा सकता है, और हंस के साथ सज्जन।

शास्त्र मे भी ऐसे दोष की हँसी उड़ाई जाती है; भले ही वहाँ दोष न माना जाय। पाणिनि ने "श्वयुवमघोनामतद्धिते" सूत्र मे कुत्ते, युवक और इन्द्र को पास-पास रख दिया है।

सहचरों में एकरूपता अभीष्ट है। पास-पास होने से जब वे एक कोटि के प्रतीत होने लगते हैं तब "सज्जनों के साथ दुर्जनो का चरित भी अनुकरणीय है और दुर्जनों के साथ सज्जन भी त्याग देने योग्य हैं", ऐसी अनिष्ट प्रतीति होती है; यही दूषण का बीज है।

यह दोष नित्य है।

इसके पूर्व "साकाङ्क्ष" और "अपदयुक्त" दोष आते हैं जिन्हें अन्यत्र देखना चाहिये।

"सहचराचारु" का नाम कहीं-कहीं "सहचरभिन्न" भी मिलता है। यहाँ आया नाम अधिक चारु और उपयुक्त है।

श्रेष्ठ के साथ नीच और नीच के साथ श्रेष्ठ—एक को प्रधानता और दूसरे को गौणता देकर—इसके दो भेद किये जा सकते हैं। यहाँ कव्वे को प्रधानता देकर पहले प्रकार का उदाहरण दिया गया है।

प्रसिद्धि है कि कव्वे कोयल के बच्चों का पालन-पोषण करते हैं। कोयल अपना परिश्रम बचाने के लिए अपने बच्चे कव्वे के घोंसले में रख आती है और

कव्वा उन्हें अपने बच्चे समझकर पालता है। बड़े होकर वे उड़ जाते हैं। इसीलिये कोयल के नाम, परभृत और परपुष्ट आदि आते हैं।

"शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः" के अनुसार विद्वान् पुरुष अपने पराये का भेद नहीं करते।

कुछ शब्द एक दूसरे के विरोधी होते हैं। यदि उपमा आदि के रूप में दोनो का एक साथ ग्रहण किया जायेगा तो दोष होगा; यह दोष "प्रकाशित-विरुद्ध" नाम से भी जाना जाता है। विरुद्ध प्रतीति, दूषण का बीज है।

यह दोष, नित्य है।

"विरुद्धमतिकृत्" मे दोष शब्द-शक्ति-मूलक होता है और इस दोष में अर्थ-शक्ति-मूलक; यह दोनो का भेद है।

विध्यनुवादायुक्त, अनुवादायुक्त तथा अश्लील ये तीन दोष, अन्यत्र, इसके बाद दिखाये गये है। यहाँ उनको न देने का कारण ऊपर के दोषों में उनका आसानी से अन्तर्भाव है ॥३७॥]

सरोजनेत्र पुत्रस्य मुखेन्दुमवलोकय।
पालयिष्यति ते गोत्रमसौ नरपुरन्दरः ॥३८॥

सरोजेति। (हे) **सरोजनेत्र** सरोजे कमले इव नेत्रे नयने यस्य सः तत्सम्बुद्धौ। **पुत्रस्य।** **मुखम्** वदनम् एव इन्दुः चन्द्रः तम्। **अवलोकय** पश्य। **असौ** अयम्। **नरपुरन्दरः** नरेन्द्रः। **ते** तव। **गोत्रं** वंशम्। **पालयिष्यति** रक्षिष्यति। इन्दौ उदिते सरोजस्य म्लानता पुरन्दरश्च गोत्रभिद् अतः अत्र विवक्षितेऽर्थे वैरस्यम् विरुद्धान्योन्यसंगतित्वम् ॥३८॥

हे कमलनयन, बेटे का मुख-चन्द्र देखो। यह नरेन्द्र, वंश की रक्षा करेगा ॥३८॥

[उदाहरण मे पिता के नेत्र कमल के समान बताये गये है। उन्हें प्रसन्नता प्राप्त होगी, इसलिये बेटे के मुख-चन्द्र की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया है पर चन्द्र के निकलने पर कमल म्लान हो जाता है; इस भाव के आते ही दोष की प्रतीति होती है।

नर-पुरन्दर से गोत्र (वंश) के पालन की आशा की गई है। पुरन्दर (इन्द्र) गोत्रभिद् (गोत्र के नाशक) नाम से प्रसिद्ध हैं। दोनो विरुद्ध शब्दों को एक ही जगह रख देने से दोष हो गया है।

ये परस्पर विरुद्ध शब्द एक ही स्थान पर न देकर भिन्न प्रसंगों मे अलग-अलग रखे जाते तो दोष न होता।

गोत्र शब्द पर्वत के लिये प्रसिद्ध है। पौराणिक कथा है कि पहले पर्वतों के पंख थे। वे उड़कर जिस स्थान पर बैठते थे, वह ध्वस्त हो जाता था। इन्द्र ने जन-रक्षा के लिये उनके पंख काट दिये जिससे उन (इन्द्र)-का नाम गोत्रभिद् पड गया ॥३८॥]

पदे तदंशे वाक्यांशे वाक्ये वाक्यकदम्बके।
यथानुसारमभ्यूहेद्दोषान् शब्दार्थसम्भवान् ॥३९॥

पद इति। यथानुसारम् यथासम्भवम्। **शब्दः** वाचकश्च **अर्थः** वाच्यश्च शब्दार्थौ। ताभ्यां **सम्भवः** जन्म येषा तान् **शब्दार्थसम्भवान्**। **दोषान्** दूषणानि। **पदे** सुबन्ततिङन्तरूपे। **तदंशे** तस्य पदस्य अंशे भागे। **वाक्यकदम्बके** महावाक्ये। **वाक्ये**। **वाक्यांशे** वाक्यस्य अंशे भागे। **अभ्यूहेत्** तर्कयेत् ॥३९॥

[यथासंभव शब्द और अर्थ से उत्पन्न होने वाले दोष, पद, उसके अंश, महावाक्य, वाक्य और वाक्यांश में समझने चाहिये ॥३९॥

[दोष कहाँ-कहाँ पाये जा सकते हैं, इसका सामान्य निर्देश यहाँ किया गया है। जो दोष शब्द से उत्पन्न होते हैं वे शब्द-दोष और जो अर्थ से उत्पन्न होते हैं वे अर्थ-दोष तथा जो दोनो से उत्पन्न होते हैं, वे शब्दार्थ-दोष। इन दोषों के पद, पदार्थ, वाक्य-कदम्बक, वाक्य और वाक्यांश में होने से प्रत्येक के ५ अर्थात् कुल १५ भेद हुये। १६ वाँ अर्थ-दोष ऊपर बताया जा चुका है।

रस और अलंकार के दोष इन्हीं दोषों के अंतर्गत आ जाते हैं, अतः यहाँ नहीं गिनाये गये हैं।

ये भेद अगले पृष्ठ पर सङ्कलित किये गये है :—

शब्द-दोष

पद या पदांश में

१ श्रुति-कटु (वाक्य में भी) (अनित्य)
२ च्युत-संस्कृति
३ अप्रयुक्त (अनित्य)
४ असमर्थ
५ निहतार्थ (अनित्य)
६ अनुचितार्थ (वाक्य में भी)
७ निरर्थक (अनित्य)
८ अवाचक
९ व्रीडाश्लील (वाक्य में भी) (अनित्य)
१० जुगुप्साश्लील ,, ,,
११ अमङ्गलाश्लील ,, ,,
१२ सन्दिग्ध ,,
१३ अप्रतीत ,,
१४ शिथिल
१५ ग्राम्य (अनित्य)
१६ नेयार्थ
१७ अन्य-सङ्गत

समास में

१ क्लिष्ट
२ अविमृष्टविधेयाश
३ विरुद्धमतिकृत्

वाक्य में

१ श्रुति-कटु (पद या पदांश मे भी) (अनित्य)
२ व्रीडाश्लील ,, ,,
३ जुगुप्साश्लील ,, ,,
४ अमङ्गलाश्लील ,, ,,
५ अनुचितार्थ ,,
६ प्रतिकूलाक्षर
७ हतविसर्ग
८ लुप्तविसर्ग
९ कुसन्धि
१० विसन्धि
११ हतवृत्त
१२ न्यून (अनित्य)
१३ अधिक ,,
१४ कथित ,,
१५ विकृत
१६ पतत्प्रकर्ष (अनित्य)
१७ समाप्तपुनरात्त ,,
१८ अर्थान्तरपदापेक्षी
१९ अभवन्मतयोग
२० अस्थानस्थसमास
२१ सङ्कीर्ण (अनित्य)
२२ गर्भित

अर्थ-दोष

१ अपुष्टार्थ
२ कष्ट (अनित्य)
३ व्याहत
४ पुनरुक्त
५ दुष्क्रम
६ ग्राम्य
७ सन्दिग्ध
८ अनौचित्य
९ प्रसिद्धिविरुद्ध ,,
१० विद्याविरुद्ध ,,
११ सामान्यपरिवृत्त
१२ विशेषपरिवृत्त
१३ सहचराचार
१४ विरुद्धान्योन्य-संगति ।

भिन्न-भिन्न लेखकों ने भिन्न-भिन्न दोष गिनाये है। चिरञ्जीव भट्टाचार्य ने काव्य-डाकिनी मे केवल दोषों की चर्चा विस्तार से की है और महिम भट्ट ने व्यक्ति-विवेक मे केवल निम्नलिखित ५ दोष बताये है जिनमें सभी दोषों का अन्तर्भाव किया जा सकता है :—

(१) विधेयाविमर्श, (२) प्रक्रमभेद, (३) क्रम-भेद,
(४) पौनरुक्त्य तथा (५) वाच्यावचन।

ऊपर अधिकतर काव्य-प्रकाश से ही तुलना करने का कारण यह है कि ये दोष उस (काव्य-प्रकाश) में प्रायः इसी प्रकार बताये गये हैं। उसके अनुसार पद और पदांश मे दिये गये दोषो मे से च्युत-संस्कृति, असमर्थ और निरर्थक केवल पद मे, शेष वाक्य और पद दोनो मे तथा इन उभय-गत दोषो मे से कुछ पदांश में भी पाये जाते हैं।

पद-दोषों मे शिथिल और अन्य-सङ्गत दोष यहाँ काव्य-प्रकाश की अपेक्षा अधिक गिनाये गये हैं। अन्य दोष काव्य-प्रकाश से बहुत मिलते-जुलते हैं। कहीं-कही नाम में थोडा अन्तर है, कहीं किसी दोष का अन्तर्भाव दूसरे में कर दिया गया है और कहीं उपभेद किये गये है ॥ ३९ ॥]

दोषमापतितं स्वान्ते प्रसरन्तं विशृङ्खलम् ।
निवारयति यस्त्रेधा दोषाङ्कुशमुशन्ति तम् ॥४०॥

दोषमिति । यः स्वान्ते चेतसि । आपतितम् अनुभूतम्। विगता शृङ्खला यस्य तत् यथा स्यात् तथा अनर्गलम् । प्रसरन्तं व्याप्नुवन्तम् । दोषं दूषणम् । त्रेधा त्रिभिः प्रकारैः । निवारयति दूरीकरोति । तम् । दोषाङ्कुशं दोषाणाम् दूषणानाम् अङ्कुशं निवारकम् । उशन्ति अभिलषन्ति कथयन्ति इत्यर्थः । काव्यमर्मज्ञाः इति शेषः ॥ ४० ॥

जो, चित्त में पडा हुआ तथा निर्बाध रूप से फैल रहा दोष तीन प्रकार से दूर करता है, उसे (विद्वान्) दोषाङ्कुश कहते हैं ॥ ४० ॥

[यहाँ यह बताया गया है कि ऊपर बताये गये दोष सभी जगह न मान लिये जायँ। कुछ दोष नित्य होते हैं; वे कहीं गुण में नहीं बदल सकते। उन्हें प्रयत्न-पूर्वक छोड़ देना चाहिये। शेष दोष अनित्य होते हैं। उन्हें हमेशा दोष

ही मान बैठने से गलती होगी, अतः दोषों पर अङ्कुश रखने के लिये यहाँ दोषाङ्कुशो की चर्चा की गई है। आगे भेदो और उदाहरणों मे यह बात और स्पष्ट की जायेगी ॥४०॥]

दोषे गुणत्वं तनुते दोषत्वं वा निरस्यति ।
भवन्तमथ वा दोषं नयत्यत्याज्यतामसौ ॥४१॥

दोष इति। **असौ** सः दोषाङ्कुशः। (क्वचिद्) **दोषे** ग्राम्यादि-दोषे **गुणत्वं** गुणताम्। **तनुते** विस्तारयति। दोषं गुणे परिणमयति। प्रथमः प्रकारोऽयम्। (क्वचित्) **दोषत्वं** दूषणत्वं विद्याविरुद्धादिकं वा **निरस्यति** दूरीकरोति। केवलं दोषं निवारयति किमपि गुणत्वं नानयति। द्वितीयः प्रकारोऽयम्। **अथवा** यद्वा। क्वचित् **भवन्तम्** आपतन्तम्। **दोषं** दूषणम् **अत्याज्यताम्** उपादेयताम्। **नयति** प्रापयति। तृतीयः प्रकारोऽयम् ॥ ४१ ॥

वह दोष मे गुण-भाव उत्पन्न करता है, दोष-भाव दूर करता है या आ रहे दोष को उपादेय बनाता है ॥ ४१ ॥

[दोषाङ्कुश के तीन भेद यहाँ बताये गये है :– (१) कही दोष गुण हो जाता है; (२) कहीं दोष, दोष नहीं रह जाता तथा (३) कहीं दोष ऐसा गुण होता है कि उसे हटाना ही दोष होता है; वह अपरिहार्य अंग बन जाता है ॥ ४१ ॥]

मुखं चन्द्रश्रियं धत्ते श्वेतश्मश्रुकराङ्कुरैः ।
अत्र हास्यरसोद्देशे ग्राम्यत्वं गुणतां गतम् ॥४२॥

मुखमिति। (ग्राम्यदोषस्य गुणतायाः उदाहरणं यथा) **मुखं** वदनम् **श्वेतानि** सितानि। तानि च तानि श्मश्रूणि कपोलचिबुककेशा एव **कराणां** किरणानाम् **अङ्कुरः**; प्ररोहाः तैः। **चन्द्रस्य** शशिनः। **श्रियं** कान्तिम्। **धत्ते** धारयति।

अत्र अस्मिन्। उदाहरणे इति शेषः। **हास्यं** नाम। **रसः** एव **उद्देशः** उद्देश्यम्। तत्र। ग्राम्यत्वं (नाम दूषणम्)। **गुणतां** गुणत्वम्। **गतम्** प्राप्तम् ॥४२॥

(उदाहरण :—) सफेद श्मश्रु (दाढ़ी-मूँछे)-रूपी किरणों के अङ्कुरों से मुख, चन्द्र-कान्ति धारण कर रहा है।

यहाँ हास्य रस, लक्ष्य है जिसमें ग्राम्यत्व (दोष) गुण हो गया है ॥४२॥

[पहले प्रकार के दोषाङ्कुश का उदाहरण, श्लोक के पूर्वार्ध में देकर, उत्तरार्ध में व्याख्या की गई है। "मुख दाढी-मूँछ के सफेद बालों से युक्त है" यह वर्णन तथा उन बालो की उपमा चन्द्र-किरणों से करना ग्राम्य दोष के अन्तर्गत आता है; सभ्य समाज मे इस तरह का वर्णन नही किया जाता, किन्तु उद्देश्य हास्य रस की अनुभूति कराना होने के कारण यह दोष भी गुण बन गया है। हास्य रस मे प्रायः दोष जो अन्यत्र अटपटापन पैदा करते हैं, चमत्कार के कारण बनते है ।। ४२ ।।]

तव दुग्धाब्धि-संभूतेः कथ जाता कलङ्किता।
कवीनां समयाद्विद्याविरुद्धोऽदोषता गतः ॥ ४३ ॥

तवेति। (द्वितीयं दोषाङ्कुशप्रकारम् उदाहरति यथा) दुग्धस्य क्षीरस्य। अब्धिः सागरः क्षीरसागरः। तस्मात संभूतिः उत्पत्तिः यस्य तस्य। तव ते चन्द्रस्य। कलङ्किता सकलङ्कत्वम। कथं केन कारणेन। जाता उद्भूता।

विद्याविरुद्धः विद्यायाः विरुद्धः प्रयोगः। कवीनां सूरीणाम्। समयात् सम्प्रदायात्। अदोषतां दोषमुक्तताम्। गतः यातः ॥ ४३ ॥

क्षीर-सागर से उत्पन्न तुममें कलङ्क कैसे हो गया?

(यहाँ) कवि-सम्प्रदाय (में प्रचलित होने) के कारण शास्त्र-विरुद्ध (कलङ्क) (दोष का उदाहरण) भी दोष-रहित हो गया है ॥४३॥

[पुराण के अनुसार क्षीर-सागर से उत्पन्न चन्द्रमा, कलङ्क-रहित तथा अत्रि ऋषि के नेत्र से उत्पन्न (चन्द्रमा), कलङ्क-युक्त माना जाता है। यहाँ क्षीर-सागर से उत्पन्न चन्द्रमा से उसके कलङ्क का कारण पूछा गया है। जब उसमे कलङ्क पुराणानुसार है ही नहीं तब पूछने का अर्थ है कि उसे कलङ्क-युक्त बताया गया है। यह ऊपर बताये गये विरुद्ध दोष का एक भेद विद्या-विरुद्ध है जिसमें शास्त्र-विरुद्ध बात (जैसे केतकी का शङ्कर पर चढना) आती है। कलङ्क ऐसे चन्द्रम

में होना यद्यपि शास्त्र-विरुद्ध है पर यहाँ दोष नहीं है, क्योंकि कवि चन्द्रमा के कलङ्क के सम्बन्ध में इतनी बारीकी में नहीं जाते; उनके समय (=परम्परा) के अनुसार चन्द्रमा हर स्थिति मे कलङ्क-युक्त ही वर्णनीय है। इसका अर्थ यह हुआ कि कवि-परम्परा काव्य में सर्वाधिक प्रमुख है; भले ही वह शास्त्र के विरुद्ध हो।

यहाँ दोषाङ्कुश का दूसरा प्रकार बताया गया है। कवि-परम्परा के अनुसार यहाँ खटकने की कोई बात नहा है। एक सामान्य बात प्रश्न के द्वारा सूचित की गई है कि चन्द्रमा मे कलङ्क है। वर्णन में कोई विशेषता न होने से "कलङ्किना" शब्द न तो दोप है और न गुण ॥४३॥]

दधार गौरी हृदये देवं हि मकराङ्कितम्।
अत्र श्लेषोदयान्नैव त्याज्यं हीति निरर्थकम् ॥४४॥

दधारेति। (अधुना दोषाङ्कुशस्य तृतीयं भेदम् उदाहरति यथा) गौरी गौरवर्णा नायिका। हि वै। निश्चयार्थकम् अव्ययपदम्। मकरेण मीनेन। अङ्कितम् लाञ्छितम्। देवं देवताम् कामदेवम्। हृदये स्वान्ते। दधार स्थापयामास।

अत्र अस्मिन् उदाहरणे। श्लेषस्य शब्दालङ्कारस्य। उदयात् प्राकट्यात्। निरर्थकम् निरर्थकत्वदोपजुष्टम्। हीति हि इति अव्ययपदम्। न। एव कदापि। त्याज्यं परिहर्त्तव्यम्।

श्लेषेण हि इति अव्ययपदम अत्र गौरी पार्वती हिमकरेण चन्द्रमसा अङ्कितं देवं शिवम् हृदये दधार इति अर्थे उपयोगि अपरिहार्यम् अपि; गुणस्तु अस्त्येव ॥४४॥

गौर-वर्णा (नायिका) ने निश्चय ही मकर से अङ्कित देवता (कामदेव) को हृदय में स्थापित किया (या पार्वती ने चन्द्रमा से अङ्कित देवता अर्थात् शिव को हृदय में स्थापित किया)।

यहाँ श्लेष के प्रगट होने से निरर्थक "हि" (भो) कदापि त्याज्य नहीं है ॥४४॥

[दोषाङ्कुश के तीसरे भेद का यहाँ पूर्वार्ध मे उदाहरण है और उत्तरार्ध मे इसकी व्याख्या की गई है। निरर्थकत्व दोष में ऊपर बताया जा चुका है कि चरण-पूर्ति के लिये "हि" आदि निरर्थक शब्द नहीं रखने चाहिये। यहाँ "हि" श्लेष का आधार होने के कारण अपरिहार्य अंग है।

प्रकरण न ज्ञात होने से यहाँ "हि" की निरर्थकता का अर्थ ही विवक्षित माना गया है। पार्वती के पक्ष मे अर्थ लगाते समय तो "हि" सार्थक है। प्रकरण के अनुसार पार्वती के पक्ष वाला अर्थ लगने पर वह अर्थ भी लग सकता है। तब श्लेष से निकले दूसरे अर्थ में "हि" आने पर भी दोष न होगा; भले ही वह व्यर्थ हो।

इसी तरह युक्ति-पूर्वक शब्दों और अर्थों का प्रयोग करने पर दोष नही आ पाते अथवा वे गुण या अविभाज्य अंग हो जाते हैं। जो दोष नित्य है, उनमें तो दोषाङ्कुश नही लग सकता पर जो दोष अनित्य हैं, उनमे दोषाङ्कुश का प्रयोग कर दोषों को गुण या अविभाज्य बनाकर चमत्कार उत्पन्न किया जा सकता है। दोषाङ्कुशों का विस्तार साहित्य-दर्पण और काव्य-प्रकाश आदि ग्रन्थों मे देखना चाहिये। दोषाङ्कुशों की उपादेयता अनित्य दोषों में ही होती है। ३९ वें श्लोक की टीका मे जो दोष-सूची दी गई है, उसमें अनित्य दोषों का संकेत कोष्ठ में कर दिया गया है; शेष दोष नित्य समझने चाहिये।

इसी प्रकार रसों और अलङ्कारों के दोषों के लिये भी दोषाङ्कुशों का वर्णन उक्त ग्रन्थों में देखना चाहिये ॥४४॥]

महादेवः सत्रप्रमुखमखविद्यैक - चतुरः
सुमित्रा तद्भक्तिप्रणिहितमतिर्यस्य पितरौ।
द्वितीयस्तेनासौ सुकविजयदेवेन रचिते
चिरं चन्द्रालोके सुखयतु मयूखः सुमनसः ॥४५॥

इति चन्द्रालोकालङ्कारे दोषनिरूपणो नाम द्वितीयो मयूखः।

महादेव इति। द्वितीयः मयूखस्य विशेषणम्।

दोषाणां दूषणानाम् निरूपणं विवेचनम् यत्र। शेषः प्रथममयूखस्यान्ते द्रष्टव्यः ॥४५॥

पहले अध्याय के १६ वें श्लोक का अनुवाद द्रष्टव्य; केवल "इस" (जयदेव के द्वारा) की जगह "उस" तथा "प्रथम" (अध्याय या किरण) की जगह "द्वितीय" समझना चाहिये ।

प्रथम मयूख की पुष्पिका द्रष्टव्य; केवल "वाग्विचार" की जगह "दोष-निरूपण" समझना चाहिये ।।४५ ।।

[श्री हर्ष के नैषधचरित मे जिस तरह प्रत्येक सर्ग मे कवि के परिचय का अंतिम पद्य प्रायः समान है, उसी अनुकरण पर इस ग्रन्थ में जयदेव ने थोड़े से परिवर्तन कर अपना परिचय दिया है ।।४५।।]



तृतीयो मयूखः

अथ लक्षणानि

अल्पाक्षरा विचित्रार्थख्यातिरक्षरसंहतिः ।
उषाकान्तेनानुगतः शूरः शौरिरयं पुनः ।। १ ।।

अल्पाक्षरेति । अल्पानि स्तोकानि अक्षराणि यत्र सा अल्पाक्षरा । विचित्रः चमत्कारपूर्णः चासौ अर्थः वाच्यश्च विचित्रार्थः । तस्य ख्यातिः प्रकाशनं यत्र विचित्रार्थख्यातिः । अक्षरसंहतिः । इति कथ्यते इति शेषः (अक्षराणां चेतश्चमत्कृतिकारकाणां संहतिः समूहः) ।

(उदाहरति यथा) अयम् असौ । पुनः तु । उषायाः बाणासुरपुत्र्याः । कान्तेन प्रियेण अनिरुद्धाख्येन कृष्णपौत्रेण । अनुगतः अनुसृतः । शूरः वीरः । शौरिः शूरस्य यादवविशेषोद्भवस्य अपत्यम् अयं पुमान् । कृष्णः इत्यर्थः ।। १ ।।

तृतीय अध्याय । लक्षण

अक्षरसंहति, थोड़े अक्षरों वाली और चमत्कारपूर्ण अर्थ की प्रकाशक होती है ।

(उदाहरण :—) इधर ये वीर कृष्ण हैं जिनके पीछे-पीछे उषा-कान्त (अनिरुद्ध) चल रहे हैं ।। १ ।।

[यहाँ अक्षर संहति की परिभाषा पूर्वार्ध में दी गई है । काव्य की परिभाषा में प्रथम मयूख में "निर्दोषा लक्षणवती" आदि आ चुका है । क्रम से, दोष बताने के बाद अब लक्षण बताये जा रहे हैं ।

संस्कृत में लक्षण का अर्थ चिह्न और परिभाषा है । यहाँ अर्थ चिह्न है । जैसे गुण का सामान्य अर्थ अच्छा गुण है, उसी प्रकार लक्षण का अर्थ "अच्छे लक्षण" है । हिन्दी में भी चिह्न के लिये इस शब्द का प्रयोग होता है ।

सूत्र की परिभाषा में भी सबसे पहले "अल्पाक्षर" विशेषण आता है। अक्षर-संहृति भी ऐसा लक्षण है जिसमें कम से कम शब्दों से बहुत सा अर्थ आ जाय और चमत्कारी भी हो।

उदाहरण मे "अनिरुद्ध" की जगह "उषा-कान्त" कहकर कवि ने एक ही पद से पाठको और श्रोताओं को उषा और अनिरुद्ध की कथा की याद दिला दी।

बलि-पुत्र बाण नामक असुर शोणितपुर का राजा था। उसकी कन्या उषा ने पिता की अनुमति के बिना श्रीकृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध से ब्याह कर लिया। इस पर श्रीकृष्ण और बाण मे भयंकर युद्ध हुआ। श्रीकृष्ण ने इस युद्ध मे बाण के पक्ष से लडने वाले शकर जी को भी हराया। यह कथा भागवत के दसवें स्कन्ध मे विस्तार से आई है।

अक्षर-सहृति का वर्णन काव्य-लक्षणो मे कम आता है। इसे कुछ लोग समासोक्ति भी कहते है ॥ १ ॥]

शोभा ख्यातोऽपि यद्दोषो गुणकीर्त्या निषिध्यते।
मुधा निन्दन्ति संसारं कंसारिर्यत्र पूज्यते ॥ २ ॥

शोभेति। यत्। ख्यातः प्रसिद्धः। अपि। दोषः दूषणम्। गुणस्य कीर्त्या वर्णनेन। निषिध्यते प्रतिषिध्यते। (सा) शोभा। नाम लक्षणम् इति शेषः।

(उदाहरति यथा) (लोकाः) मुधा व्यर्थमेव। संसारं लोकम्। निन्दन्ति अनित्य-दुःखमय-बन्धनकरादिभिः पदैः तिरस्कुर्वन्ति। यत्र यस्मिन्। कंसस्य देवकीभ्रातुः। अरिः शत्रुः। श्रीकृष्णः। पूज्यते अर्च्यते ॥ २ ॥

गुण के वर्णन से प्रसिद्ध दोष का भी जो निषेध हो जाता है, वह शोभा (-नामक लक्षण) है।

(उदाहरण:—) उस संसार की व्यर्थ निन्दा की जाती है जिसमें कृष्ण की पूजा होती है ॥ २ ॥

[उदाहरण मे "जहाँ श्रीकृष्ण पूजे जाते है" कहने से संसार के काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर दोषों का तत्काल निषेध हो जाता है। इस

चमत्कारी अर्थ के आने से रचना लक्षण-युक्त हो गई है ।। २ ।।]

अभिमानो विचारश्चेदूहितार्थनिषेधकृत् ।
इन्दुर्यदि कथं तीव्रः सूर्यो यदि कथं निशि ।। ३ ।।

अभिमान इति । **ऊहितः** उत्प्रेक्षितः च असौ **अर्थः** वाच्यः च । तस्य **निषेधकृत्** प्रतिषेधकर्त्ता । **विचार**. अभिप्रायः । **चेत्** यदि (तर्हि) । **अभिमानः** (नाम लक्षणं भवति) ।

(उदाहरति यथा) **यदि** चेत् । **इन्दुः** चन्द्रः । (तदा) **कथं** कस्मात् कारणात् । **तीव्रः** तीक्ष्णः । इन्दोः शीतलधर्मवत्त्वात् । **यदि** चेत् (च) । **सूर्यः** रविः । (तदा) **कथं** केन कारणेन । **निशि** रात्रौ । **प्रकाशते** इति शेषः ।।३।।

यदि विचार, सोची गई बात का निषेध करने वाला हो तो अभिमान (नामक लक्षण) होता है ।

(उदाहरण:—) अगर चन्द्रमा है तो तीक्ष्ण क्यों है और अगर सूरज है तो रात में कैसे ? ।।३।।

[एक विचार देकर फिर उसका खण्डन करने वाला दूसरा विचार देना अभिमान-नामक लक्षण है ।

उदाहरण में पहले "चन्द्रमा है" कहकर फिर उसका खण्डन किया और फिर "सूर्य है" कहकर उसका भी खण्डन कर दिया । इस प्रकार दो बार "अभिम.न" लक्षण आया ।

विरहिणी नायिका को शीतल चन्द्रमा भी उद्दीपक होने से दाहकर प्रतीत हो रहा है, अतः वह उसे चन्द्रमा नहीं मानती ।। ३ ।।]

हेतुस्त्यक्त्वा बहून् पक्षान् युक्त्यकस्यावधारणम् ।
नेन्दुर्नार्कोऽयमौर्वाग्निः सागरादुत्थितो दहन् ।। ४ ।।

हेतुरिति । **युक्त्या** उपपत्त्या । **बहून्** अनेकान् । **पक्षान्** सिद्धान्तान् । **त्यक्त्वा** विहाय । **एकस्य** कस्यचित् सिद्धान्तस्य । **अवधारणम्** निश्चयः । यत् क्रियते इति शेषः तत् । **हेतुः** (नाम लक्षणम्) ।

(उदाहरति यथा) **सागरात्** समुद्रात् । **उत्थितः** उद्भूतः । **दहन्** ज्वलयन् । **अयं** पुरो दृश्यमानः । **इन्दुः** चन्द्रमाः । **न** । **अयम्** असौ । **अर्कः**

मार्त्तण्डः। न। अयम् असौ। औवः वाडवः च असौ अग्निः हुताशनः च ॥ ४॥

युक्ति से अनेक पक्षों का खण्डन कर किसी पक्ष का निश्चय (समर्थन) करना हेतु (-नामक लक्षण) होता है।

(उदाहरणः—)समुद्र से उत्पन्न जला रहा यह, न तो चन्द्रमा है और न सूर्य; यह बड़वाग्नि है ॥ ४॥

[जब कई पक्षों का खण्डन कर एक-एक पक्ष का समर्थन करते है; भले ही वह गलत हो, तब एक चमत्कार-पूर्ण अर्थ निकलता है, इसलिये इसे लक्षण मे गिना गया है। समुद्र से निकली हुई सभी चीजे शीतल होनी चाहिये क्योंकि स्वयं समुद्र शीतल है; केवल बड़वानल हो ऐसा प्रचण्ड है जो समुद्र से निकलकर भी पानी तक को जला देता है; चन्द्रमा तथा सूर्य का ताप उतना असह्य नहीं होता। इसी लोकानुभव के आधार पर विरहिणी नायिका चन्द्रमा को देखकर उसके उद्दीपक होने के कारण ताप का अनुभव कर उस ताप की भयंकरता का वर्णन कर रही है जिसमें उसने चन्द्र और सूर्य पक्षों का खण्डन कर "बड़वानल" पक्ष का समर्थन किया है। कुछ लोग इसे अपह्नुति अलंकार में ही गिन लेते हैं; कोई भिन्न वस्तु नहीं मानते ॥ ४॥]

प्रतिषेधः प्रसिद्धानां कारणानामनादरः।
न युद्धेन भ्रुवोः स्पन्देनैव वीरा निपातिताः ॥ ४॥

प्रतिषेध इति। **प्रसिद्धानां** विदितानाम् **कारणानां** हेतूनाम्। **अनादरः** तिरस्कारः। **प्रतिषेधः** (इतिनाम लक्षणम्)।

(उदाहरति यथा) **वीराः** शूराः। **भ्रुवोः** भृकुटेः। **स्पन्देन** चालनेन। **एव**। **निपातिताः** पराजिताः। न। **युद्धेन** सङ्ग्रामेण ॥ ५॥

प्रसिद्ध कारणों का अनादर, प्रतिषेध (नामक लक्षण) होता है।

(उदाहरण :—) वीर भौंहों के संचालन से ही पराजित किये गये; लड़ाई से नहीं ॥ ५॥

[प्रसिद्ध कारण न मानकर कोई अप्रसिद्ध कारण देना प्रतिषेध होता है। वह वास्तविक कारण ही प्रायः प्रसिद्ध होता है; अप्रसिद्ध कारण प्रायः

कारणाभास होते हैं; कारण नहीं, पर उनके कारण न होने पर भी उनका समर्थन, अर्थ-चमत्कार ला देता है जिससे इसे लक्षण के अन्तर्गत माना गया है।

उदाहरण में प्रसिद्ध और वास्तविक कारण "वीर की वीरता से शत्रु-पक्ष के वीर पराजित हुये" न कहकर अप्रसिद्ध और भौंह के उठने से उनका पराजित होना कहा गया है।

इसे कुछ लोग "हेत्वपह्नुति" के अन्तर्गत गिनते हैं ॥ ५ ॥]

निरुक्तं स्यान्निर्वचनं नाम्नः सत्यं तथानृतम् ।
ईदृशैश्चरितै राजन् सत्यं दोषाकरो भवान् ॥ ६ ॥

निरुक्तमिति। नाम्नः सञ्ज्ञायाः। सत्यम् अवितथम् व्याकरण-सम्मतम्। तथा एवम्। अनृतम् असत्यम् व्याकरणविरुद्धम्। निर्वचनम् व्युत्पत्यर्थ-प्रकाशनम्। निरुक्तम् (नाम लक्षणम्)। स्यात् भवेत्।

(उदाहरति यथा) (हे) राजन् (सम्बुद्धौ) नृप। ईदृशैः एवंविधैः। चरितैः आचरणैः सद्भिः असद्भिश्च। भवान् त्वम्। सत्यं यथार्थम्। दोषाकरः चन्द्रः दोषां रात्रिं करोतीति व्युत्पत्त्या। दूषणखनिः दोषास्पद वा दोषाणाम् दूषणानां आकरः खनिः इति व्युत्पत्त्या ॥ ६ ॥

संज्ञा (और विशेषण) का सत्य तथा असत्य व्युत्पत्ति-जन्य अर्थ निरुक्त (-नामक लक्षण) होता है।

(उदाहरण :–) हे महाराज, ऐसे (बुरे तथा अच्छे) आचरणों से आप सचमुच दोषाकर (चन्द्रमा या बुराइयों की खान) हैं।

[निर्वचन, नाम का सत्य या असत्य निर्वचन है। निर्वचन, व्युत्पत्ति से निकलने वाला अर्थ है। यह व्युत्पत्ति न लगने पर भी अगर अर्थ लगाया जाय तो भी शोभा होने से लक्षण होगा। कालिदास ने "राजा प्रकृतिरञ्जनात्" लिखा है। यह निर्वचन व्याकरण-सम्मत न होने से असत्य है; फिर भी चमत्कार-पूर्ण अर्थ देता है, अतः यहाँ लक्षण है।

ऊपर श्लोक के उत्तरार्द्ध में दिये उदाहरण में सत्य निर्वचन है। दोषाकर के दोनो अर्थ निकलते हैं और बुरे तथा अच्छे दोनो प्रकार के

कार्य करने वाले किसी राजा की साफ-साफ आलोचना मुँह पर करने के लिये "दोषाकर" शब्द बहुत अच्छा है ॥ ६ ॥]

स्यान्मिथ्याध्यवसायश्चेदसती साध्यसाधने।
चन्द्रांशुसूत्रग्रथितां नभ.पुष्पस्रजं वह ॥ ७॥

स्यादिति। **साध्यं** कार्यं च **साधनं** कारणं च। **असती** न सत् **असत्** ते मिथ्याभूते इत्यर्थः। **चेत्** यदि (भवेताम् तदा)। **मिथ्याध्यवसायः** (नाम लक्षण) **स्यात्** भवेत्।

(उदाहरति यथा) **चन्द्रस्य** मृगाङ्कस्य। **अंशवः** किरणाः एव **सूत्राणि** तन्तवः तैः **ग्रथितां** निर्मिताम्। **नभसः** आकाशस्य। **पुष्पाणां** कुसुमानाम्। **स्रजं** मालाम्। **वह** धारय।

अत्र उदाहरणे चन्द्रांशूना सूत्रत्वं नभसः पुष्पाणा माला च उभयं कारणं कार्यं च असत् अतः मिथ्याध्यवसायः ॥ ७ ॥

यदि कार्य और कारण का अस्तित्व न हो तो मिथ्याध्यवसाय (-नामक लक्षण) होता है।

(उदाहरण :—) चन्द्रमा की किरणों की डोर मे पिरोये गये आकाश-कुसुमों की माला धारण करो ॥ ७ ॥

[किसी कारण का होना अनिवार्य है पर काव्य मे असंभव घटना बताने के लिये कार्य और कारण दोनो कल्पित रखे जाते हैं। ऐसी स्थिति मे चमत्कार आ जाता है जो लक्षण है।

यहाँ दिये उदाहरण मे चन्द्र-किरणों को सूत्र बनाया गया है जो असंभव है। फिर आकाश के फूलों की माला कहा गया है; वह भी असंभव है। इस प्रकार सूत्र और माला जो कारण और कार्य हैं अस्तित्व-विहीन हैं ॥ ७ ॥]

सिद्धिः ख्यातेषु चेन्नाम कीर्त्यते तुल्यतोक्तये।
युवामेवेह विख्यातौ त्वं बलैर्जलधिर्जलैः ॥८॥

सिद्धिरिति। **ख्यातेषु** प्रसिद्धेषु। **तुल्यतायाः** समतायाः। **उक्तये** कथनाय। **नाम** सञ्ज्ञा तेषां ख्यातानाम् इत्यर्थः। **कीर्त्यते** कथ्यते। **चेत्** यदि (तदा)। **सिद्धिः** (नाम लक्षणं भवति)।

(उदाहरति यथा) इह अत्र संसारे । युवाम् त्वं राजा च सः जलधिः च । एव । विख्यातौ प्रसिद्धौ । त्वं भवान् राजा । बलैः सैन्यैः (विख्यातः) । जलधिः समुद्रः (च) । जलैः वारिभिः (विख्यातः) ।

अत्र ख्यातयोः राज्ञः च समुद्रस्य च नाम कीर्तितम् अतः सिद्धिः नाम लक्षणम् ॥ ८ ॥

प्रसिद्धों के बीच समता के वर्णन के लिये यदि नाम लिया जाता है तो सिद्धि (-नामक लक्षण) होती है ।

(उदाहरणः—) यहाँ आप दो ही प्रसिद्ध है; आप सैन्यों के कारण और समुद्र जल के कारण (प्रसिद्ध हैं) ॥८॥

[मूल में "ख्यातेषु" बहुवचन होने से दो से अधिक प्रसिद्ध व्यक्ति, वस्तु या स्थान होने चाहिये पर उदाहरण मे केवल दो व्यक्ति आदि होने से "दो प्रसिद्ध" अर्थ भी लिया जायेगा ।

उदाहरण मे विख्यात राजा का वर्णन करने के लिये विख्यात समुद्र का नाम लिया गया है, अतः सिद्धि-नामक लक्षण है ।

जिस तरह जल से जलधि प्रसिद्ध है उसी तरह सेनाओं से राजा प्रसिद्ध है, अतः तुल्य हैं । दोनो की समृद्धि की समता दिखाने के लिये दोनो का नाम लिया गया है ।

इस लक्षण का अन्तर्भाव "तुल्य-योगिता" अलङ्कार में किया जाता है, अतः इसका वर्णन सभी जगह नहीं मिलता ॥८॥]

युक्तिर्विशेषसिद्धिश्चेद्विचित्रार्थान्तरान्वयात् ।
नवस्त्वं नीरदः कोऽपि स्वर्णैर्वर्षसि यन्मुहुः ॥ ९ ॥

युक्तिरिति । विचित्रम् आश्चर्यकारकम् च तत् अर्थान्तरं च । अन्यः अर्थः अर्थान्तरम् । तेन अन्वयात् सम्बन्धात् विचित्रार्थान्तरान्वयात् । विशेषस्य असामान्यस्य अर्थस्य । सिद्धिः प्रतिपत्तिः । चेत् यदि (तदा) । युक्तिः (नाम लक्षणम् भवति) ।

(उदाहरति यथा) त्वं भवान् । कोऽपि अवर्णनीयः । नवः नूतनः ।

नीरदः मेघः । यत् । स्वर्णैः कनकैः । मुहुः वारं वारम् । वर्षसि । संकल्प-जलम् इति शेषः ।

अत्र "त्वं स्वर्णवर्षकः जलदः । जलदः जलमेव वर्षति । त्वं तु परमोत्कृष्टेन स्वर्णेन सह वर्षसि इति विच्चित्रार्थान्तरान्वयः । तस्मात् "यथा जलदः वारं वारं धारासारैः जलं वर्षति तथा भवान् अपि स स्वर्णम् इति तु विशेषः" इति विशेषस्य अर्थस्य सिद्धिः अतः युक्तिः नाम लक्षणम् ।। ६ ।।

अन्य विस्मय-कारक अर्थ के सम्बन्ध से यदि विशेष (अर्थ) की सिद्धि की जाय तो युक्ति (-नामक लक्षण) होती है ।

(उदाहरणः—) आप कोई नये बादल है जो बार-बार सोने के साथ वर्षा करते है ।।६।।

["साधारण बादल केवल पानी बरसाता है और आप केवल पानी ही नही, उसके साथ-साथ सोना बरसाते हैं । जल तो संकल्प के समय रहता ही है ।" इस प्रकार विलक्षण अर्थ का सम्बन्ध राजा से करके यह विशेष अर्थ की सिद्धि की गई है ।

जैसे बादल बार-बार और मूसलधार पानी बरसाते हैं; उसी प्रकार राजा प्रचुर स्वर्ण, बार-बार याचको को देते है ।

इसे व्यतिरेक अलङ्कार मे अन्तर्भूत भी किया जाता है ।।९।।]

कार्यं फलोपलम्भश्चेद् व्यापाराद्वस्तुतोऽथ वा ।
असावुदेति शीतांशुर्मानच्छेदाय सुभ्रुवाम् ।।१०।।

कार्यमिति । व्यापारात् कार्यात् । अथ वा वस्तुतः फलस्य परिणामस्य । उपलम्भः प्राप्तिः । चेत् यदि (तदा) । कार्यम् (नाम लक्षणं भवति) ।

(उदाहरति यथा) असौ पुरो दृश्यमानः । शीतांशुः शीतलाः अंशवः किरणाः यस्य सः चन्द्रः । सुभ्रुवाम् शोभने भ्रुवौ यासां तासां सुन्दरीणाम् इत्यर्थः । मानस्य कोपस्य । छेदाय खण्डनाय । उदेति उदयति ।

अत्र शीतांशोः उदयः व्यापारः । तस्मात् मानभङ्गः यः नायकस्य संयोगरूपस्य फलस्य लाभः ।।१०।।

व्यापार (काम) या वस्तु से यदि फल-प्राप्ति हो तो कार्य (-नामक लक्षण) होता है।

वह (सामने) चन्द्रमा सुन्दरियों का कोप नष्ट करने के लिये निकल रहा है ॥१०॥

[व्यापार या वस्तु से फल की प्राप्ति होना इस "कार्य"-नामक लक्षण की परिभाषा है। उदाहरण में चन्द्रमा का उदय एक व्यापार (काम) है; उसका फल सुन्दरियों का मान-भङ्ग है जो नायक के लिये पुनर्मिलन-रूपी फल है। इसे परिणामालंकार में अन्तर्भूत भी किया जाता है ॥१०॥]

इत्यादि लक्षणं भूरि काव्यस्याहुर्महर्षयः।
स्वर्णभ्राजिष्णुभालत्वप्रभृतीव महीभुजः ॥११॥

इत्यादीति। इति उपर्युक्तम् आदौ यस्य तत्। काव्यस्य कवितायाः। भूरि बहु। लक्षणम् शास्त्रीयं नाम चिह्नम् वा। महीभुजः नृपस्य। स्वर्णं हेम। तद्वत् भ्राजिष्णुः दीप्तः भालः ललाटं यस्य सः। तस्य भावः स्वर्णभ्राजिष्णुभालत्वम् तत्प्रभृतीव तत्तुल्यम्। महर्षयः भरतादयः पूर्वाचार्याः। आहुः अकथयन् ॥११॥

उपर्युक्त तथा अन्य बहुत से काव्य-लक्षण महर्षियों के द्वारा कहे गये हैं। ये (राजा की निशानी) सोने से चमकते हुये मस्तक वाला आदि राज-लक्षणों के समान हैं ॥११॥

[यहाँ कुछ ही लक्षण कहे गये हैं। ये लक्षण विस्तार से आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र में लिखे हैं। १६ वें अध्याय के श्लोक १ से ४७ में निम्नलिखित लक्षण आये हैं :—(१) विभूषण, (२) अक्षर-संघात, (३) शोभा, (४) अभिमान, (५) गुण-कीर्तन, (६) प्रोत्साहन, (७) उदाहरण, (८) निरुक्त, (९) गुणानुवाद, (१०) अतिशय, (११) हेतु, (१२) सारूप्य, (१३) मिथ्याध्यवसाय, (१४) सिद्धि, (१५) पदोच्चय, (१६) आक्रन्द, (१७) मनोरथ, (१८) आख्यान, (१९) याच्ञा, (२०) प्रतिषेध, (२१) पृच्छा, (२२) दृष्टान्त, (२३) निर्भासन, (२४) संशय, (२५) आशीः, (२६) प्रिय, (२७) कपट, (२८) क्षमा, (२९) प्राप्ति, (३०) पश्चात्तपन, (३१) अर्थानुवृत्ति,

(३२) उपवृत्ति, (३३) युक्ति, (३४) कार्य, (३५) नीति तथा (३६) परिवेदन ।

इस ग्रन्थ मे भीदिये ९ लक्षण ऊपर रेखांकित हैं। अक्षर-संहति के स्थान पर भरत ने अक्षर-सङ्घति नाम दिया है। क्रम भी भिन्न है। भरत के ३६ लक्षणों के स्थान पर यहाँ १० लक्षण ही कहे गये है। "इत्यादि" कहने से आशय है कि विस्तार मे जाने की कोई आवश्यकता नहीं है।

यहाँ लक्षण के दो अर्थ है (१) परिभाषिक लक्षण तथा (२) चिह्न।

ये लक्षण (पारिभाषिक), काव्य के ज्ञापक चिह्न है। जिस प्रकार सोने से चमकते ललाट वाला होना आदि अनेक चिह्न राजा के बताये गये है, वैसे ही काव्य के ये अनेक चिह्न है।

काव्य की परिभाषा मे इन्हे यहाँ महत्त्व-पूर्ण स्थान दिया गया है, जब कि अन्य बहुत से लेखक इनका वर्णन न कर अलङ्कारों में ही इन्हे अन्तर्भूत कर देते है ॥ ११ ॥]

महादेवः सत्रप्रमुखमखविद्यैकचतुरः
सुमित्रा तद्भक्तिप्रणिहितमतिर्यस्य पितरौ।
तृतीयस्तेनासौ सुकविजयदेवेन रचिते
चिरं चन्द्रालोके सुखयतु मयूखः सुमनसः ॥ १२ ॥

इति चन्द्रालोकालङ्कारे लक्षणनिरूपणो नाम तृतीयो मयूखः।

(यहाँ द्वितीय के स्थान पर तृतीय तथा दोष के स्थान पर लक्षण के अतिरिक्त शेष द्वितीय मयूख के ४५ वें श्लोकादि की तरह है ॥ १२ ॥]

चतुर्थो मयूखः

अथ गुणाः

श्लेषो विघटमानार्थ - घटमानत्ववर्णनम् ।
स तु शाब्दः सजातीयैः शब्दैर्बन्धः सुखावहः ॥ १ ॥

श्लेष इति । विघटमानः विसंवदन् च असौ अर्थः वाच्यः च । तस्य । घटमानस्य सम्भवित्वस्य । वर्णनं प्रतिपादनम् । श्लेषः (नाम गुणः) । श्लेषस्य अर्थश्लेषस्य च लक्षणमिदम् ।

सः श्लेषगुणः तु । सजातीयैः समानरूपैः । शब्दैः वाचकैः । सुखावहः आनन्दप्रदः । बन्धः पदरचना (सन्) । शाब्दः (शब्दाश्रितः) नाम श्लेषः शब्दश्लेषः इति वा (भवति) ।

✓असंभव अर्थ के संभव होने का वर्णन श्लेष (नामक गुण) होता है । वह (श्लेष), समान रूप वाले शब्दों की आनन्द-दायक पद रचना होने पर शाब्द श्लेष (नामक गुण) होता है ।

[काव्य की परिभाषा में रीति के बाद गुण बताये गये हैं । क्रम से चलने पर यहाँ लक्षण के बाद गुण का वर्णन होना चाहिये था ।

यहाँ गुण की परिभाषा नहीं दी गई है । काव्य-प्रकाश में इसकी उत्तम परिभाषा मिलती है :–

ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः ।
उत्कर्ष हेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ॥

जिस प्रकार अङ्गी आत्मा के उत्कर्ष-हेतु और अचल स्थिति वाले धर्म शौर्य इत्यादि हैं, उसी प्रकार अङ्गी रस के उत्कर्ष-हेतु और अचल स्थिति वाले धर्म गुण हैं ।

वामन ने गुणों को शाब्द माना है; आर्थ नहीं । यहाँ तथा प्रायः ये गुण शाब्द और आर्थ दो प्रकार के कहे गये हैं ।

भरत मुनि ने दस गुण बताये हैं जिन्हें भामह, दण्डी, वामन जयदेव, पण्डितराज जगन्नाथ और वाग्भट ने भी माना है :-

(१) श्लेष, (४) समाधि, (७) पद-सौकुमार्य, (९) उदारता तथा
(२) प्रसाद, (५) माधुर्य, (८) अर्थ-(की)व्यक्ति,(१०) कान्ति ।
(३) समता, (६) ओज,

मन्दार-मरन्द-चम्पू के लेखक श्रीकृष्ण तथा सरस्वतीकण्ठाभरणकार भोजदेव ने २४ गुण माने हैं । उनमें से ऊपर १० के अलावा १४ गुण निम्नलिखित हैं :-

(१) उदारता, (४) सुशब्दता, (७) विस्तर, (१०) भाविक, (१३)उक्ति तथा
(२) और्जित्य, (५) सौक्ष्म्य, (८) सच्चेप, (११) गति, (१४) प्रौढि ।
(३) प्रेम, (६) गाम्भीर्य, (९)सम्मितत्व, (१२) रीति,

इस ग्रन्थ में केवल ८ गुण उदाहरण-सहित कहे गये हैं जिनमें से ऊपर रेखांकित हैं । भरत के पद-सौकुमार्य की जगह जयदेव ने सौकुमार्य नाम लिखा है । शेष नाट्यशास्त्रोक्त दो गुण भी माने हैं पर शृंगार और प्रसाद गुण में उनके पाये जाने के कारण, उदाहरण नहीं दिये हैं ।

मम्मट और विश्वनाथ ने तीन गुण ही बताये हैं :-

[१] माधुर्य, [२] ओज तथा [३] प्रसाद ।

यही मत प्रचलित है । इन्हीं तीन में शेष २१ गुणों का या तो अन्तर्भाव किया जा सकता है या वे दोष-अभाव आदि की स्थिति में स्वयं प्रादुर्भूत हो जाते हैं :—

ओज में निम्नलिखित का अन्तर्भाव हो सकता है :—

(१) श्लेष, (४) प्रसाद तथा
(२) समाधि, (५) ओज ।
(३) औदार्य,

"प्रसाद" में "अर्थ-व्यक्ति" का अन्तर्भाव हो सकता है और "कान्ति" ग्राम्यत्व दोष का (अभाव) तथा "सुकुमारता" श्रुति-कटु दोष का अभाव कही जा सकती है ।

इस तरह १० गुणों का अन्तर्भाव तीन गुणों में या दो दोषों के अभाव में हो गया ।

इन गुणों को दूसरे ढंग से भी अन्तर्भूत किया जा सकता है :—

ओज, प्रसाद, माधुर्य, सौकुमार्य तथा उदारता को क्रमशः अपुष्टार्थ, अधिक, अनवीकृत, अमङ्गल अश्लील तथा ग्राम्य दोषों का अभाव कह सकते हैं।

अर्थ-व्यक्ति तथा कान्ति को क्रमशः "स्वभावोक्ति" अलङ्कार तथा कान्ति को रसध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्य में अन्तर्भूत कर सकते हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ ने कहा है कि आत्मा निर्गुण है सगुण नहीं, अतः शौर्यादिक गुण शरीर के हैं, आत्मा के नहीं जिससे यह निष्कर्ष निकलेगा कि गुण रस के धर्म न होकर शब्द और अर्थ के धर्म हैं। यह बात सही नहीं है। वेदांत में आत्मा को निर्गुण मानते हुये भी व्यावहारिक आत्मा को सगुण माना गया है तथा यदि गुणों को रस का धर्म नहीं मानेंगे तो गुण और अलङ्कार में कोई भेद नहीं रह जायेगा ॥ १ ॥]

उल्लसत्तनुतां नीतेऽनन्ते पुलककण्टकैः।
भीतया मानवत्येव श्रियाश्लिष्टं हरिं स्तुमः ॥२॥

उल्लसदिति। अनन्ते सर्पराजे शेषे। पुलकाः रोमाञ्चाः एव कण्टकाः शिताग्राः। तैः। उल्लसन्ती उल्लासशीला च सा तनुः देहः च। तस्याः भावः। ताम्। नीते प्रापिते। भीतया भयप्राप्तया। श्रिया लक्ष्म्या। मानवत्या मानिन्या। एव (सत्या)। आश्लिष्टम् आलिङ्गितम्। हरिं विष्णुम्। स्तुमः प्रणमामः।

हम, शेष नाग का शरीर रोमाञ्च-कण्टकों के उल्लसित हो जाने पर डरी हुई लक्ष्मी के द्वारा, मानवती रहती हुई ही, आलिङ्गित विष्णु की स्तुति करते हैं ॥२॥

[मानवती नायिका का आलिङ्गन असंभव है पर श्लेष-गुण, सर्प के रोमाञ्च-कण्टक-युक्त शरीर का वर्णन कर, लाने से संभव हो गया है, अतः श्लेष या अर्थ-श्लेष है।

तनुता शब्द का अर्थ कृशता भी है। लक्ष्मी के पुलक-कण्टकों से कृश या संकुचित होने पर लक्ष्मी का डरना संभव न होने पर भी हरि-भक्ति के कारण शेष का ही शरीर पुलक-कण्टकित होने से उन कण्टकों या उस विस्तार से लक्ष्मी

का डरना संभव हो जाने से समान रूप वाले "तनुता" शब्द से असंभव संभव हो गया है, अतः यह शब्द श्लेष-गुण का भी उदाहरण हो सकता है।

यह अर्थ लगाना कि शेष पुलक-कण्टकों से (अपने या लक्ष्मी के) स्वयं कृश या संकुचित हो गया है और लक्ष्मी डर गई है, ठीक नहीं बैठता। कृश हो जाने से डर नहीं पैदा होता, कण्टक-युक्त होने अथवा रोमाञ्चों से स्थूल होने से सर्प डरावना प्रतीत हो सकता है। इसे इस तरह बैठाया जा सकता है कि लक्ष्मी शेष नाग पर बैठी है। विष्णु से कुपित होकर भी उनके दर्शन से रोमाञ्चित हो जाती है जिससे उनके रोम शेष नाग के शरीर में चुभते हैं और वे सङ्कुचित हो जाते है। इस पीडा से शेष नाग के नीचे जाने का अनुभव करने के साथ लक्ष्मी उनके कुपित होने की आशंका से विष्णु की शरण मे जाती है। यह अर्थ कष्ट कल्पना से निकलेगा तथा शाब्द श्लेष गुण का उदाहरण नहीं बनेगा, अतः त्याज्य है।

अनुराग को शब्द-श्लेष का उदाहरण मानने से न तो शब्द की एक-रूपता होगी और न उससे असंभव संभव हो पायेगा, अतः वैसा मानना उचित नहीं है ॥ २ ॥]

यस्मादन्तःस्थितः सर्वः स्वयमर्थोऽवभासते ।
सलिलस्येव सूक्तस्य स प्रसाद इति स्मृतः ॥३॥

यस्मादिति। अन्तः अभ्यन्तरे। स्थितः विद्यमानः। सर्वः समग्रः। अर्थः पदार्थ। यस्मात् यतः। स्वयं प्रयासं विना। अवभासते स्फुरति। सः असौ (गुणः)। सलिलस्य जलस्य। प्रसादः निर्मलता। इव। शोभनं न तत् उक्तं च सूक्तं सुभाषितं काव्यं तस्य। प्रसादः (नाम गुणः)। स्मृतः कथितः ॥ ३ ॥

अन्दर स्थित सम्पूर्ण अर्थ या पदार्थ जिसके कारण अपने आप प्रकट हो जाता है, वह (गुण), जल की निर्मलता की भाँति काव्य का प्रसाद (गुण) कहा गया है ॥ ३ ॥

[जैसे स्वच्छ पानी के बर्तन के तल में पड़ी हुई चीज ऊपर से साफ-साफ दिखती है, उसी तरह प्रसाद-गुण युक्त काव्य में अर्थ तुरंत प्रगट होता है; उसके

लिये श्रम नहीं करना पड़ता । जिस काव्य का अर्थ खोजना पडता है, वह या तो दोष-युक्त होता है या चित्र काव्य होने के कारण हीन श्रेणी में आता है। ऐसा काव्य लिखने के लिये प्रचलित शब्द और शैली पर विशेष ध्यान देते हुये दोषो से पूरी तरह बचना पडता है।

आगे उदाहरण न होने से, यह श्लोक ही प्रसाद-गुण का उदाहरण मानना उचित है। इसकी भाषा और भाव इतने साफ हैं कि पढते-पढ़ते अर्थ स्पष्ट होता जाता है ।

रस-वादी मम्मट आदि आचार्यो ने प्रसाद गुण का शब्द और अर्थ में रहना केवल औपचारिक माना है। काव्य का वास्तविक लक्ष्य रस होने के कारण उस रस की तत्काल प्रतीति कराने वाला गुण प्रसाद गुण होता है ।

यही बात काव्य-प्रकाश की सार-बोधिनी टीका के रचयिता ने निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त की है :

समर्पकत्वं काव्यस्य यतः सर्वरसान् प्रति ।
स प्रसादो गुणो ज्ञेयः सर्वसाधारणक्रियः ।।

काव्य-प्रकाश में प्रसाद गुण की परिभाषा निम्नलिखित दी गई है:—

शुष्केन्धनाग्निवत्स्वच्छजलवत्सहसैव यः ।
व्याप्नोत्यन्यत्प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहित-स्थितिः ।।

सूखे ईंधन की आग तथा स्वच्छ जल की तरह जो गुण एकाएक व्याप्त कर ले वह प्रसाद गुण है। इसकी स्थिति सभी जगह होती है।

इस परिभाषा के अनुसार प्रसाद गुण का सम्बन्ध किसी एक रस से नही है। आग की तरह वीर, रौद्र, आदि रसों में और जल की तरह शृंगार, करुण आदि रसों में जो रचना हृदय को व्याप्त कर लेती है, वह प्रसाद-गुण-युक्त होती हैं ॥३॥]

समताल्पसमासत्वं वर्णाद्यैस्तुल्यताऽथ वा ।
श्यामला कोमला बाला रमणं शरणं गता ॥४॥

समतेति । अल्पाः परिमिताः च ते समासाश्च । तेषा भावः अल्प-समासत्वम् । अथ वा यद्वा । वर्णाः (अत्र स्वरः विवक्षितः) आद्ये आदौ ।

यत्र तैः वर्णाद्यैः। आद्यपदेन पदस्य तत्सङ्ख्यायाः च ग्रहणम् उचितम्। **तुल्यता** समानता। **समता** (इति गुणः कथ्यते)।

(उदाहरति यथा) **श्यामला** यौवनमध्यस्था। **कोमला** मृदुला। **बाला** तरुणी नायिका। **शरणं** रक्षकम्। **रमणं** प्रियम्। **गता** प्राप्ता। मानं परित्यज्य प्रियेण मिलिता इत्यर्थः ।।४।।

समास की अल्पता या वर्ण आदि की समानता समता (नामक गुण) होती है।

(उदाहरणः—) श्यामल कोमल तरुणी शरण-स्वरूप प्रिय के पास गई ।।४।।

[यहाँ उदाहरण मे समास नही है, अतः समास की अल्पता का उदाहरण यह नही हुआ।

"वर्ण" से तात्पर्य स्वर से और "आद्य" से तात्पर्य पद या पद-संख्या से है। इस उदाहरण मे प्रत्येक चरण के पहले व दूसरे पद तीन-तीन अक्षरो के है और तीसरा पद दो अक्षरो का है। उदाहरण के आरंभिक चरण मे आकार की और अंतिम चरण मे अकार की समानता है।

पाञ्चाली रीति और समता गुण मे यह भेद है कि पहले मे अनेक चरणो में समास का अभाव होना चाहिये तथा दूसरे मे केवल एक चरण में समास का अभाव पर्याप्त है।

यहाँ वर्ण-साम्य का अर्थ स्वर-साम्य है और अनुप्रास की परिभाषा मे वर्ण-साम्य का अर्थ व्यञ्जन-साम्य है; यही दोनो का भेद है।

उदाहरण के आधार पर वर्ण के अलग-अलग अर्थ अलग-अलग जगह लगाये जा रहे है।

परिभाषा के अनुसार दो भेद हुये:—

(१) समास की अल्पता वाली समता (गुण) तथा

(२) स्वर या पद की समता वाली समता (गुण) ।।४।।]

समाधिरर्थमहिमा लसद्घनरसात्मना।
स्यादन्तर्विशता येन गात्रमङ्कुरितं सताम् ।।५।।

समाधिरिति । लसन् शोभमानः च **घनः** सान्द्रः च सः **रसः** च । **स** एव **आत्मा** स्वरूपं यस्य तेन । **अन्तः** बुद्धौ । **विशता** प्रविशता । **येन** (अर्थ-महिम्ना) । **सतां** काव्यकोविदानाम् । **गात्रं** शरीरम् । **अङ्कुरित** रोमाञ्चितम् । **स्यात्** भवेत् । (सः) **अर्थस्य** वाच्यस्य । **महिमा** महत्त्वम् । **समाधिः** (नाम गुणः कथितः) ॥५॥

शोभित हो रहे और गाढे रस के स्वरूप वाली जिस (अर्थ महिमा) के हृदय में प्रविष्ट होने से सज्जनों का अंग रोमाञ्चित हो जाय, वह अर्थ-महिमा, समाधि (नामक गुण) होता है ॥५॥

[रस-पूर्ण और चामत्कारिक उक्ति जो सहृदयो को रोमाञ्चित कर दे, समाधि-नामक गुण है । इस परिभाषा के अनुसार किसी वस्तु का वर्णन विशेष प्रकार से करना समाधि होगा ।

परिभाषा के श्लोक में वर्णन का ढंग अनूठा होने से इसे समाधि का उदाहरण माना जा सकता है । यहाँ अन्तर मे प्रवेश तथा गात्र का अङ्कुरित होना चमत्कार-पूर्ण वर्णन है ।

यहाँ "रस" शब्द से ध्वनि और अलंकार आदि भी लेंगे ॥५॥]

माधुर्यं पुनरुक्तस्य वैचित्र्यं चारुतावहम् ।
वयस्य पश्य पश्यास्याश्चञ्चलं लोचनाञ्चलम् ॥६॥

माधुर्यमिति । **पुनः** भूयः । **उक्तस्य** कथितस्य (पदस्य) । **चारुतावहं** रमणीयताजनकम् । **वैचित्र्यं** चमत्कारः । **माधुर्यम्** (नाम गुणः भवति) ।

(उदाहरति यथा) (हे) **वयस्य** सखे । **अस्याः** एतस्याः नायिकायाः । **चञ्चलं** चपलम् । **लोचनस्य** नयनस्य । **अञ्चलं** प्रान्तम् । **पश्य पश्य** अवलोकय अवलोकय ॥ ६ ॥

दूसरी बार कही बात की रमणीय विचित्रता माधुर्य (गुण) होती है ।

(उदाहरणः—) हे मित्र, देखो देखो इस (नायिका)-का चञ्चल नेत्र-प्रान्त ॥६॥

[यहाँ "देखो" की पुनरुक्ति होने से रमणीय विचित्रता आ गई है जिसे माधुर्य गुण का उदाहरण माना गया है ।

काव्य-प्रकाश में माधुर्य का लक्षण अधिक व्यापक है:—

आह्लादकत्वं माधुर्यं शृङ्गारे द्रुतिकारणम् ॥८।६८॥

वह आह्लाद माधुर्य है जो शृंगार मे द्रवीभूत कर दे।

इसी को साहित्य-दर्पण में जरा-सा हेर-फेर कर कहा गया है:—

चित्तद्रवीभावमयो ह्लादो माधुर्यमुच्यते।

संभोग शृङ्गार, करुण, विप्रलम्भ और शान्त रस मे यह चित्तद्रवीभाव-जनकता उत्तरोत्तर अधिक होती जाती है।

साहित्य-दर्पण मे माधुर्य-व्यञ्जक निम्नलिखित वर्ण बताये गये है :—

मूर्ध्नि वर्गान्त्यवर्णेन युक्ताष्टठडढान् विना।
रणौ लघू च तद्व्यक्तौ वर्णः कारणतां गताः॥
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा मधुरा रचना तथा।

ट्, ठ्, ड्, तथा ढ् के अतिरिक्त अन्य वर्ग-व्यञ्जन जिनके पूर्व उनके ही वर्ग का पाँचवा वर्ण लगा हो तथा विसर्ग और व्यञ्जन के पहले न आने वाले र् और ण् माधुर्य गुण के कारण है।

मधुर रचना मे या तो समास नही होते या अल्प होते है।

ङ्क, ञ्च, ञ्ज, आदि में वर्ग का पाँचवाँ अक्षर पहले लगा होने से ऐसे संयुक्त व्यञ्जन माधुर्य गुण के सहायक है।

जयदेव ने परिभाषा बिलकुल भिन्न दी है और किसी पद को दूसरी बार कह देना माधुर्य गुण माना है।

माधुर्य मे पद की आवृत्ति उसकी विशेषता के लिये है जब कि लाटानुप्रास मे दुहराया गया पद दूसरे अर्थ के लिये होता है; यही दोनो का अन्तर है ॥६॥

ओजः स्यात्प्रौढिरर्थस्य सङ्क्षेपो वाऽतिभूयसः।
रिपुं हत्वा यशः कृत्वा त्वदसिः कोशमाविशत् ॥ ७ ॥

ओज इति। अर्थस्य वाच्यस्य। प्रौढिःप्रौढता। अतिभूयसः सुविस्तृतस्य। वा। अर्थस्य। संक्षेपः सङ्कोचः। ओजः (नाम गुणः)। स्यात् भवेत्।

(उदाहरति यथा) तव असिः खड्गः त्वदसिः। रिपुं शत्रुम्। हत्वा

मारयित्वा । **यशः** कीर्तिं । **कृत्वा** विधाय । **कोशं** खड्गपिधानम् । **आविशत्** प्रविष्टा ।। ७ ।।

अर्थ की प्रौढता या सुविस्तृत अर्थ का संक्षेप ओज (नामक गुण) होता है ।

(उदाहरणः—) आपकी तलवार शत्रु को मारकर तथा कीर्ति उत्पन्न कर म्यान मे आ गई ।। ७ ।।

[राजा कर्त्ता और तलवार करण है । तलवार को कर्त्ता बनाकर यहा अर्थ की प्रौढि स्थापित की गई है । यह पहले प्रकार के ओज का उदाहरण है । "शत्रु को मारकर और यश फैलाकर म्यान मे आ गई" वर्णन बहुत सङ्क्षिप्त है । कवि लोग इतना वर्णन कई सर्गों मे करते हैं । संक्षेप मे होने से यही वर्णन दूसरे प्रकार के ओज का भी उदाहरण है ।

साहित्य-दर्पण के अनुसार वीर, बीभत्स और रौद्र रस मे यह गुण उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है ।

काव्य-प्रकाश (८।७५) के अनुसार वर्ग के पहले और तीसरे वर्ण का क्रमशः उसी वर्ग के दूसरे और चौथे वर्ण से संयुक्त होना, र् आना, समान व्यञ्जन का सयोग, ट्, ठ्, ड्, ढ्, श्, ष्, समास-दीर्घता तथा उद्धत रचना ओज गुण मे पाई जाती है :—

योग आद्यतृतीयाभ्यामन्त्ययो रेण तुल्ययोः ।
टादिः शषौ वृत्तिदैर्घ्यं गुम्फ उद्धत ओजसि ।।
।। ७ ।।]

सौकुमार्यमपारुष्यं पर्यायपरिवर्तनात् ।
स कथाशेषतां यातः समालिङ्ग्य मरुत्सखम् ।।८।।

सौकुमार्यमिति । **पर्यायस्य** पर्यायरूपस्य शब्दान्तरस्य । **परिवर्तनात्** विनिमयात् । **अपारुष्यं** न पारुष्यं परुषता । **सौकुमार्यम्** (नाम गुणः) ।

(उदाहरति यथा) **मरुतः** पवनस्य । **सखा** मित्रम् अग्निः तम् । **समालिङ्ग्य** आश्लिष्य प्रविश्य इत्यर्थः **सः** असौ **कथा** चर्चा एव **शेषः** यस्य सः तस्य भावः कथाशेषता ताम् **यातः** गतः मृतः इति भावः ।। ८ ।।

पर्याय (-वाची शब्द) के परिवर्तन से परुषता का अभाव सौकुमार्य (-नामक गुण) होता है ।

(उदाहरण :–) आग का आलिङ्गन कर वह केवल कथा में अवशिष्ट रह गया (अर्थात् मर गया) ॥ ८ ॥

[मर जाने पर भी किसी का मरना साफ-साफ कहना अमङ्गल अश्लील में आता है । उसका अभाव ही सौकुमार्य गुण है । यह पर्याय-वाची शब्द देकर अमङ्गल-जनक कठोरता हटा देने से आविर्भूत होता है । कथावशिष्ट होना मर जाने का पर्याय-वाची है पर इस पर्याय-परिवर्तन से कठोरता दूर होती है, अतः चमत्कार आता है ।

यह अश्लीलत्व दोष का अभाव है, गुण नहीं; ऐसा कुछ लोग मानते हैं ।
यहाँ परुषता वर्ण-जन्य नहीं है ॥ ८ ॥]

उदारता तु वैदग्ध्यमग्राम्यत्वात् पृथङ्मता ।
मानं मुञ्च प्रिये किञ्चिल्लोचनान्तमुदञ्चय ॥ ९ ॥

उदारतेति । वैदग्ध्यं विदग्धता विदग्धजनप्रयोज्या । तु । उदारता (नाम गुणः भवति । इयम् ।) अग्राम्यत्वात् न ग्राम्यत्वम् (नाम दोषः) तस्मात् । ग्राम्यत्वदोषाभावः इत्यर्थः । पृथक् भिन्ना । मता कथिता ।

(उदाहरति यथा) (हे) प्रिये प्रेयसि । मानम् । मुञ्च त्यज । लोचनस्य नेत्रस्य । अन्तम् प्रान्तम् । किञ्चित् ईषत् । उदञ्चय उन्मीलय विलोकय इत्यर्थः ॥ ९ ॥

विदग्धता उदारता (नामक गुण) है । यह अग्राम्यत्व (दोष) से भिन्न कही गई है ।

(उदाहरण :–) हे प्रियतमे, कोप त्यागो और नेत्र-प्रान्त कुछ खोलो ॥ ९ ॥

[उदारता विदग्धता है पर यह विदग्धता केवल ग्राम्यत्व दोष का अभाव नहीं है । दोषाभाव गुण नहीं हो सकता । अपाण्डित्य अर्थात् मूर्खता न होने का अर्थ यह भी हो सकता है कि सामान्य स्थिति है; न मूर्खता है और न विद्वत्ता । यहाँ ऐसी विदग्धता ग्रन्थकार को अभीष्ट है जो कुछ नवीनता लाये ।

उदाहरण मे "नेत्र प्रान्त खोलो" की जगह "मेरी तरफ देखो" कहने म ग्राम्यत्व दोष न होता पर गुण भी न होता। कहने मे विदग्धता लाने से यहा उदारता नामक गुण आ गया है।

वामन के मत से विकटता का अभाव उदारता है और पदो का नाचना-सा विकटता अभाव है।

जो व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति कराये वह उदारता होती है; यह दण्डी की परिभाषा है ॥ ९ ॥]

श्रृङ्गारे च प्रसादे च कान्त्यर्थव्यक्तिसङ्ग्रहः।
अमी दश गुणाः काव्ये पुंसि शौर्यादयो यथा ॥१०॥

श्रृङ्गार इति। कान्तिः च अर्थव्यक्तिः च। द्वौ गुणौ इमे। तयाः सङ्ग्रहः सङ्कलनं प्राप्तिः इति यावत्। श्रृङ्गारे तदाख्ये रस च। प्रसादे तदाख्ये गुणे। च (भवति)। काव्ये कवितायाम्। अमी एते। दश। गुणाः। यथा। पुंसि पुरुषे। शौर्यम् आदौ येषा ते गुणाः (प्राप्यन्ते) ॥१०॥

कान्ति तथा अर्थ-व्यक्ति (नामक दो गुणो) का सङ्कलन श्रृङ्गार (रस) और प्रसाद (गुण) मे पाया जाता है। काव्य मे ये दस गुण उसी प्रकार होते हैं जैसे पुरुष मे शूरता इत्यादि गुण होते है ॥१०॥

[श्लोक मे आये संग्रह का अर्थ यह लगाना अभीष्ट है कि ये गुण श्रृंगार और प्रसाद मे पाये जाते है। इसका अर्थ अन्तर्भाव लेने से आठ ही गुण रहेंगे जो ग्रन्थकार को अभीष्ट नहीं है जैसा कि उत्तरार्ध म "दस गुण" से स्पष्ट है। उदाहरण न देने का भी यही कारण है कि श्रृंगार रस और प्रसाद गुण के उदाहरणों मे कान्ति और अर्थ-व्यक्ति गुण देखे जा सकते हैं; उन्हे यहाँ देने से विस्तार होगा।

कान्ति और अर्थ-व्यक्ति की परिभाषा नहीं दी गई है। ये पारिभाषिक शब्द स्वतः स्पष्ट है, अतः ऐसा किया गया है।

जैसे शौर्य आदि गुण पुरुष की पुरुषता के द्योतक हैं; उनके बिना पुरुष, पुरुष नहीं रह जायेगा, उसी तरह उक्त दस गुण काव्य की काव्यता के द्योतक हैं; उनके बिना काव्य, काव्य नहीं रह जायेगा; यह आशय है ॥१०॥]

तिलकाद्यमिव स्त्रीणां विदग्धहृदयङ्गमम् ।
व्यतिरिक्तमलङ्कारं प्रकृतेर्भूषणं गिराम् ॥११॥

तिलकाद्यमिति । स्त्रीणा नारीणाम् । तिलकाद्यम् विशेषकादिकम् इव । प्रकृतेः शरीरात् काव्यात् वा व्यतिरिक्तं भिन्नम् । विदग्धानाम् चतुराणाम् । हृदयङ्गम हृदयग्राहि । गिरा वाचाम् । भूषणम् अलङ्करणम् । अलङ्कारम् श्लेषोपमादिकम् । आहुः इति शेषः ॥११॥

स्त्रियो के तिलक आदि (आभूषणो) की तरह, शरीर से भिन्न और चतुर लोगों के हृदय को प्रसन्न करने वाला वाणी का भूषण अलङ्कार होता है ॥११॥

[जैसे स्त्रियो के शरीर से अलग (बाह्य रूप) होकर भी तिलक आदि अलङ्कार विदग्धो के हृदय को आकृष्ट करते है, उसी तरह अलङ्कार, काव्य से अलग (अर्थात् बाह्य गुण), वाणी की शोभा और काव्यज्ञों के हृदय हरने वाले होते हैं ।

मूल में अलंकार नपुंसक लिग मे आया है जब कि यह पुंल्लिग है । ' विद्वान् कहते है" अपनी तरफ से जोडकर इसे द्वितीया विभक्ति मे मानकर सङ्गति बैठाई जा सकती है ।

ऊपर प्रकृति (काव्य) से भिन्न और तिलक के तुल्य कहने से अलंकारा का बाह्य उपकरण होना स्वीकार किया गया है । गुण काव्य के धर्म होने से अविभाज्य होते है । अलकार अवश्य रखे जाते है, पर वे काव्य के धर्म नही हैं ।

काव्य-प्रकाश मे गुण को रस का धर्म और अलकार को काव्य का धर्म मानकर यही बात कही गई है ॥११॥]

विचित्रलक्षणो न्यासो निर्वाहः प्रौढिरौचिती ।
शास्त्रान्तररहस्योक्तिः संग्रहो दिक् प्रदर्शिता ॥१२॥

विचित्रेति । न्यासः (नाम) । निर्वाहः (नाम) । प्रौढिः (नाम) औचिती (नाम) । शास्त्रान्तररहस्योक्तिः (नाम) । संग्रहः (वा) विचित्र चित्रं लक्षणं चिह्नं यत्र सः । (अत्र) दिक् संकेतमात्रम् । प्रदर्शिता निर्दिष्टा ॥१२॥

न्यास, निर्वाह, प्रौढि, औचिती, शास्त्रान्तर-रहस्योक्ति तथा सग्रह, विचित्र लक्षण वाले होते हैं। (यहाँ) संकेत (-मात्र) कर दिया गया है ॥१२॥

[न्यास आदि पारिभाषिक शब्द हैं और भिन्न-भिन्न आचार्यों के द्वारा प्रयुक्त किये जाते है। इनके लक्षण विचित्र है" का अर्थ है कि इनमे विचित्रता या अनूठापन होता है।

विचित्र सूत्र से सिद्ध प्रयोग न्यास कहलाता है। "उदरम्भरि" शब्द प्रचलित पाणिनि "फलेग्रहिरात्मम्भरिश्च" से सिद्ध न होकर अप्रचलित चान्द्र व्याकरण के सूत्र "आत्मोदरकुक्षिषु" से सिद्ध होता है। यह न्यास का उदाहरण होगा।

लुप्त हो रहे किसी प्रयोग को बनाये रखना निर्वाह है। अष्टाध्यायी के अनुसार "सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम्" सूत्र लगने पर "सोऽहम्" न बनकर "साहम्" बनेगा। "स्यश्छन्दसि बहुलम्" सूत्र के अनुसार विकल्प से "सस् अहम्" का ["स अहम् (= साहम्)" के साथ-साथ] सस् अहम् = सोऽहम् रूप भी बनेगा। "स्" का लोप न कर उसे बनाये रखा गया है, अतः निर्वाह है।

किसी पारिभाषिक शब्द को उदाहरण में बैठा देना प्रौढ़ि है। "मन्दाक्रान्ता विसृजति रसं नेक्षुयष्टिः समग्रम्।" (इस) उदाहरण में चरण मन्दाक्रान्ता छन्द का उदाहरण है, मन्दाक्रान्ता शब्द भी आ गया है और उदाहरण मे यौगिक अर्थ (धीरे-धीरे दबाया गया) भी देता है। यह प्रयोग, प्रौढ़ि है।

वर्णन हर तरह से सौष्ठव-युक्त हो, यह औचिती की परिभाषा है; जैसेः—

"वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥"

उक्त श्लोक मे शब्द और अर्थ की सिद्धि के लिये उनकी वन्दना की गई है और उन्हीं की तरह अविच्छिन्न रूप से साथ-साथ रहने वाली पार्वती और परमेश्वर को उपमान बनाया गया है। इसमें कहीं भी असंगति न होने से औचिती है।

काव्य के अतिरिक्त अन्य शास्त्र का रहस्य उद्घाटित करना "शास्त्रान्तर-रहस्योक्ति" कहलाता है। "ज्याकृष्टबद्धखटकामुख०" में खटकामुख शब्द संगीत

शास्त्र के रहस्य का उद्घाटन करता है। संगीत-शास्त्र में खटकामुख एक वाद्य बताया गया है जिसे उँगलियों से बजाया जाता है।

उपयोगी बातें एक जगह संगृहीत कर देना संग्रह होता है। "शृङ्गारो गिरिजानने" श्लोक मे सभी (६) रसों को संगृहीत कर दिया गया है, अतः वहाँ संग्रह है ॥ १२ ॥]

महादेवः सत्रप्रमुखमखविद्यैकचतुरः
सुमित्रा तद्भक्तिप्रणिहितमतिर्यस्य पितरौ।
चतुर्थस्तेनासौ सुकविजयदेवेन रचिते
चिरं चन्द्रालोके सुखयतु मयूखः सुमनसः ॥ १३ ॥

इति चन्द्रालोकालङ्कारे गुणनिरूपणो नाम चतुर्थो मयूखः।

[उक्त मूल द्वितीय मयूख के ४५वें श्लोकादि की तरह है; केवल "द्वितीय" के स्थान पर "चतुर्थ" तथा "दोष" के स्थान पर "गुण" कर देना है ॥१३॥]



पञ्चमो मयूखः

अथालङ्काराः

शब्दार्थयोः प्रसिद्ध्या वा कवेः प्रौढिवशेन वा।
हारादिवदलङ्कारः सन्निवेशो मनोहरः॥ १॥

शब्दार्थयोरिति। **प्रसिद्ध्या** ख्यात्या। **वा**। **कवेः** सूरेः। प्रौढेः प्रगल्भकल्पनायाः। **वशेन**। वा। **हारः आदौ** येषां **तद्वत्**। **शब्दः** वाचकः च **अर्थः** वाच्यः च तयोः। **मनोहरः** हृदयहारी। **सन्निवेशः** उपन्यासः वर्णनम् इति यावत्। **अलङ्कारः** (नाम भवति)॥ १॥

शब्द और अर्थ के प्रसिद्ध होने अथवा कवि की प्रगल्भ कल्पना से हार इत्यादि की तरह जो मनोरम स्थापना (वर्णन) की जाती है वह अलङ्कार है॥ १॥

"अलङ्क्रियते अनेन इति अलङ्कारः" इस व्युत्पत्ति से शोभित करने में जो साधन है, वह अलङ्कार है। शरीर पर जब हार आदि अलङ्कार मनोहर रीति से सन्निविष्ट किये जाते हैं और प्रचलन तथा विदग्धता का ध्यान रखा जाता है तब उनकी प्रशंसा अलङ्कार के रूप में होती है; अन्यथा नहीं। इसी प्रकार कवियों में प्रचलित रीति (प्रसिद्धि) अपनाकर या विदग्ध-भङ्गि (प्रौढि)-पूर्वक जब शब्द और अर्थ का मनोहर प्रयोग किया जाता है तब वे काव्य के अलङ्कार बनते हैं; अन्यथा नहीं।

अलंकार अनुप्रास उपमा आदिक हैं जिनका वर्णन आगे आयेगा। यह (अलकार) शब्द काव्य-शास्त्र या साहित्य-शास्त्र के पर्याय रूप में भी आता है। इसकी उपादेयता का यह प्रबल प्रमाण है।

पहले बताया जा चुका है कि अलंकारों की सत्ता बाह्य है। तिलक आदि शरीर से बाहर (बाह्य रूप) होते हुए भी उसकी शोभा बढ़ाते हैं, उसी प्रकार अलङ्कार काव्य के बाह्य रूप होने पर भी उसकी शोभा बढ़ाते हैं।

काव्य में ये संयोग-सम्बन्ध से आते है जब कि माधुर्यादि गुण, रस के अंग होने से समवाय-सम्बन्ध से आते हैं। जैसे पुरुष मे शौर्य आदि की सत्ता अविभाज्य होती है, उसी प्रकार काव्य में गुण की शक्ति अविभाज्य है। शोभा के लिये अलङ्कारो का होना जैसे शरीर के लिये अनिवार्य वस्तु है, वैसे ही काव्य के लिये भी (अनिवार्य वस्तु) है।

ऊपर अलंकार का अर्थ साहित्य-शास्त्र बताया गया है। यह अर्थ उस समय विकसित हुआ जब अलकार की प्रधानता मानी जाती थी और रस आदि की गौणता। अलंकार-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक भामह, उद्भट, वामन, रुद्रट आदि ने साहित्य-शास्त्र का नाम काव्यालकार रख दिया। प्रस्तुत ग्रन्थ के नाम के अन्त मे भी कहीं-कहीं (पुष्पिकाओं मे) अलङ्कार शब्द होने से ग्रन्थकार का अलङ्कार-सम्प्रदाय-निष्ठ होना स्पष्ट है। अलङ्कार-वादी लेखक अपने ग्रन्थो मे रस का विचार संक्षेप मे करते है और अलङ्कारो का विस्तार करते हैं। ये लोग अलङ्कारों को इतना प्रमुख मानते हैं कि काव्य के प्रतीत होने वाले अर्थ को अप्रस्तुत-प्रशंसा, समासोक्ति, आक्षेप, पर्यायोक्ति, वक्रोक्ति तथा अतिशयोक्ति आदि अलङ्कारों मे अन्तर्भूत कर देते है।

गुण भी मनोहर सन्निवेश को ही कहते है पर अलङ्कार से वह भिन्न इसलिये माना जाता है कि वह रस का धर्म है, न कि बाह्य वस्तु, तथा वह अप्रसिद्ध होता है। अलङ्कार कभी-कभी रस का उत्कर्ष न कर अपकर्ष करते हैं। यह भी अलङ्कारों के हारादि की भाँति बाह्य प्रसाधन होने पर ही संभव है।

रस-सम्प्रदाय की उद्भावना श्रव्य काव्यों मे आनन्द-वर्धन ने की और बाद मे मम्मट ने भी उसका समर्थन कर प्रचार किया। उसके पहले रस की सत्ता केवल नाटकादि रूपकों मे मानी जाती थी जो दृश्य काव्य माने जाते है। भरत, भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट आदि अलङ्कार-सम्प्रदाय के आचार्यों ने वाणी को अलङ्कार-रहित होने पर विधवा-सी कहा है :—

गुणालङ्काररहिता विधवेव सरस्वती।

भामह (काव्यालङ्कार १।१३) ने कहा है कि नारी का मुख सुन्दर होते

हुये भी अलङ्कार-रहित होने पर अच्छा नही लगता :—

न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम् ।

ग्रन्थकार ने ग्रन्थारंभ में ही मम्मट की आलोचना करते हुए अनलंकृत काव्य की असंभवता बताई है (द्रष्टव्य १।८)।

आचार्य केशवदास ने हिन्दी मे "काव्य की शोभा रसादि के रहने पर भी एक अलङ्कार के बिना नहीं होती" कहा है :—

जदपि सुजाति सुलच्छनी सबरन सरस सुबित्त ।
भूषन बिनु नहि राजई कविता बनिता मित्त ।।

भामह ने रसवान्, प्रेयान, ऊर्जस्वी और समाहित अलङ्कारों मे रस, भाव आदि का अन्तर्भाव कर अलङ्कारो को काव्य का प्राण माना है और रसादि को सहायक-मात्र ।

अलङ्कारो के सूक्ष्म विवेचन के विकसित होते-होते भेद बढ़ते-घटते गये और रस-सम्प्रदाय आदि सम्प्रदाय विकसित होते गये । अलंकारों की संख्या का निम्नलिखित विवरण रोचक होगा :—

ग्रन्थकार	ग्रन्थ	अलङ्कार-संख्या	अन्य विवरण
१ भरत	नाट्य-शास्त्र	४	उपमा, दीपक, रूपक व यमक
२ व्यास	विष्णु-धर्मोत्तर-पुराण	१८	
३ भामह	काव्यालंकार	३९	
४ दण्डी	काव्यादर्श	३५	
५ उद्भट	अलंकार-सार-संग्रह	४०	
६ वामन	काव्यालंकार-सूत्र	३३	
७ रुद्रट	काव्यालंकार	५२	
८ मम्मट	काव्य-प्रकाश	६७	
९ रुय्यक	अलंकार-सर्वस्व	८१	
१० जयदेव	चन्द्रालोक	८६	८ शब्दालंकार
११ अप्पय्य दीक्षित	कुवलयानन्द	१२४	
१२ जगन्नाथ	रस-गङ्गाधर	७०	

मम्मट ने अलंकार की परिभाषा देते हुए कहा है कि यह (अलंकार) शब्द और अर्थ का उपकारक है। रस के अंग होने से शब्द और अर्थ उस रस के उपकारक होते है जिस प्रकार कण्ठ आदि अङ्गों के उपकारक बनकर हारादि शरीरी (आत्मा) के भी उपकारक होते हैं। जहाँ रस नहीं होता, वहाँ अलंकार उक्ति-वैचित्र्य मात्र होते है। कहीं-कही रस के रहने पर भी अलंकार उसका उत्कर्ष नही बढाते।

मूल मे प्रौढि से तात्पर्य है कि कवि की नई उद्भावनाओ मे भी अलंकार पाये जाते है ॥ १ ॥]

स्वर - व्यञ्जनसन्दोहव्यूहा मन्दोहदोहदा।
गौर्जगज्जाग्रदुत्सेका छेकानुप्रासभासुरा ॥ २ ॥

स्वरेति। स्वराः अकारादयः व्यञ्जनानि ककारादीनि च तेषां सन्दोहः समूहः तस्य व्यूहः आवर्त्तनं यत्र स्वरव्यञ्जनसन्दोहव्यूहा। मन्दः सकृत्। ऊहः ज्ञानम्। तस्य दोहदा जनयित्री। जगति संसारे। जाग्रत् प्रकाशमानः उत्सेकः उत्कर्षः यस्याः सा। गौः वाणी छेकानुप्रासेन (नाम्ना) भासुरा शोभमाना (भवति) ॥ २ ॥

स्वर और व्यञ्जन के समूह की आवृत्ति से युक्त, एककालिक ज्ञान उत्पन्न करने वाली तथा संसार मे प्रसिद्ध उत्कर्ष वाली वाणी छेकानुप्रास से शोभित होती है ॥ २ ॥

[अनुप्रास की परिभाषा न देकर उसके पहले भेद छेकानुप्रास का कथन इस श्लोक मे किया गया है। व्यञ्जनों का साम्य अनुप्रास होता है। साहित्य-दर्पण (१०।३) में इसकी परिभाषा स्पष्ट है :-

अनुप्रासः शब्दसाम्यं वैषम्येऽपि स्वरस्य यत्।

अनु का अर्थ रस से अनुगत, प्र का अर्थ प्रकृष्ट और आस का अर्थ उपन्यास या स्थापना है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार व्यञ्जनों की रसानुगामी अतः उत्कृष्ट योजना अनुप्रास है।

अनुप्रास के दो भेद है :—(१) छेक और (२) वृत्ति। यहाँ पहले भेद की परिभाषा बताई गई है।

छेक का अर्थ विदग्ध है। यह विदग्धों के द्वारा प्रायः प्रयुक्त होने से विदग्धों का अनुप्रास कहा जाता है।

कई व्यञ्जनो का केवल एक बार सादृश्य छेकानुप्रास होता है। वृत्त्यनुप्रास से इसका अन्तर यह है कि उस (वृत्त्यनुप्रास)-में एक ही या अनेक व्यञ्जनों की कई बार आवृत्ति होती है।

ग्रन्थकार के अनुसार कई स्वरों की आवृत्ति या कई व्यञ्जनो की आवृत्ति भी इष्ट है। स्वर तथा व्यञ्जन दोनो की आवृत्ति से लाटानुप्रास या यमक अलंकार हो जाता है, अतः वह अर्थ नही किया जा रहा है।

श्लोक स्वयं अलंकार का उदाहरण है। "स्वरव्यञ्जन" में अकार तथा जगज्जाग्रत् मे व्यञ्जनों की आवृत्ति है।। २ ।।]

आवृत्तवर्णसंपूर्णं - वृत्त्यनुप्रासवद्वचः।
अमन्दानन्दसन्दोहस्वच्छन्दास्पदमन्दिरम् ।।३।।

आवृत्तेति। आवृत्तश्च सः वर्णश्च। तस्य सम्पूर्णं युक्तम्। अमन्दः बहुः च सः आनन्दः हर्षः च। तस्य सन्दोहः स्तोमः। तस्य स्वच्छन्दं स्वतन्त्रम् अन्योपकरणनिरपेक्षम् च तत् आस्पदं स्थितिः च। तस्य मन्दिरम् गृहम्। वचः वचनम्। वृत्त्यनुप्रासवत् वृत्त्यनुप्रास (नाम)-युक्तम् ।। ३ ।।

जिस वर्ण (या जिन वर्णों) की आवृत्ति की गई है, उससे भरा-पूरा, अत्यधिक आनन्द के चय की स्वतंत्र स्थिति का निधान-स्वरूप वचन वृत्त्यनुप्रास-युक्त होता है ।। ३ ।।

[यहाँ वर्ण से एक या अधिक वर्ण (अर्थ लिया जायेगा) तथा स्वर न लेकर व्यञ्जन अर्थ लिया जायेगा अन्यथा छेकानुप्रास से कोई भेद न रह जायेगा।

छेकानुप्रास के श्लोक की टीका (५।२) में उससे वृत्त्यनुप्रास का अन्तर बताया जा चुका है।

श्लोक स्वयं उदाहरण है जिसमें र् तथा ण् एवं न् तथा द् – इन दो-दो व्यञ्जनों तथा व् की कई बार आवृत्ति है ।। ३ ।।]

लाटानुप्रासभूर्भिन्नाभिप्राया पुनरुक्तता।
यत्र स्यान्न पुनः शत्रोर्गर्जितं तर्ज्जितं जितम् ।।४।।

लाटेति । **भिन्नः** अन्यः । **अभिप्रायः** आशयः यस्य सः **भिन्नाभिप्राया** । **पुनःउक्तता** पदाना पौनरुक्त्यम् । **लाटानुप्रासः** (नाम अनुप्रासः) । तस्य **भूः** उत्पत्तिस्थानम् ।

(उदाहरति यथा) **तत्** अदः । **जितं** जयः । **जितं** यथार्थतया जयः सफलम् इत्यर्थः **यत्र** यस्मिन् । **पुनः** भूयः । **शत्रोः** रिपोः । **गर्जितं** गर्जनम् । न । **स्यात्** भवेत् ॥४॥

भिन्न आशय वाली पुनरुक्ति लाटानुप्रास की जननी है।

(उदाहरणः—) वही जीत, जीत (=सफल) है जिसके होने पर शत्रु की गर्जना फिर न हो ॥४॥

[लाट (प्राचीन गुजरात) देश के रहने वालों की अत्यन्त प्रिय होने से यह अनुप्रास, लाटानुप्रास के नाम से प्रसिद्ध है ।

एक ही अर्थ वाला शब्द जब अपना अर्थ न छोडता हुआ, दूसरा अर्थ दे तब यह अनुप्रास होता है तथा यमक मे दोनो के भिन्न-भिन्न अर्थ आवश्यक है या कम से कम एक शब्द निरर्थक (शब्दांश होने से) होना जरूरी है । इसमे अन्वय-परिवर्तन से अर्थ-परिवर्तन होता हैं; स्वयं दूसरा अर्थ देने की क्षमता शब्द मे नहीं होती । यहाँ दूसरा "जितम्" बाद मे आने के कारण रूढि या प्रचलन से "सफल" या वास्तविक जय अर्थ का बोधक बन गया है । हिन्दी मे भी एक ही शब्द बाद मे विधेय मे उद्देश्य के विशेषण के रूप मे आने पर अपने अर्थ के पूर्व वास्तविक जोड लेता है ।

लाटानुप्रास ५ प्रकार का होता है । काव्यप्रकाश मे एक पद, अनेक पद, एक समास, भिन्न समास और समासासमास मे होने वाले लाटानुप्रास के ५ भेद बताये गये हैं ।

कभी-कभी उद्देश्य और विधेय के हेर-फेर तथा "न" के योग से दो अर्थ लगाये जाते हैं, यद्यपि शब्दों का अर्थ समान होता है:—

यस्य न सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य ।
यस्य च सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य ।

यहाँ पूर्वार्ध में उत्तरार्ध के उद्देश्य "दवदहन" को विधेय बनाकर अर्थ करने से विपरीत अर्थ निकलेगा :

जिसके निकट प्रिया नहीं है, उसके लिये चन्द्रमा, दावाग्नि है और जिसके निकट प्रिया है, उसके लिये दावाग्नि, चन्द्रमा ॥४॥]

श्लोकस्यार्धे तदर्धे वा वर्णावृत्तिर्यदि ध्रुवा।
तदा महता मतिमतां स्फुटानुप्रासता सताम् ॥५॥

श्लोकस्येति। श्लोकस्य पद्यस्य। अर्धे अर्धभागे पूर्वार्धे उत्तरार्धे वा। तस्य श्लोकार्धस्य अर्धे पूर्वार्धार्धे उत्तरार्धार्धे वा। यदि चेत्। वर्णानां स्वरव्यञ्जनानाम्। आवृत्तिः आवर्तनम्। ध्रुवा निश्चिता। तदा तर्हि। मतिमतां बुद्धिमताम्। सतां सुजनानाम् काव्यमर्मज्ञानाम् वा। स्फुटानुप्रासता स्फुटानुप्रासाख्यस्य अनुप्रासस्य स्थितिः। मता इष्टा ॥५॥

श्लोक के अर्ध भाग या उस (श्लोकार्ध)-के अर्ध भाग में यदि वर्णों की आवृत्ति निश्चित हो तो बुद्धिमान् विद्वानों के मत से स्फुटानुप्रास की स्थिति होती है ॥५॥

[श्लोकार्ध में आवृत्ति का अर्थ है (पूर्वार्ध की) अवशिष्ट अर्ध अर्थात् उत्तरार्ध में आवृत्ति तथा तदर्ध का अर्थ है उस श्लोकार्ध के अर्ध अर्थात् (पहले चरण या तीसरे चरण की) अवशिष्ट (अर्थात् क्रमशः दूसरे या चौथे) चरण में आवृत्ति। हिन्दी में इसे अन्त्यानुप्रास या तुक कहते हैं। सप्तमी विभक्ति से यहाँ अर्ध का अन्तिम भाग लेंगे।

श्लोक स्वयं उदाहरण भी है। पहले भेद—श्लोकार्धों के अंत में वर्णों की आवृत्ति—का उदाहरण नहीं है पर दूसरे (भेद) का उदाहरण दिया गया है। पहले और दूसरे चरण के अंत में व् तथा आ की समानता है [तथा तीसरे-चौथे चरण के अंत में अ, त्, आ तथा म् की समानता है (अनुस्वार और म् को किसी तरह समान कहा जा सकता है, यद्यपि अनुस्वार वर्ण नहीं है)] ।

अन्य अनुप्रासों से इसे इस आधार पर भिन्न किया जा सकता है कि इस स्फुटानुप्रास में चरणान्त में समान वर्णों का होना जरूरी है तथा अन्यों में अपने-अपने लक्षण के अनुसार अन्यत्र ।

एक ही चरण या श्लोकार्ध मे वर्ण या वर्णो की आवृत्ति को भी इस अनुप्रास के अन्तर्गत किया जाता है। जैसे पहले चरण में र्, ध् तथा ए की आवृत्ति है, दूसरे (चरण) में व् की आवृत्ति कई बार है, तीसरे चरण में म्, अ तथा त् की आवृत्ति कई बार है तथा चौथे चरण मे स्, अ, त् तथा आ की आवृत्ति है। यह अर्थ करने पर अन्य अनुप्रासों से भेद करने के लिये इस अनुप्रास का समान (एक ही) चरण या समान (एक ही) श्लोकार्ध मे होना भेद का मूल कारण मानना होगा ॥५॥]

उपमेयोपमानादावर्थानुप्रास इष्यते।
चन्दनं खलु गोविन्दचरणद्वन्द्ववन्दनम् ॥६॥

उपमेयेति। उपमेयं वर्ण्यं च उपमानं अवर्ण्यं च उपमेयोपमाने। ते आदौ यस्य तस्मिन्। आदिपदेन साधारणधर्मादेः ग्रहणम्। वर्णावृत्तिः इति पूर्वश्लोकतः अनुवर्त्तनीयम्। अर्थानुप्रासः नाम इष्यते मन्यते।

(उदाहरति यथा) गोविन्दस्य कृष्णस्य। चरणयोः पदयोः द्वन्द्वं युग्मम्। तस्य वन्दन तत्र प्रणामः। खलु हि। चन्दनं भद्रश्रीः ॥६॥]

उपमेय, उपमान आदि में वर्ण या वर्णों की आवृत्ति अर्थानुप्रास कही गई है।

(उदाहरण :—) कृष्ण के चरणयुगल की वन्दना ही चन्दन है।

[चन्दन और कृष्ण-चरण दोनो ताप-शामक है, अतः क्रमशः उपमेय और उपमान हो सकते हैं।

श्लोक का उत्तरार्ध उदाहरण है। चन्दन तथा गोविन्द-चरण-द्वन्द्व-वन्दन मे न्, द् तथा अ की आवृत्ति है।

अन्य अनुप्रासों से इसका भेद यह है कि यह अनुप्रास उपमान और उपमेयादि मे नियत है जब कि अन्य अनुप्रास दूसरी जगह होते है।

"अर्थानुप्रास" शब्द से यह भ्रम नही होना चाहिये कि यह अनुप्रास अर्थ-निष्ठ है। यदि अर्थ-निष्ठ होता तो चन्दन की जगह भद्रश्री रख देने पर भी रहता। अर्थ शब्द इसलिये जोड़ा गया है कि अर्थ निकलने पर उपमेय और

उपमान की सत्ता की प्रतीति होती है और उन्हीं में होने के कारण यह विशेष अनुप्रास प्रतीत होता है।

आदि से "साधारण धर्म और उपमा-वाचक शब्द" अर्थ निकलेगा।

उपमेय और उपमान की चर्चा आगे उपमा अलंकार (५।११) के प्रकरण में देखनी चाहिये।

छेकानुप्रास से इस अनुप्रास की भिन्नता इस आधार पर भी की जाती है कि पहले में कई वर्णों की समता पास-पास होनी अभीष्ट है। इस अनुप्रास में चन्दन और गोविन्द आदि के बीच खलु आदि का व्यवधान है ॥६॥]

पुनरुक्तप्रतीकाशं पुनरुक्तार्थसन्निभम्।
अंशुकान्तं शशी कुर्वन्नम्बरान्तमुपैत्यसौ ॥ ७ ॥

पुनरिति। पुनः भूयः उक्तः च सः अर्थः वाच्यः च पुनरुक्तार्थः तत्सन्निभम् तत्तुल्यम् पुनरुक्तार्थसन्निभम्। पुनरुक्तप्रतीकाशं तदाख्यम् अलङ्कारम् (विदुः)।

(उदाहरति यथा) असौ पुरो दृश्यमानः। शशी चन्द्रः। अम्बरस्य आकाशस्य। अन्तं प्रान्तम्। अंशुभिः किरणैः। कान्तं सुन्दरम्। कुर्वन् विदधत्। उपैति आगच्छति। अत्र अंशुकान्तं कथयित्वा अम्बरान्तपदोपादानं पुनरुक्तत्वमिव प्रतिभाति ॥ ७ ॥

जो पुनः उक्त अर्थ के समान हो, उसे पुनरुक्त-प्रतीकाश अलंकार कहते हैं।

(उदाहरण—) वह चन्द्रमा आकाश-प्रान्त को किरणों से सुन्दर बनाता हुआ आ रहा है ॥ ७ ॥

[उदाहरण में अंशुक (=वस्त्र) कहकर अम्बर (=वस्त्र) कहने से पुनरुक्ति है, पर वह वास्तविक नहीं है, क्योंकि अंशु और कान्त अलग-अलग शब्द हैं तथा अम्बर का अर्थ आकाश है।

परिभाषा पूर्वार्ध में दी गई है, पर वाक्य, पूरा नहीं है। अलंकार के लिये होने पर अथवा व्युत्पत्ति के अनुसार पुंलिङ्ग "प्रतीकाश" शब्द को द्वितीया में होने के कारण "विदुः" जैसे किसी शब्द की अपेक्षा है। अगले श्लोक के साथ इसे पढ़ने से "विदुः" शब्द मिल जायेगा। पुनरुक्त-प्रतीकाश को बहु-व्रीहि मान-

कर चलने और उसे विशेषण करने पर विशेष्य की जगह वाक्य आदि मान लेना, कष्ट कल्पना है।

अन्य आचार्य इसे पुनरुक्तवदाभास अलंकार कहते है।

लाटानुप्रास मे अन्वय से अर्थ बदलता है, पर पुनरुक्त-प्रतोकाश मे शब्द ही द्व्यर्थक होता है और समासादि के कारण या स्वतः समानार्थक दो शब्द प्रतीत होते है; वास्तव मे होते नही ॥७॥]

आवृत्तवर्णस्तबकं स्तवकन्दाङ्कुरं कवेः।
यमकं प्रथमा धुर्यमाधुर्यवचसो विदुः ॥८॥

आवृत्तेति। **प्रथमाः** श्रेष्ठाः। **धुर्याः** शीर्षस्थाः च ते **माधुर्यवचसः** च। **माधुर्य** मिष्टता **वचसि** वाण्या येषा ते **माधुर्यवचसः** मिष्टवचनाः विद्वासः इति यावत्। **आवृत्तः** पुनरुक्तः **वर्णानां** स्वरव्यञ्जनानां **स्तबकः** समूहः यत्र। **स्तवस्य** कविसुलभायाः प्रशंसायाः। **कन्दस्य** बीजस्य। **अङ्कुरं** प्रादुर्भावम्। **यमकं** तदाख्यम् अलङ्कारम्। **विदुः** वदन्ति।

श्रेष्ठ अग्रणी मिष्ट-भाषी (विद्वान्) लोग दुहराये गये वर्णों के समूह से युक्त (कवियो द्वारा प्राप्त) प्रशंसा के बीज के प्रादुर्भाव को यमक कहते हैं।

[यहाँ वर्ण का अर्थ स्वर और व्यञ्जन दोनो है जिससे यह छेकानुप्रास से भिन्न है।

लाटानुप्रास से इसकी भिन्नता ऊपर बताई जा चुकी है (५।४)।

परिभाषा अधूरी है। संक्षेप ने स्पष्टता और पूर्णता की हत्या कर दी है। इसकी भेद-सहित अत्यन्त स्पष्ट परिभाषा काव्य-प्रकाश की निम्न कारिका में आई है :

अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां या पुनः श्रुतिः।
यमकं पादतद्भागवृत्ति तद्यात्यनेकताम् ॥

अर्थ होने पर भिन्न अर्थ वाले वर्ण-समूह की पुनरुक्ति यमक है जो चरण और चरणांश मे होने से कई प्रकार का होता है।

अर्थ न होने और एक जगह सार्थक पद और दूसरी जगह निरर्थक वर्ण-समूह की समता होने पर समान अर्थ का प्रश्न ही नहीं उठता। वर्ण-साम्य यदि दो

सार्थक पदों में पाया जाय तो वहाँ तभी यमक होगा जब वे भिन्नार्थक हों।

"वर्णानाम्" या "स्तबकम्" कहने से दो से अधिक वर्णो की समानता अभीष्ट है। ३ वर्णों से लेकर पूरे श्लोक की आवृत्ति के यमक देखे जाते हैं। तदनुसार उसके २० भेद किये जाते हे जिन्हें काव्य-प्रकाशादि में देखा जा सकता है। यमक सुन्दर होता है पर इसकी अधिकता दुरूहता लाकर इसके आस्वादन में बाधक अतः त्याज्य है।

यमक का अर्थ जोडा होता है। सार्थक और निरर्थक पदों के जोड़े को यमक कहते है।

कभी-कभी वर्ण-साम्य न होने पर भी यमक होता है:—

यमकादौ भवेदैक्यं डलयो रलयोर्बवोः।
शषयोर्नणयोश्चान्ते सविसर्गाविसर्गयोः।
सबिन्दुकाबिन्दुकयो स्यादभेदप्रकल्पनम्॥

ड् और ल्, र् और ल्, ब् और व्, श् और ष्, न् और ण्, विसर्ग और विसर्गाभाव तथा अनुस्वार और अनुस्वराभाव की स्थिति होने पर भी यमक होता है।

श्लोक में यमक के उदाहरण भी प्राप्त हैं। स्तवकं और स्तबक में वर्ण-साम्य है, ब् और व् का भेद नहीं माना गया है तथा बाद वाला दो शब्दों का अंश होने से निरर्थक है। माधुर्य और माधुर्यं दूसरा जोड़ा है जिसमें पहला शब्द निरर्थक (दो शब्दों का अंश होने से) है ॥८॥]

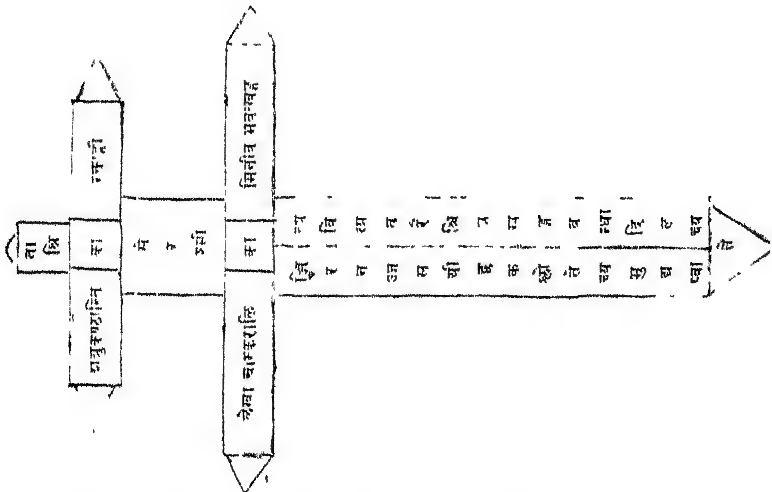
काव्यवित्प्रवरैश्चित्रं खड्गबन्धादि लक्ष्यते।
तेष्वाद्यमुच्यते श्लोकद्वयी सज्जनरञ्जिका ॥९॥
कामिनीव भवत्खड्गलेखा चारुकरालिका।
काश्मीरसेका रक्ताङ्गी शत्रुकण्ठान्तिकाश्रिता ॥१०॥

काव्यविदिति। काव्यवित्सु साहित्यशास्त्रज्ञेषु प्रवरैः श्रेष्ठैः। खड्गबन्धः नाम अलङ्कारः आदौ यस्य तत् चित्रं चित्रकाव्यम्। लक्ष्यते कथ्यते। तेषु चित्रकाव्येषु। आद्यं प्रथमं चित्रकाव्यम्। तद्रूपेत्यर्थः सज्जन-

रञ्जिका रसिक- मनोहरा । **श्लोकयोः** पद्ययोः पञ्चममयूखस्य **नवमदशमयोः** श्लोकयोः पद्ययोः । **द्वयी** द्वयम् । **उच्यते** अत्र उपन्यस्यते ।

भवतः खड्गस्य करवालस्य । **लेखा** रेखा धारा इति यावत् । **कामिनी** सुन्दरी । **इव** । **चारुः** सुन्दरी चासौ **करालिका** तीक्ष्णा च । कामिनीपक्षे **चारुणि करौ** हस्तौ **अलिकं** ललाटं च यस्याः । **काश्मीरस्य** कुङ्कुमस्य **सेकवत्** लेपवत् **आरक्तम्** रुधिरेण समन्तात् लोहितम् **अङ्गं** शरीरं **यस्याः** सा । कामिनीपक्षे **काश्मीरस्य सेको** यस्याम् सा । **रक्तम्** अनुरक्तम् **अङ्गं** यस्याः सा । **शत्रूणाम्** । **कण्ठस्य** ग्रीवायाः । **अन्तिकम्** निकटदेशम् । **आश्रिता** उपगतवती (वर्तते) । अयमर्थः उभयत्र योज्यः ॥९॥१०॥

साहित्य के श्रेष्ठ विद्वानों ने खड्ग-बन्ध आदि चित्र काव्यों के लक्षण लिखे हैं। उनमें से पहला (चित्र काव्य) सुजनों को प्रसन्न करने वाले दो श्लोकों के रूप में कहा जा रहा है।



सुन्दर कर और ललाट वाली, केशर के लेप से युक्त तथा अनुराग-पूर्ण अङ्ग वाली सुन्दरी (नायिका) की भाँति, आपकी सुन्दर, तेज, केशर के लेप की

तरह लाल अंग वाली तलवार शत्रुओं के गले के पार्श्व-वर्त्ती प्रदेश का अवलम्बन कर रही है ॥९॥१०॥

[आदि से पद्म-बन्ध आदि अनेक चित्र-काव्य-बन्धों से तात्पर्य है । ये बन्ध कठिनता से बनते हैं क्योंकि इनके लिये कुछ वर्णों को निश्चित स्थान पर रखना जरूरी होता है ।

ऊपर के दो श्लोकों से बना तलवार का चित्र पृष्ठ १०९ पर है ।

नोक का "ते" अक्षर दो बार तथा बीच और ऊपर का "का" अक्षर चार-चार बार पढ़ा जायेगा ॥१०॥]

उपमा यत्र सादृश्यलक्ष्मीरुल्लसति द्वयाः ।
हृदये खेलतोरुच्चैस्तन्वङ्गीस्तनयोरिव ॥११॥

उपमेति । यत्र यस्मिन् अलङ्कारे । **द्वयाः** उपमेयोपमानयोः । **सादृश्यस्य** । **लक्ष्मीः** शोभा । **हृदये** वक्षःस्थले । **खेलताः** क्रीडताः विलसताः इत्यर्थः । **उच्चः** उच्चयोः । **तन्वङ्ग्याः** तनु अस्थूलम् अङ्गं शरीरं यस्याः तस्याः सुन्दर्याः । **स्तनयोः** कुचयोः । **इव** । उल्लसति शोभते (सा) उपमा (नाम अलङ्कारः भवति) ॥ ११ ॥

जहाँ दोनो (उपमेय और उपमान) की समता की शोभा सुंदरी के वक्ष-स्थल पर खेलते हुये उठे स्तनों की भाँति उल्लसित होती है, वहाँ उपमा (-नामक अलंकार) होती है ॥ ११ ॥

[श्लोक में लक्षण और उदाहरण दोनो हैं । जैसे सुन्दरी की छाती पर खेलते हुये दोनो स्तन एक दूसरे के समान शोभित होते हैं, उसी तरह जहाँ उपमेय और उपमान एक दूसरे के समान शोभित हों, वहाँ उपमा होती है ।

सादृश्य लक्ष्मी की जगह साधर्म्य, सधर्मता या समान-धर्मता आदि शब्द अधिक शास्त्रानुकूल होते पर लेखक के काव्य-रसिक होने के कारण काव्यात्मक शब्द-योजना मिलती है जो शास्त्र की शुष्कता को कुछ अंशों में दूर करती है । उदाहरण में उपमान भी अनूठा है । समता में रमणीयता भी होनी चाहिए, यह बताने के लिये "लक्ष्मी" शब्द का प्रयोग किया गया

है और उपमान खेलते हुए स्तनो को बनाया गया है। रमणीयता न रहने पर सामान्य तुलना उपमालंकार का उदाहरण नही बन सकती।

उपमा के लिये चार बातो की आवश्यकता होती है :-

(१) उपमेय—जिसका वर्णन किया जा रहा है या जिसकी तुलना करना अभीष्ट है। इसके पर्याय-वाची शब्द, विषय, प्रासंगिक, प्रस्तुत, विशेष्य और वर्ण्य है। उपर के उदाहरण मे उपमेय "द्वि" है।

(२) उपमान— जिसका वर्णन न हो रहा हो पर जिससे तुलना की जाय। उपमान हमेशा उपमेय की अपेक्षा श्रेष्ठ माना जाता है तथा इसे प्रसिद्ध होना चाहिए। इसे अप्रासंगिक, अप्रस्तुत, विशेषण, अवर्ण्य और विषयी भी कहते है। जिस साहित्य या जिस प्रकार के वर्णन मे जो उपमान आते है, वहाँ उन्ही का प्रयोग होना चाहिये। अंग्रेजी मे निबन्ध (कम्पोजीशन) की पुस्तको मे उपमानो का संग्रह रटाने के लिये किया जाता है। रुद्रट ने संस्कृत के, और हिन्दी के कवि रामनरेश त्रिपाठी ने हिन्दी के उपमानो का संग्रह किया है जिसमें सस्कृत के उपमान स्वाभाविक रूप से आ गये है। ऊपर के उदाहरण मे उपमान स्तन है।

(३) साधारण धर्म—उपमेय और उपमान मे जो गुण उभय-निष्ठ होता है, उसे साधारण धर्म कहते हैं। ऊपर के उदाहरण मे सादृश्य-लक्ष्मी साधारण धर्म है।

(४) उपमा-वाचक शब्द—इव आदि वे शब्द जो तुल्य अर्थ बताते है, उपमा-वाचक शब्द हैं। उदाहरण में "इव" शब्द आया है। कभी-कभी समास कर "इव" आदि का लोप भी कर दिया जाता है। दण्डी ने (काव्यादर्श २।५७-६५) उपमावाचक शब्दों का अच्छा संग्रह किया है :

इव, वत्, वा, यथा, समान, निभ, संनिभ, तुल्य, सकाश, नीकाश, प्रकाश, प्रतिरूपक, प्रतिपक्ष, प्रतिद्वन्द्वी प्रत्यनीक, विरोधी, सदृक्, सदृश, संवादी, सजातीय, अनुवादी, प्रतिबिम्ब, प्रतिच्छन्द, सरूप, सम, संमित, सलक्षण, सदृक्ष, आभा, सपक्ष, उपमित, उपमा, कल्प, देशीय, देश्य, प्रख्य, प्रतिनिधि, सवर्ण, तुलित तथा अन्यून।

इनके पर्याय-वाची शब्द देने से सूची बहुत बड़ी हो जायेगी। इनमें वत्, निभ, सन्निभ, संकाश, नीकाश, आभा, कल्प, देश्य तथा देशीय का प्रयोग पद के अन्त में जुड़कर ही होता है तथा मोटे टाइप वाले नाम ही प्रायः प्रयुक्त होते हैं। बहुव्रीहि समास में विग्रह करने पर "इव" अपने आप आता है।

उक्त चारो तत्त्व होने पर उपमा पूर्ण होती है। इनमें से किसी का अभाव होने पर लुप्तोपमा मानी जाती है।

प्रायः सभी अलंकारों में उपमा के लिये अपरिहार्य उपमान और उपमेय किसी न किसी रूप में आते हैं, इसलिये इसे अर्थालंकारो में सबसे पहले स्थान दिया गया है। काव्य-शास्त्रकारों ने इसका बहुत विस्तृत वर्णन किया है तथा प्रायः सभी आचार्यों ने भिन्न-भिन्न अलंकारों को उपमा-मूलक मानते हुये सामान्य रूप से यह कहा है कि उपमा अन्य अलंकारों का बीज है।

उपमेयोपमा, अनन्वय, प्रतीप, स्मरण, रूपक, सन्देह, भ्रान्तिमान्, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना, व्यतिरेक, सहोक्ति, समासोक्ति, श्लेष, अप्रस्तुत-प्रशंसा आदि अलंकार उपमा से ही विकसित हुए प्रतीत होते हैं। प्रायः सभी अलंकारो की परिभाषा में उपमेय और उपमान का वर्णन देते हुये उनको विशेष स्थिति के ही विभेदक तत्त्व बनाते हैं। उपमा की प्रशस्ति में कही गई निम्नलिखित उक्तियाँ रोचक हैं :—

उपमैका शैलूषी सम्प्राप्ता चित्रभूमिकाभेदान्।
रञ्जयति काव्यरङ्गे नृत्यन्ती तद्विदा चेतः॥
(अप्पय्य दीक्षित-कृत चित्र-मीमांसा)

(उपमा एक नटी है जो विचित्र भूमिकायें अपनाकर नृत्य करती हुई काव्य के रङ्ग-मञ्च पर रसिकों का मनोरंजन करती है।)

अलङ्कारशिरोरत्नं सर्वस्वं काव्यसम्पदाम्।
उपमा कविवंशस्य मातैवेति मतिर्मम॥
(केशव मिश्र-कृत अलंकार-शेखर में राजशेखर का उद्धरण जो अप्राप्त है।)

(मै मानता हूँ कि उपमा अलंकारों की शिरोमणि, काव्य-लक्ष्मी का सर्वस्व और कवि-कुल की माँ ही है ।)

उपमैव च प्रकारवैचित्र्येणानेकालङ्कारबीजभूता ।

(रूय्यक-कृत अलंकार-सर्वस्व)

(प्रकारों की विचित्रता से उपमा अनेक अलंकारों का बीज है ।)
विपुलालङ्कार-वर्त्तिनी उपमा। (पण्डित-राज जगन्नाथ-कृत रसगङ्गाधर)

(उपमा बहुतेरे अलंकारों मे रहती है ।)

तदिदं चित्रं विश्वं ब्रह्मज्ञानादिवोपमाज्ञानात् । (चित्रमीमांसा)

(ब्रह्म की भाँति उपमा के ज्ञान से यह विचित्र संसार ज्ञात हो जाता है । विचित्र संसार का अर्थ उपमा के पक्ष मे काव्य-संसार लगाया जा सकता है ।)

रुद्रट ने काव्यालंकार में औपम्य-नामक अलंकार दिया है जिसमे उपमादि अलङ्कार अन्तर्भूत होते है ।

दण्डी, मम्मट और विश्वनाथ ने क्रमशः ३२, २५ तथा २७ प्रकार की उपमाओं का वर्णन किया है।

उपमा से अन्य अलंकारो का भेद जानने के लिये सभी अलंकारों के लक्षण भली-भाँति याद करने और समझने की जरूरत है जिससे विभेदक तत्त्व निकाले जा सकें । नीचे कुछ भेद दिये जाते हैं :—

"उपमा" मे उपमेय और उपमान अलग-अलग पर "अनन्वय" मे एक होते है, यह दोनो म अन्तर है।

"उपमा" में उपमेय और उपमान अलग-अलग रहते हैं, दोनो में समानता की कोई एक बात भी पर्याप्त होती है, दोनो की एक दूसरे से तुलना की जाती है तथा उपमान का काव्य या लोक में प्रसिद्ध होना जरूरी है, जब कि "उत्प्रेक्षा" में दोनो में भेद नहीं होता, दोनो में ऐक्य होता है, उपमेय में उपमान की संभावना की जाती है तथा उपमान का काव्य या लोक मे प्रसिद्ध होना जरूरी नहीं है।

"उपमा" मे समानता का ज्ञान अभिधा से होता है और "रूपक" मे व्यञ्जना

से तथा उपमेय में उपमान की संभावना के स्थान पर आरोप किया जाता है। शेष अन्तर वही है जो "उपमा" और "उत्प्रेक्षा" के बीच।

"उपमा" मे साधर्म्य पर "व्यतिरेक" मे वैधर्म्य के साथ साधर्म्य का बोध होता है।

"उपमा" एक वाक्य मे होती है, एवं इसमे उपमेय और उपमान एक-एक होते है तथा एक उपमा होती है। इसके विपरीत "उपमेयोपमा" मे दो वाक्य होते है, उपमेय और उपमान दो-दो होते है तथा दो उपमाये होती है। इसके अतिरिक्त "उपमेयोपमा" मे दूसरा उपमेय पहली उपमा का उपमान होता है और दूसरा उपमान पहली उपमा का उपमेय।

इसके अतिरिक्त "उपमा" शब्द-मात्र के साम्य से भी होती है; भले ही समान धर्म न मिलते हो :—

मण्डपः सकलकल. चन्द्रः इव।

उक्त उदाहरण मे मण्डप तो कलकल (= कोलाहल)-युक्त है और चन्द्र सकल-कला-युक्त। "सकलकल" शब्द मात्र के साम्य से उपमा हो गई है। यह श्लेष के प्रकरण में आयेगा।

"उपमा" मे अन्य (उपमान) के गुण अन्य (उपमेय) में ढूँढ़ने पड़ते हैं और उपमान के गुण का सौन्दर्य इस प्रकार उपमेय मे प्रतिफलित होता है। उपमेय में वह गुण छिपा रहता है। हलके लाल रंग के कपडे के ऊपर पुराना होने के कारण हलके हुये लाल रंग के डोरे से कसीदाकारी की जाय तो नहीं दिखेगी पर यदि डोरे पर नया रंग चढाकर नया कर दिया जाय तो वह स्पष्ट दिखेगी। इसी तरह उपमान अपने गुणों का रंग उपमेय मे लाकर उसे प्रसिद्ध बनाता है।

अप्पय्य दीक्षित ने कुवलयानन्द मे जयदेव के उक्त श्लोक के उत्तरार्ध को "पूर्णोपमा" का उदाहरण बनाकर परिभाषा और उदाहरण अलग-अलग कर दिये हैं जिससे उपमेय भी चारु हो गया है। कुवलयानन्द ने चन्द्रालोक को चारुतर बनाना ही अपना लक्ष्य बनाया है। उक्त संशोधन निम्नांकित है :—

हंसीव कृष्ण ते कीर्तिः स्वर्गङ्गामवगाहते ॥

(हे कृष्ण, तुम्हारी कीर्ति हंसिनी की भाँति स्वर्ग-गंगा मे स्नान करती है।)

यहाँ कीर्ति, हंसिनी, स्वर्ग-गंगा में स्नान तथा इव क्रमशः उपमेय, उपमान, साधारण धर्म और उपमा-वाचक शब्द हैं।

इसी तरह परिभाषा को स्पष्ट करते हुये वे कहते हैं कि जहाँ उपमान और उपमेय का सादृश्य सहृदय-हृदयों का अह्लादक होकर चारु रूप से उल्लसित होता है और व्यंग्य के नियन्त्रण के बिना (अभिधा से) प्रकाशित होता है वहाँ उपमालङ्कार होता है :—

यत्रोपमानोपमेययोः सहृदयहृदयाह्लादकत्वेन चारु सादृश्यमुद्भूततया उल्लसितव्यङ्ग्यमर्यादा विना स्पष्टं प्रकाशते तत्रोपमालङ्कारः ॥ ११ ॥]

उपमानोपमेयत्वे यत्रैकस्यैव जागृतः ।
इन्दुरिन्दुरिवेत्यादौ भवेदेवमनन्वयः ॥१२॥

उपमानेति । एवम् इत्थम् । यत्र यस्मिन् स्थले । एकस्य वर्ण्यमानस्य पदार्थस्य । एव । उपमानं अप्रस्तुतं च उपमेयं प्रस्तुतं च । तयोः भावः उपमानोपमेयत्वे । जागृतः भवतः । तत्र अनन्वय नाम अलङ्कारः । भवेत् स्यात् ।

(उदाहरति यथा) इन्दुः चन्द्रः । इन्दुः चन्द्रः । इव । इत्यादौ अनन्वयः (नाम अलङ्कारः) ॥ १२ ॥

इस प्रकार अनन्वय (-नामक अलङ्कार) होता है जहाँ एक ही (वर्ण्य वस्तु) उपमेय और उपमान हो।

(उदाहरण :—) "चन्द्रमा, चन्द्रमा के समान" इत्यादि में अनन्वय (अलंकार) है ॥ १२ ॥

[उपमेय ही उपमान होने पर "अनन्वय" अलंकार होता है। इससे यह अर्थ निकलता है कि उपमेय अतुल्य है। इसमें उपमान, भिन्न न होने से, यह जरूरी नहीं है कि प्रसिद्ध ही हो। "उपमा" से इसका अन्तर ऊपर (५।११) देखा जा सकता है।

"न अन्वयः उपमानान्तरेण सह सम्बन्धः यस्य सः अनन्वयः।" व्युत्पत्ति से "जिसका किसी (अन्य उपमान) से संबंध न हो, वह "अनन्वय" है" अर्थ निकलता है जो परिभाषा का बोध करा देता है।

यहाँ साधारण धर्म लुप्त है। यदि कुवलयानन्द के अनुसार "इन्दुरिन्दुरिव" "श्रीमान्" कर दे तो अनन्वय पूर्ण हो जायेगा ॥ १२ ॥]

पर्यायेण द्वयोस्तच्चेदुपमेयोपमा मता।
धर्मोऽर्थ इव पूर्णश्रीरर्थो धर्म इव त्वयि ॥१३॥

पर्यायेणेति। पर्यायेण क्रमेण। **द्वयोः** उपमेयस्य उपमानस्य च। **तत्** उपमानोपमेयत्वे। **चेत्** यदि (तर्हि)। **उपमेयोपमा** (नाम अर्थालङ्कारः)। **मता** कथिता।

(उदाहरति यथा) **त्वयि** भवति। **धर्मः। अर्थः। इव। पूर्णा** संपूर्णा श्रीः शोभा यस्य सः **पूर्णश्रीः** विपुलः इत्यर्थः। **अर्थः** (च)। **धर्मः। इव** (पूर्णश्रीः)।

यदि क्रम से उपमेय, उपमान और उपमान, उपमेय हो जाय तो "उपमेयोपमा" मानी जाती है।

(उदाहरण :—) तुममे धर्म, अर्थ की भाँति और अर्थ, धर्म की भाँति पूर्ण शोभा के साथ (=भरा हुआ) है।

[उदाहरण में दो उपमायें है। पहली उपमा में धर्म उपमेय है और अर्थ उपमान। इन दोनो ने दूसरी उपमा मे अपना क्रम उलट दिया दिया है, अर्थात् उपमेय, उपमान हो गया है और उपमान, उपमेय।

५।११ मे "उपमा" से इसका अन्तर बताया जा चुका है। "प्रतीपोपमा" से "उपमेयोपमा" का अन्तर नीचे (५।१४) बताया जायेगा।

"अनन्वय" से "उपमेयोपमा" का यह अन्तर है कि पहले मे वर्णनीय वस्तु एक होती है और उसे सर्वोत्कृष्ट सिद्ध किया जाता है जब कि दूसरा ("उपमेयोपमा") मे वर्णनीय वस्तुयें दो होती हैं और परस्पर वे एक दूसरे के बराबर तथा तीसरी आदि अन्य वस्तुओं से श्रेष्ठ बताई जाती है।

"उपमा" की तरह "उपमेयोपमा" भी पूर्ण और लुप्त हो सकती है ॥१३॥]

विख्यातस्योपमानस्य यत्र स्यादुपमेयता।
इन्दुर्मुखमिवेत्यादौ स्यात्प्रतीपोपमा तदा ॥१४॥

विख्यातस्येति। यत्र यस्मिन्। अत्र यत्र इति पदस्य स्थाने यदि इति प्रयोगः उचितः। विख्यातस्य प्रसिद्धस्य। उपमानस्य अप्रस्तुतस्य। उपमेयता प्रस्तुतत्वम्। स्यात् भवेत्। तदा तर्हि। प्रतीपोपमा (नाम। अलङ्कार)। स्यात् भवेत्।

(उदाहरति यथा) इन्दुः चन्द्रः। मुखम वदनम्। इव। इत्यादौ (प्रतीपोपमा नाम अर्थालङ्कारः)॥ १४॥

अगर प्रसिद्ध उपमान उपमेय हो जाय तो "प्रतीपोपमा" (-नामक अर्थालंकार) होती है।

(उदाहरणः—) "चन्द्रमा मुख के समान है" इत्यादि (उदाहरणो) मे ("प्रतीपोपमा"-नामक अर्थालङ्कार) है ॥१४॥

[परिभाषा के अनुसार उपमान का प्रसिद्ध होना जरूरी है। यों "उपमा" अलङ्कार में वह प्रसिद्ध होता है; अन्यत्र जरूरी नही है। इस "प्रतीपोपमा" के लिये उपमान, कवि-कल्पित या अप्रसिद्ध नही होना चाहिये।

उदाहरण मे प्रसिद्ध उपमान चन्द्रमा को उपमेय बनाकर उपमेय मुख को उपमान बना दिया गया है।

प्रतीप का अर्थ उलटा होता है। इस अलङ्कार मे उपमान और उपमेय उलट दिये गये हैं। इसका ठीक उलटा उपमालङ्कार है।

मुख सबसे बढ़कर सुंदर है, यह दिखाने के लिये इस अलङ्कार का प्रयोग किया गया है।

"उपमेयोपमा" मे भी "प्रतीपोपमा" हो सकती है किन्तु वहाँ उस "प्रतीपोपमा" का एक उपमा के बाद आना जरूरी होता है, जब कि "प्रतीपोपमा" मे ऐसा नहीं होता ॥१४॥]

उपमानेतु लीलादिपदाढ्ये ललितोपमा।
त्वन्नेत्रयुगलं धत्ते लीलां नीलाम्बुजन्मनोः॥१५॥

उपमान इति। उपमाने अप्रस्तुते। तु। लीलादिपदाढ्ये लीलादिपदयुक्ते (सति)। ललितेपमा (नाम अर्थालङ्कारः भवति)।

(उदाहरति यथा) तव **नेत्रं** नयनं **त्वन्नेत्रं** तस्य **युगलं** युग्मम् । **नीले** कृष्णे च ते **अम्बुजन्मनी** कमले च तयोः । **लीलां** शोभाम । **धत्ते** धारयति ॥१५॥

उपमान के लीला आदि पद से युक्त होने पर "ललितोपमा" (-नामक अलंकार) होती है।

(उदाहरणः—) तुम्हारा नेत्र-युगल नीलकमल की शोभा धारण करता है ॥१५॥

[मूल के लीलादि से तात्पर्य है लीला या उसके पर्यायवाची शोभा आदि शब्द । ललितोपमा मे जिसकी लीला उपमेय धारण करता है, वह उपमान होता है और उपमान-लीला का उपमेय मे आरोप होता है जिससे वह लीला उपमेय मे प्रतीत होती है । उदाहरण मे कमल का विलास नेत्र-युगल मे प्रतीत हो रहा है ॥१५॥]

अनेकस्यार्थयुग्मस्य सादृश्यं स्तबकोपमा ।
श्रितोऽस्मि चरणौ विष्णोर्भृङ्गस्तामरसं यथा ॥१७॥

अनेकस्येति । **अनेकस्य** एकाधिकस्य । **अर्थस्य** उपमेयोपमानभूतस्य । **युग्मस्य** युगलस्य । **सादृश्यं** समता । **स्तबकोपमा** (नाम अर्थालङ्कारः भवति) ।

(उदाहरति यथा) **यथा** यद्वत् । **भृङ्गः** भ्रमरः । **तामरसम्** कमलम् । (**तथा**) **विष्णोः** हरेः । **चरणौ** पदे । **श्रितः** आश्रितः नतः इति यावत् । **अस्मि** ॥१६॥

एक से अधिक अर्थ - (उपमेय और उपमान-रूपी) युगल की सदृशता स्तबकोपमा होती है ।

(उदाहरणः—) जिस प्रकार भौरा कमल का आश्रय लेता है, उसी प्रकार मैंने विष्णु के चरणो का आश्रय लिया है ॥१६॥

[यहाँ "मैं" उपमेय का उपमान भ्रमर तथा चरण उपमेय का उपमान कमल है । इस प्रकार उपमेय और उपमान के दो जोड़े हो गये, अतः यहाँ "**स्तबकोपमा**" है ॥१६॥]

स्यात्सम्पूर्णोपमा यत्र द्वयोरपि विधेयता।
पद्मानीव विनिद्राणि नेत्राण्यासन्नहर्मुखे ॥१७॥

स्यादिति। यत्र यस्मिन् स्थाने। **द्वयोः** उपमेयस्य उपमानस्य च। **अपि।** **विधेयता** वर्ण्यता। **स्यात्** भवेत्। (तत्र) **सम्पूर्णोपमा** (नाम अर्थालङ्कारः) **स्यात्** भवेत्।

(उदाहरति यथा) **अहर्मुखे** अह्नः दिवसस्य **मुखे** आरम्भे प्रातःकाले इति यावत्। **पद्मानि** कमलानि। **इव**। **नेत्राणि** नयनानि। **विनिद्राणि** निद्रारहितानि विकसितानि। **आसन्** अभवन् ॥१७॥

जहाँ दोनो (उपमेय और उपमान) सामने प्रस्तुत होते है, वहाँ "सम्पूर्णोपमा" होती है।

(उदाहरण:—) प्रातःकाल कमलो की भाँति आँखे निद्रा-रहित (विकसित) हो गई ॥१७॥

[यहाँ मूल का "विधेयता" शब्द ध्यान देने योग्य है। उपमान और उपमेय मे पहला अप्रस्तुत होता है। दिन के समय यदि हम "मुख, चन्द्रमा के समान है" कहे तो यह "उपमा" होगी क्योकि मुख सामने या प्रासंगिक है और चंद्रमा न तो सामने है और न प्रासंगिक; वह बाहर से लाया गया है रात में चांद के निकलने पर यदि उक्त उपमा का प्रयोग किया जायेगा तो तुलना के लिये उपमेय और उपमान दोनो सामने रहेगे। इस प्रकार प्रासंगिक (विधेय, वर्ण्य, प्रस्तुत या वर्णन-योग्य) हो जायेगे।

इस उदाहरण मे प्रात.काल, जिसका वर्णन किया जा रहा है, कमल खिलते और नेत्र निद्रा-रहित होते रहते है। दोनो वर्णनों की विधेयता (प्रासंगिकता) होने से सम्पूर्णोपमा है ॥१७॥]

यत्रोपमानचित्रेण सर्वथाप्युपरज्यते।
उपमेयमयी भित्तिस्तत्र रूपकमिष्यते ॥१८॥

यत्रेति। यत्र यस्मिन् स्थाने। **उपमेयमयी** उपमेयरूपा। **भित्तिः** कुड्यम्। **उपमानम्** अप्रस्तुतम् एव **चित्रम्** आलेख्यम्। तेन। **सर्वथा** सर्वेण प्रकारेण। **उपरज्यते** व्याप्ता भवति। **तत्र** तस्मिन् स्थाने। **रूपकम्** (नाम अर्थालङ्कारः)। **इष्यते** मन्यते ॥१८॥

जहाँ उपमेय की दीवाल उपमान की तस्वीर से सर्वथा रंगी होती है, वहाँ "रूपक" माना जाता है ।।१८।।

[उपमेय के उपमान के द्वारा आत्मसात् कर लिये जाने पर रूपक होता है। दोनो मे भेद न रह जाने पर "रूपक" होता है।

यह श्लोक "रूपक" की परिभाषा बताने के साथ साथ उदाहरण भी है। यहाँ "उपमेय" शब्द का उपमान भित्ति है और "उपमेय ही भित्ति है" अर्थ है। इस तरह दोनो मे भेद नही है। भित्ति ने "उपमेय" की सत्ता अपने मे विलीन कर ली है। यही स्थिति "उपमान" शब्द और उसके उपमान "चित्र" की भी है।

परिभाषा को ही उदाहरण बना देने से वह बहुत सुन्दर लगती है। जैसे चित्र दीवाल को व्याप्त कर देता है और दोनो मे भेद नहीं रह जाता, उसी प्रकार जहाँ उपमेय को उपमान ढक लेता है, वहाँ "रूपक" होता है।

यह आरोप या अभेद वास्तविक नही होता। कवि-कल्पना से सादृश्य के आधार पर अभेद दिखाया जाता है। अलङ्कार बनाने के लिये इसमे सौन्दर्य होना आवश्यक है। "रूपक" से "उपमा" और "उत्प्रेक्षा" का अन्तर क्रमशः ५।११ तथा ५।२९ की टीका मे देखा जा सकता है।

"रूपक" और "निदर्शना" के बीच यह अन्तर है कि पहले मे आरोप शाब्द होता है और दूसरे मे आर्थ। "अतिशयोक्ति" मे उपमेय को हटाकर उपमान बना देते है जब कि "रूपक" मे उपमेय और उपमान दोनो का वर्णन होता है; यही दोनो का अन्तर है। "मुखचन्द्र को देखो" मे मुख और चन्द्र क्रमशः उपमेय और उपमान हैं तथा अर्थ है "मुख ही चन्द्र है; उसे देखो"। इसके विपरीत "अतिशयोक्ति" मे मुख का वर्णन करते समय कहेंगे "चन्द्र को देखो"। इस वाक्य मे प्रसंग से चन्द्र का अर्थ मुख लगेगा। "अपह्नुति" मे उपमेय छिपाया जाता है; इसमे नही। उपमेय की मदद से उपमान के क्रिया से अन्वित होने पर "परिणाम" अलङ्कार होता है। "नेत्र कमल से देखा" में "परिणाम" है क्योंकि कमल स्वयं देखने के लिये नेत्र की मदद लेता है।

कुवलयानन्द के व्याख्याता आशाधर भट्ट ने रूपक शब्द की व्युत्पत्ति सुन्दर की है। उनके अनुसार जो लक्षणा उपमेय और उपमान को समान रूप वाला

बना देतो है, वह जिस अलङ्कार मे होती है वह रूपक है :—

"रूपवत्करोतीति रूपयतीति वा रूपको लक्षणाविशेषः सोऽस्मिन्नस्तीति रूपकमलङ्कारः।"

सामान्यतः "रूपयतीति" रूपकः" व्युत्पत्ति कर अर्थ लगाया जाता है कि उपमान और उपमेय मे अभेद का आरोप कर उन्हे एक करने वाला रूपक होता है।

यहाँ रूपक के ४ भेद आगे बताये जायेगे। काव्य-प्रकाश और साहित्य-दर्पण मे ८, कुवलयानन्द मे १० और सरस्वती-कण्ठाभरण मे १५ भेद बताए गये है ॥१८॥]

समानधर्मयुक्साध्यारोपात्सोपाधिरूपकम् ।
उत्सिक्तक्षितिभृल्लक्ष्यपक्षच्छेदपुरन्दरः ॥१९॥

समानेति। **समानः** तुल्यः च सः **धर्मः** **समानधर्मः**। युज्यते अनेन इति युक्। **समानधर्मस्य** युक्। तेन। **साध्यः** शक्यः च सः **आरोपः** च। तस्मात्। **सोपाधिरूपकम्** (नाम अर्थालङ्कारः भवति)।

उत्सिक्ताः सगर्वाः च ते **क्षितिभृतः** पर्वताः च। तेषाम्। **लक्ष्याः** शरव्य-भूताः। **पक्षाः** पतत्राः सहायकाः वा। तेषाम् **छेदः** कर्त्तनम् नाशनम् वा। तत्र **पुरन्दरः** इन्द्रः ॥१९॥

साधारण धर्म के सम्बन्ध से आरोप (रूपक) के संभव होने पर सोपाधि-रूपक होता है।

(उदाहरण :–) घमण्डी (मर्यादा-हीन) क्षितिभृतो (पहाड़ या राजे) के लक्ष्य-भूत पक्षो (पंखो या सहायको) के छेदन (काटने या नाश करने) मे इन्द्र हैं ॥ १९ ॥

["साधारण धर्म के सम्बन्ध से" का अर्थ है, साधारण धर्म दिया हो और उसी के कारण अभेद संभव हो । उदाहरण मे "घमण्डी" साधारण धर्म है जो विरोधी राजों और पहाड़ो—दोनो—में पाया जाता है। इस समानता के कारण वर्णित (राजा) से इन्द्र का अभेद दिखाना संभव हुआ है, अतः यहाँ "सोपाधि-रूपक" है।

"सादृश्य-रूपक" से इसका अन्तर अगले श्लोक की टीका मे दिया जा रहा है।

साधारण धर्म के बाद उपमान आने पर "सोपाधि-रूपक" होता है जब कि "रूपक" मे उपमेय के बाद उपमान आता है। उदाहरण मे "उत्सिक्तांक्षति-भूल्लदयपक्षच्छेद" साधारण धर्म है जो शब्द-श्लेष से विशेष सुन्दर हो गया है।

कुवलयानन्द मे इसे अलग भेद नही माना गया है।

अन्य आचार्य इसे "परम्परित-रूपक" कहते है ॥ १९ ॥]

पृथक्कथितसादृश्य दृश्यं सादृश्यरूपकम् ।
उल्लसत्पञ्चशाखस्ते राजते भुजभूरुहः ॥ २० ॥

पृथगिति। **पृथक्** पदान्तरेण। **कथितं** वर्णितम् **सादृश्यं** समानता यत्र तत्। **दृश्यं** दर्शनीयं रमणीयम् इति यावत्। **सादृश्यरूपकम्** (नाम अर्थालङ्कारः भवति)।

(उदाहरति यथा) **उल्लसन्** विलसन् **पञ्चशाखः** पाणिः यत्र। भूरुहपक्षे **उल्लसन्त्यः** विलसन्त्यः **पञ्च शाखाः** अङ्गुलिरूपाः यत्र। **ते** तव। **भुजः** बाहुः एव **भूरुहः** वृक्षः। **राजते** शोभते ॥ २० ॥

जहाँ भिन्न भिन्न पद से समानता बताई जाय वह रमणीय (अर्थालङ्कार) सादृश्य-रूपक होता है।

(उदाहरण :-) जिसमे (उँगली-रूपी) पाँच शाखायें शोभित हो रही है वह तुम्हारा बाहु-वृक्ष शोभित हो रहा है ॥ २० ॥

[यहाँ सादृश्य का कथन "उल्लसत्पञ्चशाख" पद से किया गया है जो पृथक् है तथा भुज मे भूरुह का आरोप संभव है। इसके विपरीत "सोपाधि-रूपक" मे सादृश्य का कथन उपमान के पूर्व उसी पद मे होता है और सादृश्य के आधार पर उपमान की उपमानता संभव होती है। यही दोनो का अन्तर है।

अन्य आचार्य इसे "समस्त-वस्तु-विषय-सावयव रूपक", "सावयव-रूपक", "साङ्गरूपक" आदि कहते है।

कुवलयानन्द मे यह रूपक-भेद भी नहीं दिया गया है ॥ २० ॥]

स्यादङ्गयष्टिरित्येवंविधमाभासरूपकम् ।
अङ्गयष्टिधनुर्वल्लीत्यादि रूपितरूपकम् ॥ २१ ॥

स्यादिति । अङ्गम् शरीरम् एव यष्टिः यष्टिका। उदाहरणमिदम् । इति एवंविधम् एवम् इत्थं विधा रूपं यस्य तत । आभासरूपकम (**नाम** अर्थालङ्कारः भवति) ।

अङ्गम् एव यष्टिः । **अङ्गयष्टिः** । धनुः चापः एव वल्ली लता । अङ्गयष्टिः एव धनुर्वल्ली अङ्गयष्टिधनुर्वल्ली । इत्यादि (उदाहरणमिदम्) । रूपितरूपकम् (नाम अर्थालङ्कारः भवति) ।। २१ ।।

"अङ्गयष्टि" आदि प्रकार (उदाहरण) वाला (अर्थालङ्कार) "आभास-रूपक" अङ्ग-यष्टि-धनुर्वल्ली आदि प्रकार (उदाहरण) वाला (अर्थालङ्कार) "रूपित-रूपक" होता है ।।२१।।

[यहाँ परिभाषा न देकर उदाहरणो और पारिभाषिक नामों से ही समझने के लिये छोड दी गई है ।

यहाँ "आभास" छाया के अर्थ में है। जिस रूपक मे उपमान का आभास उपमेय मे होता है, वहाँ आभास-रूपक होता है। अङ्ग-यष्टि मे उपमान "यष्टि" का पतलापन उपमेय "अङ्ग" में भी आभासित होने के कारण यहाँ "आभास-रूपक" है ।

यह कहना कि हेत्वाभास की तरह यह रूपकाभास है, गलत होगा। यदि "रूपक नहीं है" या "केवल आभास-मात्र होने से चमत्कार-पूर्ण नहीं है," कहें तो गलत होगा क्योंकि वैसी स्थिति मे अलङ्कार में इसकी गणना ही नही होगी ।

"रूपितस्य रूपकम्" विग्रह के अनुसार रूपित-रूपक वहाँ होता है जहाँ आरोपित पदों मे पुनः आरोप किया जाता है। "अङ्ग-यष्टि-धनुर्वल्ली" उदाहरण मे पहले "अङ्ग-यष्टि" मे रूपक है फिर "धनुर्वल्ली" (धनुष ही लता है) मे । अब इन दो रूपक-युक्त पदों को क्रमशः उपमेय और उपमान बनाकर पुनः रूपक लाया गया । अङ्ग यष्टि ही धनुर्वल्ली है। इस प्रकार यह "रूपित-रूपक" का उदाहरण बना ।।२१।।]

परिणामोऽनयोर्यस्मिन्नभेदः पर्यवस्यति ।
कान्तेन पृष्टा रहसि मौनमेवोत्तरं ददौ ।। २२ ।।

परिणाम इति । यस्मिन यत्र अर्थालङ्कारे । अनयोः उपमेयोपमानयोः ।

अभेदः ऐक्यम् । **पर्यवस्यति** क्रियासंबन्धेन सम्भवति (तत्र) । **परिणामः** (नाम अर्थालङ्कारः भवति)

(उदाहरति यथा) **रहसि** एकान्ते । **कान्तेन** प्रियेण । **पृष्टा** (नायिका) । **उत्तरम्** । **मौनम्** । **एव** । **ददौ** दत्तवती ॥ २२ ॥

जहाँ इन (उपमेय और उपमान) की एकता क्रिया का सम्बन्ध मिलने पर ही संभव होती है , वहाँ "परिणाम" (-नामक अर्थालंकार) होता है ।

(उदाहरण :--) एकान्त मे प्रिय के पूछने पर उस (नायिका) ने उत्तर मौन ही दिया ॥ २२ ॥

[परिभाषा मे "पर्यवस्यति" शब्द महत्त्व-पूर्ण है। इसके कारण "रूपक" और "परिणाम" का अन्तर स्पष्ट होता है जो ५।१८ की टीका मे देखा जा सकता है। उपमेय और उपमान मे भेद न होना और उस (अभेद) का क्रिया से संबंध होना इस अलंकार के लिये जरूरी है।

उदाहरण मे उत्तर उपमेय और मौन उपमान है। यदि उत्तर-मौन (उत्तर ही मौन) कहा जाता तो रूपक होता पर "ददौ" क्रिया के कारण उपमान मौन का अर्थ क्रिया के साथ तभी बैठेगा जब उपमेय "उत्तर" की मदद ली जाय या दोनों के अभेद के कारण क्रिया का अन्वय ठीक मान लिया जाय। उत्तर दिया जाता है, मौन नही, पर चूँकि उत्तर और मौन एक ही वस्तु हैं (अर्थात् दोनो मे अभेद है) अतः उत्तर-मौन दिया जा सकता है। यों उपमान और उपमेय की एकता क्रिया की मदद से संभव होने के कारण "परिणाम" अलङ्कार है।

"रूपक" और "परिणाम" मे नाम-मात्र का भेद है अतः मम्मट "परिणाम" को "रूपक" के अन्तर्गत मानते है ॥ २२ ॥]

बहुभिर्बहुधोल्लेखादेकस्योल्लेखिता मता ।
स्त्रीभिः कामः प्रियैश्चन्द्रः कालः शत्रुभिरैक्षि सः ॥ २३ ॥

बहुभिरिति । **बहुभिः** अनेकैः (कृतात्) । **बहुधा** । अनेकैः प्रकारैः । **एकस्य** उपमेयस्य । **उल्लेखात्** प्रतीत्या । **उल्लेखिता** (नाम अर्थालङ्कारः) । **मता** इष्टा ।

(उदाहरति यथा) सः वर्णनीयः जनः। **स्त्रीभिः** नारीभिः। **कामः** कन्दर्पः। **प्रियैः** सुहृज्जनैः। **चन्द्रः** शशाङ्कः। **शत्रुभिः** अरिभिः। **कालः** यमः (चेति)। ऐक्षि दृष्टः॥ २३॥

अनेक व्यक्तियों के द्वारा, अनेक प्रकार से एक (वस्तु अर्थात् उपमेय) की की गई प्रतीति, "उल्लेखिता" (-नामक अर्थालङ्कार) होती है।

(उदाहरण :–) उसे स्त्रियों ने कामदेव, प्रिय जनो ने चन्द्रमा और शत्रुओं ने यमराज समझा॥ २३॥

[अन्य आचार्यों ने इस अलङ्कार को "उल्लेख" नाम से कहा है।

बहुभिः का अर्थ "अनेक निमित्तो के कारण" लेकर भिन्न-भिन्न क्षेत्रो मे एक की ही प्रतीति भिन्न-भिन्न रूपो मे एक व्यक्ति को ही होने पर भी अप्पय्य दीक्षित "उल्लेख" अलङ्कार मानते है, जैसे :–

गुरुर्वचस्यर्जुनोऽयं कीर्तौ भीष्मः शरासने। (कुवलयानन्द)

(यह वाणी मे बृहस्पति, यश मे अर्जुन और धनुर्विद्या मे भीष्म है।)

"रूपक" और "परिणाम" मे एक उपमान होता है; यहाँ कई होते हैं, यही अन्तर है॥ २३॥]

अतथ्यमारोपयितुं तथ्यापास्तिरपह्नुतिः।
नायं सुधांशुः किं तर्हि व्योमगङ्गासरोरुहम्॥ २४॥

अतथ्यमिति। **अतथ्यम्** न तथ्यं सत्यम्। **आरोपयितुम्** आरोपणार्थम्। **तथ्यस्य** सत्यस्य। **अपास्तिः** निषेधः। **अपह्नुतिः** (नाम अर्थालङ्कारः भवति)।

(उदाहरति यथा) **अयं** पुरो दृश्यमानः। **सुधांशुः** चन्द्रः। **न**। **तर्हि** तदा। **किम्**। **व्योमगङ्गायाः** आकाशगङ्गायाः **सरोरुहम्** कमलम्॥२४॥

असत्य का आरोप करने के लिये सत्य का निषेध करना "अपह्नुति" (-नामक अर्थालङ्कार) है।

(उदाहरणः—) यह चन्द्रमा नही है। तो क्या है? (यह) आकाश-गङ्गा का कमल है॥ २४॥

उपमेय सत्य होता है; उसका निषेध कर अतथ्य उपमान का आरोपण

"अपह्नुति" है। उदाहरण मे चन्द्रमा का वर्णन है जो तथ्य है, पर उसे निषिद्ध कर अतथ्य आकाश-गङ्गा-कमल का उस पर आरोप करने से "अपह्नुति" अलङ्कार है।

वस्तु का निषेध कवि-कल्पित होता है।

दण्डी, जयदेव और अप्पय्य दीक्षित "अपह्नुति" का सादृश्य-मूलक होना जरूरी नही मानते है। उपमेय और उपमान मे कोई साधारण धर्म, भले ही वह दिया न हो, पाया जाने पर अलङ्कार सादृश्य-मूलक होता है। अन्य आचार्य इसे सादृश्य-मूलक ही मानते है।

"अपह्नुति" का "रूपक", "परिणाम" तथा "उल्लेखिता" से यह अन्तर है कि उपमेय मे उपमान का आरोप होने पर भी पहले मे सत्य (उपमेय) को छिपाया जाता है जब कि अन्यो मे नहीं।

"अपह्नुति" से मिलता-जुलता अलंकार "व्याजोक्ति" है जिसमे उपमेय का कथन किया ही नही जाता। उसे छिपाने के लिये उपमान का नाम लिया जाता है जब कि "अपह्नुति" मे उपमेय का नाम लेकर उसका निषेध किया जाता है ॥२५॥]

पर्यस्तापह्नुतिर्यत्र धर्ममात्रं निषिध्यते।
नायं सुधांशुः किं तर्हि सुधांशुः प्रेयसीमुखम् ॥ २५ ॥

पर्यस्तेति। यत्र यस्मिन् स्थले। (धर्मिणि) **धर्ममात्रं** केवलः धर्मः। **निषिध्यते** निह्नूयते (तत्र)। **पर्यस्तापह्नुतिः** (नाम अर्थालङ्कारः भवति)।

(उदाहरति यथा) **अयं** पुरो दृश्यमानः। **सुधांशुः** चन्द्रमा.। **न**। **तर्हि** तदा। **किम्**। **प्रेयस्याः** प्रियायाः। **मुखं** वदनम्। **सुधांशुः** चन्द्रः (अस्ति) ॥ २५ ॥

जहाँ (धर्मी मे) धर्म का ही निषेध किया जाता है, वहाँ "पर्यस्तापह्नुति" (-नामक अर्थालंकार) होती है।

(उदाहरण :-) यह चन्द्रमा नहीं है। तो क्या है? प्रिया का मुख चन्द्रमा है ॥ २५ ॥

[जिस गुण से नाम पडता है, उसे धर्म और जिसमे गह पाया जाय वह धर्मी कहलाता है । मनुष्यत्व गुण से मनुष्य नाम पडता है अतः मनुष्यत्व और मनुष्य क्रमशः धर्म और धर्मी है । यहाँ सुधाशु के सुधाशुत्व का सामने दिख रहे (चन्द्र) से निषेध कर उस (सुधाशुत्व) को अन्यत्र (रोगणी-मुख मे) दिखलाया गया है, अत "पर्यस्तापह्नति" अलंकार है ।

"पर्यस्ता विपरीतधर्मा च सा अपह्नुतिः च" विग्रह से लक्षण स्पष्ट हो जाता है । जहाँ धर्मी मे धर्म हटाकर विपरीत (उपमान) मे स्थापित किया जाय, वहा यह अलकार होता है । "पर्यस्त" का अर्थ होता है "हटाकर विपरीत मे आरोपित करना" ।

मम्मट और पण्डित-राज जगन्नाथ ने "पर्यस्तापह्नुति" को "अपह्नुति" न मानकर "रूपक" माना है ।

सामान्य "अपह्नुति" से इसका अन्तर यह है कि इसमे धर्मी का निपेध न कर केवल धर्म का निषेध किया जाता है जब कि "अपह्नुति" मे धर्मी का ही निपेध किया जाता है ॥ २५ ॥]

भ्रान्तापह्नुतिरन्यस्य शङ्कया तथ्यनिर्णये ।
शरीरं तव सोत्कम्पं ज्वरः किं न सखि स्मरः ॥२६॥

भ्रान्तेति । अन्यस्य उपमानस्य । शङ्कया (सार्धम्) । तथ्यस्य सत्यस्य उपमेयस्य इति यावत् । निर्णये अवधारणे । भ्रान्तापह्नुतिः (नाम अर्थालङ्कारः भवति) ।

(उदाहरति यथा) तव ते । शरीरं देहः । सोत्कम्पम् उत्कम्पेन कम्पनेन सहितम् । किम् । ज्वरः । (हे) सखि आलि । ज्वरः । न (अपि तु) । स्मरः कामः (अस्ति) ॥२६॥

दूसरे (उपमान) की शङ्का के साथ जहाँ सत्य (उपमेय) का निश्चय किया जाता है, वहाँ "भ्रान्तापह्नुति" (-नामक अर्थालङ्कार) होती है ।

(उदाहरण:—) तुम्हारा शरीर कम्पन-युक्त है; क्या बुखार है ?

हे सखी, (बुखार) नहीं (है); (बल्कि) कामदेव है ॥२६॥

["अपह्नुति" मे तथ्य छिपाया जाता है और अतथ्य की स्थापना की जाती है

जब कि "भ्रान्तापह्नुति" में तथ्य उद्घाटित अतथ्य की शङ्का दूर की जाती है। इस तरह दोनो एक दूसरे के विपरीत हैं।

"भ्रान्तस्य अपह्नुतिः" विग्रह से भ्रान्त वस्तु (उपमान) को छिपाना "भ्रान्तापह्नुति" अलङ्कार है।

दण्डी ने इसे "तत्त्वाख्यानोपमा" कहा है ॥२६॥]

छेकापह्नुतिरन्यस्य शङ्कया तथ्यनिह्नवे।
प्रजल्पन् मत्पदे लग्नः कान्तः किं न हि नूपुरः ॥२७॥

छेकेति। अन्यस्य भिन्नस्य तथ्यभूतस्य उपमेयस्य इति यावत्। **शङ्कया**। सत्यज्ञानभूतया। तथ्यस्य सत्यस्य। निह्नवे (सति) छेकापह्नुतिः (नाम अर्थालङ्कारः भवति)।

(उदाहरति यथा) प्रजल्पन् मुखरीभवन्। **मत्पदे** मम पदे चरणे। लग्नः पतितः।

किम्। कान्तः प्रियः।

न। हि (कान्तः) (अपि तु)। नूपुरः मञ्जीरः ॥२७॥

जहाँ दूसरे (सत्य उपमेय) की (सत्यज्ञान-स्वरूप) शङ्का के साथ सत्य छिपाया जाता है, वहाँ "छेकापह्नुति" (-नामक अर्थालङ्कार) होती है।

(उदाहरणः—) मुखर होता हुआ मेरे पैर से लिपट गया। क्या प्रिय ? नहीं; नूपुर ॥२७॥

["छेक" का अर्थ चतुर है। उसके द्वारा प्रयुक्त की गई "अपह्नुति" "छेकापह्नुति" होती है। यहाँ चतुर नायिका ने चतुरता-पूर्वक तथ्य का गोपन कर अतथ्य की स्थापना की है, अतः "छेकापह्नुति" है। "भ्रान्तापह्नुति" से यह उलटी है पर "अपह्नुति" और इसमें भेद नही दिखता; केवल इतना ही भेद किया जा सकता है कि चतुरता और प्रत्युत्पन्न-मतित्व से पहले कहे गये विशेषण से सिद्ध होते हुये तथ्य का निषेध और अतथ्य की स्थापना, "छेकापह्नुति" है तथा सामान्य रूप से तथ्य-निषेध और अतथ्य की स्थापना, "अपह्नुति"।

अप्पय्य दीक्षित ने कुवलयानन्द में उदाहरण का भाव बहुत बारीकी से समझकर परिभाषा बनाते हुये लिखा है.—

कस्यचित् कञ्चित् प्रति रहस्योक्तौ अन्येन श्रुतायाम् उक्तेस्तात्पर्यान्तरवर्णनेन तथ्यनिह्नवे छेकापह्नुति.।

(किसी से कही गई किसी की गुप्त बात दूसरे के द्वारा सुन ली जाने पर उसे दूसरे अर्थ में घटाकर जहाँ सत्य का गोपन किया जाता है, वहाँ "छेकापह्नुति" होती है।)

उदाहरण मे नायिका अपनी नर्म-सखी या विश्वसनीय सखी से प्रिय के द्वारा मनाने का वृत्तान्त कह ही रही थी कि किसी सामान्य सखी ने, जिससे वह बात छिपानी थी, सुन लिया। सत्य को छिपाकर असत्य स्थापित करने के लिये नायिका ने नूपुर की बात गढ दी।

मूल के "अन्यस्य शङ्कया" का अर्थ "अन्य व्यक्ति के डर से" भी किया जा सकता है ॥२७॥]

कैतवापह्नुतिर्व्यक्ते[1] व्याजाद्यैर्निह्नवे[2] पदैः।
निर्यान्ति स्मरनाराचाः कान्तादृक्पातकैतवात् ॥२८॥

कैतवेति। **व्याजाद्यैः** व्याजमिषकपटच्छलादिभिः। **पदैः**। **निह्नवे** गोपने। **व्यक्ते** व्यञ्जनया प्रतीते। **कैतवापह्नुतिः** (नाम अर्थालङ्कारः भवति)।

(उदाहरति यथा) **स्मरस्य** कन्दर्पस्य। **नाराचाः** बाणाः। **कान्तायाः** प्रियायाः। **दृक्पाताः** कटाक्षाः। तेषां **कैतवात्** व्याजात्। **निर्यान्ति** निर्गच्छन्ति ॥२८॥

व्याज आदि पदों से व्यञ्जना के द्वारा छिपाव प्रकट किये जाने पर "कैतवापह्नुति" (-नामक अर्थालंकार) होती है।

(उदाहरणः—) कामदेव के बाण प्रिया के कटाक्षों के छल से निकल रहे हैं ॥२८॥

[उपमेय को छिपाकर उपमान को प्रगट करना "अपह्नुति" है। वही यहाँ

१—पाठान्तर —"कैतवं व्यज्यमानत्वे"।
२— " – " निह्नुतेः "।

भी किया गया है; केवल छल, कैतव आदि शब्दों का प्रयोग आवश्यक है। यहाँ उपमेय "कटाक्ष" को कैतव शब्द से छिपाकर उपमान "बाण" को प्रगट किया गया है।

कुवलयानन्द में "हेत्वपह्नुति" भेद आया है जो "हेतु"-नामक लक्षण (३।८) में अन्तर्भूत हो सकता है।।२८।।]

उत्प्रेक्षोन्नीयते यत्र हेत्वादिर्निह्नुतिं विना।
त्वन्मुखश्रीकृते नूनं पद्मैर्वैरायते शशी।।२९।।

उत्प्रेक्षेति। **यत्र** यस्मिन् स्थले। **निह्नुतिं** गोपनं। **विना** ऋते। **हेत्वादिः** हेतुः फलं स्वरूपं च। **उन्नीयते** सम्भाव्यते (तत्र)। **उत्प्रेक्षा** (नाम अर्थालङ्कारः भवति)।

(उदाहरति यथा) **त्वन्मुखश्रीकृते** तव **मुखस्य** वदनस्य **श्रियः** शोभायाः **कृते** हेतोः प्राप्तये इत्यर्थः। **शशी** चन्द्रः। **नूनं** हि। उत्प्रेक्षाव्यञ्जक पदमिदम्। **पद्मैः** कमलैः। **वैरायते** शत्रुताम् आचरति।

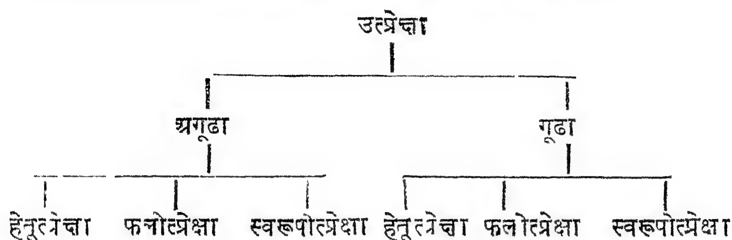
जहाँ छिपाव के बिना हेतु आदि (फल और स्वरूप) की संभावना की जाती है, वहाँ उत्प्रेक्षा (-नामक अर्थालंकार) होता है।

(उदाहरण :-) तुम्हारी मुख-शोभा (पाने) के लिये निश्चय ही चन्द्रमा कमलों से शत्रुता रखता है।। २९।।

["उद्गता ऊर्ध्वं गता प्रेक्षा बुद्धिः यत्र सा उत्प्रेक्षा" इस व्युत्पत्ति से उत्प्रेक्षा का अर्थ उन्नयन (उत्=ऊपर। नयन=ले जाना) सिद्ध होता है जिसका अर्थ संभावना है। मम्मट ने "संभावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परेण यत्" परिभाषा दी है जो अधिक स्पष्ट है तथा जिसके अनुसार उपमान की संभावना उपमेय में की जाने पर "उत्प्रेक्षा" होती है। यहाँ की परिभाषा के अनुसार हेतु, फल या स्वरूप की संभावना होने पर "उत्प्रेक्षा" होती है। उदाहरण में हेतु की संभावना की गई है। चन्द्रमा के निकलने पर कमलो का विकास संकोच में बदल जाता है जिससे चन्द्रमा और कमल का वैर सिद्ध है। "कान्ति की प्राप्ति के लिये यह वैर होगा" यह संभावना की जाने से यहाँ "उत्प्रेक्षा" है।

संभावना की परिभाषा "उत्कटैककोटिकसंशय" की जाती है। दो पक्षों में से एक पक्ष में सन्देह प्रबलतर होने पर संभावना होती है।

विश्वनाथ, विद्याधर तथा पंडित-राज जगन्नाथ के अनुसार "उत्प्रेक्षा" के क्रमशः १७६,१०४ तथा ३ भेद होते हैं। रुय्यक ने अनंत भेद मानकर केवल ९६ का कथन किया है। प्रायः "उत्प्रेक्षा" के ६ भेद किये जाते हैं जो निम्नलिखित हैं (इनमें से प्रस्तुत ग्रन्थ मे केवल दो भेद आये हैं) :—



उत्प्रेक्षा-व्यञ्जक शब्दों की सूची दण्डी ने (काव्यादर्श २।२३४) मे निम्नलिखित दी है: —

मन्ये, शङ्के, ध्रुवम्, प्रायः, नूनम् और इव।

उदाहरण के श्लोकार्ध से यह भाव निकाला जा सकता है कि पद्मों से कलह कर उनमे विद्यमान कान्ता-मुख-कान्ति चन्द्रमा ने छीन ली है। वैसी स्थिति मे "कान्ति-प्राप्ति वैर का फल होगा" सभावना करने पर फलोत्प्रेक्षा हो जायेगी। चन्द्रमा के आते ही स्वाभाविक रूप से कमल सिकुड़ जाता है। इस बात (वस्तु) के आधार पर चन्द्रमा और कमल का वैर दिखलाया गया है, अतः "वस्तूत्प्रेक्षा" का भी यह उदाहरण हो सकता है।

उत्प्रेक्षा-व्यञ्जक "नून" शब्द आने से यहाँ अगूढा उत्प्रेक्षा है; उसे हटा देने पर गूढा हो जायेगी।

"इव", "उपमा" और "उत्प्रेक्षा" दोनों का ही व्यञ्जक है। जहाँ "समान" अर्थ निकले वहाँ "उपमा" और जहाँ "मानो" अर्थ निकले वहाँ "उत्प्रेक्षा" होती है। उपमा में उपमान के प्रसिद्ध होने से समर्थन के लिये किसी विशेषण, विशेषण-उपवाक्य या वाक्य की जरूरत नही होती। इसके विपरीत, "उत्प्रेक्षा" के कवि-कल्पित होने से विशेषणादि की आवश्यकता होती है। "मुखम् चन्द्रः

इव" उपमा का उदाहरण है, क्योंकि इसमें संभावना के लिये अपनी ओर से कुछ नही जोड़ा गया है। इसके विपरीत "मुखम् अपरः चन्द्रः इव" कहने पर उत्प्रेक्षा होगी क्योकि "अपर" विशेषण कवि-कल्पना-जन्य है और संभावना प्रकट करता है।

"उत्प्रेक्षा" और "उपमा" का अन्तर ५।११ की टीका मे दिया गया है।

"उत्प्रेक्षा" मे उपमेय मे उपमान की संभावना की जाती है पर "रूपक" मे उपमेय को उपमान ढक लेता है।

"उत्प्रेक्षा" और "अतिशयोक्ति" के मध्य यह अन्तर है कि "उत्प्रेक्षा" मे उपमेय और उपमान दोनो दिये होते है और पहले मे दूसरे की संभावना की जाती है जब कि "अतिशयोक्ति" मे उपमान उपमेय को निगल जाता है और स्वयं दोनो का काम करता है; उसमे उपमेय का प्रयोग ही नही होता।

"उत्प्रेक्षा" मे उपमेय को देखकर उसकी प्रतीति की ओर ध्यान आकृष्ट न होकर उपमान की प्रतीति की ओर होता है, जब कि "सन्देह" मे दोनो की ओर आकृष्ट होता है।

"अपह्नुति" मे निषेध होता है, जो "उत्प्रेक्षा" मे नही होता ॥ २९ ॥]

इवादिकपदाभावे गूढोत्प्रेक्षां प्रचक्षते।
त्वत्कीर्तिर्विभ्रमभ्रान्ता विवेश स्वर्गनिम्नगाम् ॥३०॥

इवादिकेति। इवादिकस्य पदस्य। अभावे राहित्ये। (ताम् उत्प्रेक्षा) **गूढोत्प्रेक्षाम्** (नाम अर्थालङ्कारम्)। **प्रचक्षते** कथयन्ति। बुधाः इत्यर्थः।

(उदाहरति यथा) **त्वत्कीर्तिः** तव कीर्तिः यशः। **विभ्रमभ्रान्ता विभ्रमेण** विचरणेन भ्रान्ता क्लान्ता। **स्वर्गनिम्नगाम् स्वर्गस्य** त्रिविष्टपस्य **निम्नगाम्** नदीम्। भागीरथीम् आकाशगङ्गाम् वा। **विवेश** प्रविष्टा ॥ ३० ॥

इव आदि पदों के न होने पर गूढोत्प्रेक्षा कही जाती है।

(उदाहरण :-) आपका यश, विचरण से थककर गंगा या आकाश-गङ्गा में घुस गया ॥ ३० ॥

[भाव यह है कि आपकी कीर्ति स्वर्ग-लोक मे फैल गई है। जिस प्रकार थका आदमी नहाकर थकावट दूर करता है, उसी प्रकार चारो ओर विचरण (फैलने) से थककर आपकी कीर्ति ने आकाश-गङ्गा या गङ्गा में प्रवेश किया है। स्वर्ग-निम्नगा मे प्रवेश का कारण थकावट होने की संभावना की गई है—मानो थकावट के कारण—अतः यहाँ ("हेतूत्प्रेक्षा" या) "उत्प्रेक्षा" है। "मानो" के लिये "इव" पद न होने से "उत्प्रेक्षा" गूढ (छिपी हुई) हो गई है। कीर्ति, प्रवेश नहीं कर सकती पर प्रवेश करने का वर्णन कर प्रवेश-शक्ति की संभावना की गई है अतः "वस्तूत्प्रेक्षा" हुई। स्वर्ग-निम्नगा-प्रवेश का फल थकावट दूर करना हो सकता है; इस सभावना के कारण फलोत्प्रेक्षा भी है ॥३०॥]

स्यात्स्मृति - भ्रान्तिसन्देहैस्तदेवालङ्कृतित्रयम्।
पङ्कजं पश्यततस्याः मुखं मे गाहते मनः ॥ ३१ ॥
अयं प्रमत्तमधुपस्त्वन्मुखं वेद पङ्कजम्।
पङ्कजं वा सुधांशुर्वेत्यस्माकं तु न निर्णयः ॥३२॥

स्यादिति। **स्मृत्या** स्मरणेन च। **भ्रान्त्या** भ्रमेण च। **सन्देहेन** विचिकित्सया च। **तत्** तेषा नाम्ना। **एव**। **अलङ्कृतीनां** अलङ्काराणाम्। **त्रयम्** त्रयी (भवति)। स्मृतिभ्रान्तिसन्देहनामानः अर्थालङ्काराः इत्यर्थः।

(स्मृत्यलङ्कारम् उदाहरति यथा) **तस्याः** नायिकायाः। **मुखं** वदनम्। **पङ्कजं** कमलम्। **पश्यतः** अवलोकयतः। **मे** मम। **मनः** मानसाभ्यन्तरं। **गाहते** प्रविशति ॥ ३१ ॥

अयमिति। **अयम्** असौ। **प्रमत्तः** उन्मत्तः च असौ **मधुपः** भ्रमरः च। **त्वन्मुखं** तव आननम्। पङ्कजम् कमलम् (इति)। वेद जज्ञे। भ्रान्त्यलङ्कारस्य उदाहरणमिदम्।

पङ्कजं कमलं वा। **सुधांशुः** चन्द्रः वा। इति विषये। **निर्णयः** निश्चयः। **अस्माकम्**। **तु**। **न** ॥ ३२ ॥

स्मरण, भ्रम तथा संदेह होने पर वही (इन तीन नामो वाले) तीन अलंकार होते है।

("स्मृति" अलंकार का उदाहरण :–) उसका मुख, कमल देखते हुये मेरे मन मे प्रवेश कर (याद आ) रहा है ।। ३२ ।।

("भ्रान्ति" अलंकार का उदाहरण :–) इस मतवाले भौरे ने तुम्हारे मुख को कमल समझा।

("संदेह" अलंकार का उदाहरण –) "कमल है या चन्द्रमा" इसके बारे मे हम निर्णय नही कर पा रहे है ।। ३१ ।।

["स्मृति"-अलंकार के उदाहरण मे कमल को देखकर प्रिया के मुख का स्मरण हो आया है, अत. "स्मृति" अलंकार है। यह स्मरण सदृशता होने पर होता है, ऐसा पंडित-राज जगन्नाथ मानते है पर विश्वनाथ सदृशता के साथ-साथ असदृशता या विपरीतता मे भी "स्मृति" अलंकार सभव मानते हैं। इसका समर्थन यो किया जा सकता है कि सुख के बाद दुख या दुख के बाद सुख आने पर कभी-कभी अपने पुराने दिन याद आने लगते है । यों सामान्यतः सदृश वस्तु देखकर ही स्मरण होता है। स्मरण पूर्व जन्मों के वृत्तान्त का भी हो सकता है। उपमेय को देखकर उपमान का स्मरण हो आना और उपमान को देखकर उपमेय का स्मरण हो आना ये दो प्रकार की स्थितिया होने से दो भेद किये जा सकते है। ऊपर उदाहरण मे उपमान कमल को देखकर उपमेय मुख का स्मरण हो आने से दूसरा प्रकार है।

रुद्रट ने इस अलंकार का वर्णन सर्व-प्रथम किया है, रुय्यक ने इसका दूसरा नाम "काव्य-लिङ्ग" बताया है, उद्भट ने इसे "काव्य-लिङ्ग" के नाम से माना है तथा भामह दण्डी और वामन ने इसकी चर्चा ही नही की है। इसका प्रचलित नाम "स्मरण" अलंकार है। "स्मृतिमान्" नाम भी देखने में आता है।

"भ्रान्ति" अन्यथा ज्ञान को कहते है। कुछ का कुछ समझ लेना भ्रान्ति है। अलंकार होने से उक्ति मे चमत्कार आवश्यक है। उपमेय का ज्ञान इस प्रकार उपमान के ज्ञान से दब जाता है। सदृशता की स्थिति आने पर भ्रान्ति होती है। कवि-कल्पना से इस अलंकार की सृष्टि नये-नये रूप मे हो सकती है।

रुद्रट ने सबसे पहले इसका उल्लेख किया है, दण्डी ने इसका उल्लेख नही किया है पर "मोहोपमा" -नामक अलंकार दिया है जो "भ्रान्ति" से मिलता-

जुलता है, तथा भामह, उद्भट और वामन ने इसकी चर्चा ही नही की है। इसका दूसरा नाम "भ्रान्तिमान्" है।

"उत्प्रेक्षा" मे संभावना होने से निश्चित ज्ञान नही होता जब कि "भ्रान्ति" मे निश्चित ज्ञान होता है, भले ही वह उलटा हो।

"भ्रान्ति" मे भ्रम स्पष्ट होता है जब कि "अतिशयोक्ति" मे भ्रम-वश अप्रस्तुत (उपमान) का वर्णन नही होता।

"भ्रान्ति" मे अप्रस्तुत (उपमान) का ज्ञान होता है जब कि "रूपक" मे प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनो का।

"भ्रान्ति" मे भ्रम के कारण किसी का ज्ञान नही होता जब कि "मीलित" मे दो वस्तुओ के सदृश होने पर एक परिलक्षित नही हो पाती।

कोटि-द्वय-अवलम्बी ज्ञान को सन्देह कहते है। उदाहरण मे कमल और चन्द्रमा दो कोटियाँ (पक्ष) है और दोनो का ज्ञान हो रहा है; निश्चय नही हो पा रहा है कि कौन ज्ञान ठीक है और कौन गलत, या दोनो ही ठीक है।

समान वस्तुओं के होने पर ही "सन्देह" हो सकता है।

इसके तीन भेद होते है:—(१) शुद्ध जिसमे सामान्य रूप से संशय दिया हो, (२) निश्चय-गर्भ जिसमे मध्य मे निश्चय पर आरंभ और अत मे सशय हो तथा (३) निश्चयान्त जिसमे आरंभ मे संदेह और अंत मे निश्चय हो।

भामह, उद्भट, मम्मट, अप्पय्य दीक्षित और पंडित-राज जगन्नाथ इसे "ससन्देह" कहते है जब कि दण्डी और रुद्रट इसे क्रमशः "संशयोपमा" तथा "संशय" कहते हैं ॥ ३२ ॥]

मीलितं बहुसादृश्याद् भेदवच्चेन्न लक्ष्यते।
रसो नालक्षि लाक्षायाश्चरणे सहजारुणे ॥३३॥

मीलितमिति। बहु अत्यधिकं च तत् **सादृश्यं** समानता च **बहुसादृश्यं।** तस्मात्। **भेदवत्** पृथक्ता-युक्तं (वस्तु)। **न। लक्ष्यते** दृश्यते। **चेत्** यदि (तदा)। **मीलितम्** (नाम अर्थालङ्कारः भवति)।

(उदाहरति यथा) **सहजं** स्वाभाविकं च तत् **अरुणं** रक्तं च

सहजारुणम् । तस्मिन् **सहजारुणे** । **चरणे** पदे । **लाक्षायाः** अलक्तकस्य । **रसः** रञ्जनम् । **न** । **अलक्षि** दृष्टः ॥ ३३ ॥

यदि भिन्न वस्तु (भी) अत्यन्त साम्य के कारण दिखाई नही पडती तो "मीलित" (-नामक अर्थालंकार) होता है ।

(उदाहरणः–) महावर, स्वाभाविक रूप से लाल पैर पर नहीं दिखा ॥ ३३ ॥

[भेद का निश्चय न हो पाना "मीलित" है । "मीलित" का शाब्दिक अर्थ विलीनता है । चरण स्वाभाविक रूप से लाल है अतः महावर का रंग उनमे विलीन हो गया । उपमेय मे उपमान की विलीनता होने पर यह अलंकार होता है ।

चरण की लालिमा उपमेय और लाक्षा-रस की लालिमा उपमान है । उपमेय के प्रबल होने से उपमान का विलय हो गया ।

रुद्रट ने इसका सबसे पहले वर्णन किया है, भामह, दण्डी, उद्भट और वामन ने इस अलंकार की चर्चा नही की है तथा रुय्यक (अलकार-सर्वस्व) ने "निमीलित" नाम लिखा है ।

"मीलित" और "व्याजोक्ति"—दोनो—मे कोई वस्तु छिप जाती है पर पहले मे समान रंग के कारण छिपती है और दूसरे मे मिथ्या के द्वारा केवल कारण छिपाया जाता है ।

"मीलित" और "अपह्नुति"—दोनो—मे गोपन होता है, पर पहले में रंग समान होने के कारण गोपन स्वाभाविक होता है और दूसरे मे प्रयत्न-पूर्वक होने से कृत्रिम । "मीलित" में उपमेय की उत्कृष्टता दिखाई जाती है जब कि "अपह्नुति" मे समानता-मात्र ।

"मीलित" तथा "सामान्य" अलंकार लगभग एक से है । पहले में उपमेय मे उपमान के विलीन होने से एक उपमेय ही परिलक्षित होता है जब कि दूसरे में उपमेय और उपमान—दोनो—स्पष्ट दिखते हैं पर भेद का पता नहीं चलता । इसके अतिरिक्त "मीलित" में उपमेय उपमान से उत्कृष्टतर सिद्ध होता है जब कि "सामान्य" में दोनो समान होते हैं । "मीलित" में भेद वाली वस्तु या व्यक्ति

(उपमान) का पता नहीं चलता जब कि "सामान्य" मे भेद (विभेदक धर्म) ही नही दिखता ॥ ३३ ॥]

सामान्यं यदि सादृश्याद् भेद एव न लक्ष्यते ।
पद्माकरप्रविष्टानां मुखं नालक्षि सुभ्रुवाम् ॥३४॥

सामान्यमिति। सादृश्यात् साम्यात्। **यदि** चेत्। **भेदः** विभेदको धर्मः। **न**। **एव**। **लक्ष्यते** दृश्यते (तर्हि)। **सामान्यम्** (नाम अर्थालङ्कारः भवति)।

(उदाहरति यथा) **पद्मानां** कमलानाम्। **आकरः** उत्पत्तिस्थानम् तडागः। अत्र कमलपूर्णः तडागः विवक्षितः। तत्र **प्रविष्टाः** स्नानार्थं तन्मध्ये स्थिताः तासाम्। **सुभ्रुवाम्** शोभने भ्रुवौ यासां तासां सुन्दरीणाम्। **मुखं** वदनम्। **न**। **अलक्षि** दृष्टम् ॥३४॥

अगर समता के कारण भेद ही नही दिखाई पडता तो "सामान्य" (-नामक अर्थालंकार) होता है।

(उदाहरण.—) (कमल-पूर्ण) तालाब मे घुसी हुई सुन्दरियों का मुख नही दिखा ॥३४॥

[सादृश्य की अधिकता से उपमेय और उपमान के अलग-अलग दिखने पर भी दोनो में क्या भिन्नता है, इसका पता न लगना "सामान्य" अलंकार है। सामान्य का अर्थ "समान होना" है जिससे परिभाषा अपने आप निकल सकती है।

उदाहरण के अनुसार तालाब के कमलो के बीच सुन्दरियों के मुखों के अलग-अलग दिखने पर भी भेद का पता न चल पाया, केवल संख्या मे वृद्धि प्रतीत हुई ॥३४॥]

हेतोः कुतोऽपि वैशिष्ट्यात् स्फूर्तिरुन्मीलितं मतम् ।
लक्षितान्युदिते चन्द्रे पद्मानि च मुखानि च ॥३५॥

हेतोरिति। कुतः कस्मात्। **अपि हेतोः। वैशिष्ट्यात्** विलक्षणत्वात्। **स्फूर्तिः** भेदज्ञानम्। **उन्मीलितम्** (नाम अर्थालङ्कारः)। **मतं** कथितम्। प्राज्ञैः इति शेषः।

(उदाहरति यथा) **चन्द्रे** शशिनि । उदिते आविर्भूते । **पद्मानि** कमलानि । **च** । **मुखानि** वदनानि । **च** । **लक्षितानि** भिन्नत्वेन दृष्टानि ॥३५॥

किसी विशेष हेतु से जहाँ (उपमेय और उपमान का) अन्तर (या उपमेय की उपमान की अपेक्षा श्रेष्ठता) का पता चल जाता है, वहाँ **"उन्मीलित"** (-नामक अर्थालंकार) होता है।

(उदाहरणः —) चन्द्रमा के उदित होने पर कमल और मुख (अलग-अलग) दिख (प्रगट हो) गये ॥३५॥

"उन्मीलित" का अर्थ उन्मीलन है जो विलीनता का उलटा है। उदाहरण मे चन्द्रोदय विशेष हेतु है जिससे पद्म और मुख जो अलग-अलग होते हुये भी समान ("सामान्य" अलकार ५।३४ द्रष्टव्य) दिखते थे, अब अलग-अलग दिखने लगे। चन्द्रोदय के कारण कमल सिकुड गये पर मुख नही जिससे दोनो मे फर्क मालूम हो गया।

इस अलंकार मे उपमान की अपेक्षा उपमेय की श्रेष्ठता दिखाई जाती है, जैसा इस उदाहरण से स्पष्ट है जिसमे उपमेय मुख की उपमान कमल की अपेक्षा श्रेष्ठता दिखाई गई है क्योकि मुख सदा विकसित रहता है और कमल केवल सूर्य के रहते।

उदाहरण के अनुसार यह "सामान्य" अलकार का विलोम है पर परिभाषा के अनुसार यह "मीलित" और "सामान्य" दोनो का विलोम है।

यहाँ "वैशिष्ट्यात्" का अर्थ "उपमेय की विशिष्टता होने पर" भी लग सकता है।

"हेतु" शब्द, विशेष परिस्थिति या सयोग के लिये आता है।

कुवलयानन्द में इस अलंकार के स्थान पर दो अलंकार "उन्मीलित" और "विशेषक" बताये गये है और उक्त उदाहरण "विशेषक" अलंकार का दिया गया है। दोनो मे नाम-मात्र का अन्तर होता है ॥३५॥]

अनुमानं च कार्यादेः कारणाद्यवधारणम् ।
अस्ति किञ्चिद्यदनया मां विलोक्य स्मितं मनाक् ॥३६॥

अनुमानमिति। **कार्यादेः**निमित्तात् च । **कारणादेः**। **अवधारणं** ज्ञानम्। **अनुमानम्** (नाम अर्थालङ्कारः)।

(उदाहरति) **किञ्चित्** किमपि कारणम्। **अस्ति** वर्त्तते। **यत्** येन कारणेन। **अनया** नायिकया। **मां** नायकम्। **विलोक्य** दृष्ट्वा **मनाक्** ईषत्। **स्मितं** मन्दहासः विहितः ॥३६॥

और कार्य आदि से कारण आदि का निश्चय "अनुमान" है।

(उदाहरण :—) कोई बात है जो वह मुझे देखकर जरा मुस्कराई ॥३६॥

[कार्य से कारण की प्रतीति, जिस प्रकार अनुमान का लक्षण है, उसी प्रकार "अनुमान" अलंकार का भी।

उदाहरण मे "मुस्कराई" कार्य है "जिसका कारण कुछ अवश्य होना चाहिये" कहकर अनुमान लगाया जा रहा है। यह "कुछ" हार्दिक प्रेम का द्योतक है।

"अनुमीयते इद कार्यादि इति अनुमानम्" व्युत्पत्ति से "अनुमान" शब्द परिभाषा का बोध कराने मे समर्थ है।

रुद्रट ने यह अलकार चलाया। भामह, दण्डी, उद्भट और वामन ने इसका वर्णन नही किया है ॥३६॥]

अर्थापत्तिः स्वयं सिध्येत् पदार्थान्तरवर्णनम्।
स जितस्त्वन्मुखेनेन्दुः का वार्त्ता सरसीरुहाम् ॥३७॥

अर्थापत्तिरिति। (यत्र) अन्यः पदार्थः वस्तु **पदार्थान्तरम्**। तस्य **वर्णनम्** निरूपणम् **पदार्थान्तरवर्णनम्**। **स्वयं** स्वतः। **सिध्येत्** आविर्भवेत् (तत्र)। **अर्थापत्तिः** (नाम अर्थालङ्कारः)।

(उदाहरति) **सः** प्रसिद्धः। **इन्दुः** चन्द्रः। **त्वन्मुखेन** तव **मुखेन** वदनेन। **जितः** पराजितः। **सरसीरुहां** कमलानाम् (तु)। **का** का इव। **वार्त्ता** कथा (स्यात्) ॥३७॥

जहाँ दूसरे पदार्थ का वर्णन अपने आप हो जाय वहाँ "अर्थापत्ति" (-नामक अर्थालंकार) होती है।

(उदाहरण :–) वह (प्रसिद्ध) चन्द्रमा तुम्हारे मुख-कमल से हार गया है; कमलो की (तो) बात (ही) क्या ॥ ३७ ॥

["अर्थ" का अर्थ वस्तु और "आपत्ति" का अर्थ आगमन है। जहाँ अपने आप कोई बात आ जाय, वहाँ "अर्थापत्ति" होती है। नाम करीब-करीब अन्वर्थ है।

यहाँ के उदाहरण मे "कमल तो बुरी तरह पराजित हुये (जब कमल-विजेता चन्द्र तक हार गया)" इस अन्य पदार्थ का वर्णन, एक पदार्थ "वह चन्द्रमा तुम्हारे मुख से पराजित हो गया" का वणन करने पर अपने आप सिद्ध हो गया, अतः "अर्थापत्ति" है। जब सबसे सुन्दर कमल को मलिन कर देने वाला चन्द्रमा तक हार गया तो कमल तो हार ही जायेंगे। इस प्रकार "अर्थापत्ति" होती है। इसी को कैमुत्य-न्याय, कैमुतिक-न्याय, दण्डापूपिका-न्याय या दण्डापूप-न्याय से सिद्ध होना कहा जाताहै ॥ ३७ ॥]

स्यात् काव्यलिङ्गं वागर्थो नूतनार्थसमर्पकः *।
जितोऽसि मन्द कन्दर्प मच्चित्तेऽस्ति त्रिलोचनः ॥३८॥

स्यादिति। **नूतनः** नवः च सः **अर्थः** वाच्यः च। तस्य **समर्थकः** बोधकः। **वाचः** वाण्याः पदवाक्यात्मिकायाः **अर्थः** वाच्यः पदार्थः वाक्यार्थः च। **काव्यलिङ्गम्** (नाम अर्थालङ्कारः)। **स्यात्** भवेत्।

(उदाहरति) **मन्द** मूर्ख। **कन्दर्प** मदन। **जितः** पराजितः। मया इति शेषः। **असि** (यतः)। मम **चित्ते** मनसि **मच्चित्ते**। त्रीणि **लोचनानि** नयनानि यस्य सः **त्रिलोचनः** रुद्रः। **अस्ति** विद्यते ॥ ३८ ॥

नये अर्थ का बोध कराने वाला (पद या वाक्य का) अर्थ "काव्य-लिङ्ग" (-नामक अर्थालंकार) होता है।

(उदाहरण :–) अरे मूर्ख काम, तुम्हें मैंने जीत लिया है; मेरे हृदय में रुद्र हैं ॥ ३८ ॥

---

* पाठान्तर—समर्थकः।

[अलंकार का नाम "काव्य-लिङ्ग" है जो अन्वर्थ है; "काव्यस्य लिङ्गं हेतुः" व्युत्पत्ति के अनुसार इसका अर्थ है "काव्य का हेतु"।

उदाहरण में "मेरे हृदय मे रुद्र है" वाक्य एक नूतन अर्थ देता है कि कामदेव इसके अन्दर रुद्र के तीसरे नेत्र से भस्म हो जायेगा।

अलंकार-सर्वस्व और साहित्य-दर्पण मे इसका अधिक अच्छा लक्षण दिया गया है :—"हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गम्"। (वाक्यार्थ या पदार्थ के होने मे हेतु आने पर "काव्य-लिङ्ग" होता है।)

जिस हेतु से साध्य का अनुमान होता है, उसे नैयायिक लिंग कहते है। साध्य वह वस्तु है जिसकी सिद्धि अनुमान आदि प्रमाणो से की जाती है। उदाहरण मे "जितोऽसि मन्द कन्दर्प" वाक्य का समर्थन "मच्चित्तेऽस्ति त्रिलोचनः" वाक्य से किया गया है।

"काव्य-लिङ्ग में "काव्य" शब्द इस बात का द्योतक है कि तर्क-शास्त्र के "लिङ्ग" की अपेक्षा इस लिङ्ग मे विलक्षणता है; यह "अलंकार-सर्वस्व" में स्पष्ट किया गया है:—

तर्कवैलक्षण्यार्थं काव्यग्रहणम्।

इसका अर्थ यह है कि न्याय शास्त्र में साध्य की सिद्धि के लिये व्याप्ति, पक्ष-धर्मता आदि की जो अनिवार्यता बताई गई है, उसकी आवश्यकता "काव्य-लिंग" मे नहीं होती; यह कुवलयानन्द मे स्पष्ट किया गया है :—

व्याप्तिधर्मतादिसापेक्षनैयायिकाभिमतव्यावर्त्तनाय काव्यविशेषणम्।

"काव्य-लिंग" मे हेतु को पञ्चमी, तृतीया, हि, यतः आदि के द्वारा व्यक्त नही किया जाता।

"अनुमान" का हेतु ज्ञापक होता है (मुस्कान, प्रेम का सूचक या ज्ञापक है) जब कि "काव्य-लिंग" में हेतु निष्पादक या साधक (सिद्ध करने वाला) होता है ("कामदेव जीत लिया गया है" वाक्य को सिद्ध करने के लिये हृदय मे रुद्र का होना बताया गया है)। यही दोनों का अन्तर है। इसके अतिरिक्त "अनुमान" में यत् आदि के द्वारा कारण बताया जाता है जब कि "काव्य-लिंग" मे ऐसा नहीं होता।

"अर्थान्तर-न्यास" मे हेतु दिया होता है पर वह सिद्ध करने वाला न होकर समर्थन करने वाला होता है जब कि "काव्य-लिंग" मे हेतु, निष्पादक होता है; जैसा ऊपर बताया जा चुका है।

"काव्य-लिंग" मे पदार्थ या वाक्यार्थ ही हेतु होते हैं जब कि "परिकर" मे विशेषण-रूप पदार्थ या वाक्यार्थ की क्षमता से हेतू-भूत पदार्थ या वाक्यार्थ व्यञ्जित होता है ॥ २८ ॥]

अलङ्कारः परिकरः साभिप्राये विशेषणे।
सुधांशुकलितोत्तंसस्तापं हरतु वः शिवः ॥ ३९ ॥

अलङ्कार इति। विशेषणे भेदके। साभिप्राये अभिप्रायेण विवक्षितेन सह साभिप्रायं तस्मिन् (सति)। परिकरः (नाम)। अलङ्कारः अर्थालङ्कारः (भवति)।

(उदाहरति) सुधांशुना चन्द्रेण कलितः कृतः उत्तंसः शिरोभूषणं येन स. सुधांशुकलितोत्तंसः। शिवः शंकरः। वः युष्माकम्। तापं सन्तापम्। हरतु दूरीकरोतु॥ ३ ॥

विशेषण के अभिप्राय-युक्त (सार्थक) होने पर "परिकर" (नामक) अलंकार होता है।

(उदाहरण :—) जिन्होने चन्द्रमा से शिरो-भूषण बनाया है, वे शंकर तुम लोगों का ताप हर लें ॥ ३९ ॥

[साभिप्राय का अर्थ है प्रसंग मे उपकारक। उदाहरण मे ताप को दूर करने के लिये शिव का विशेषण "चन्द्र के शिरोलंकार से युक्त" दे देने से शिव की क्षमता निर्विवाद हो जाती है। चन्द्र, अमृतमय होने से शीतल अतः ताप का नाशक है।

"परिकरोति प्रकृतार्थमुपकरोतीति परिकरः। सः अस्मिन्नस्तीति "परिकरः" इस व्युत्पत्ति से "परिकर" शब्द का अर्थ "प्रासंगिक अर्थ के उपकारक विशेषण से युक्त" लेने पर नाम से परिभाषा का भी बोध हो सकता है।

इस अलंकार मे व्यंग्य वाच्यार्थ का परिकर (उपकारक) होता है, अतः यह ध्वनि नहीं है।

"हेतु" अलंकार मे विशेषण, बोधक होता है और "परिकर" मे वही व्यञ्जक, यही दोनो का अन्तर है।

"परिकराकुर" में विशेष्य साभिप्राय होता है जब कि "परिकर" मे विशेषण ।

मम्मट, विश्वनाथ और पंडितराज जगन्नाथ अनेक साभिप्राय विशेषणों के रहने पर ही परिकर मानते है ।। ३९ ।।]

साभिप्राये विशेष्ये तु भवेत् परिकराङ्कुरः ।
चतुर्णां पुरुपार्थानां दाता देवश्चतुर्भुजः ।।४० ।।

साभिप्राय इति। विशेष्ये वर्णनीये तु एतद्विपरीतम् साभिप्राये अभिप्रायेण अर्थेन सह वर्त्तमाने (सति)। परिकराङ्कुरः (नाम अलङ्कारः)। भवेत् स्यात् ।

(उदाहरति यथा) देवः भगवान् । चतुर्भुजः चत्वारो भुजाः यस्य सः विष्णुः । चतुर्णाम् । पुरुपार्थानां धर्मार्थकाममोक्षाणाम् । दाता प्रदाता (अस्ति) ।। ४० ।।

इसके विपरीत विशेष्य के अभिप्राय-युक्त होने पर "परिकराङ्कुर" (-नामक अर्थालङ्कार) होता है ।

(उदाहरण :-) भगवान् चतुर्भुज (चार भुजाओ वाले=विष्णु) चार वर्गों को देने वाले है ।। ४० ।।

[विशेषण के स्थान पर विशेष्य के ही प्रासंगिक अर्थ के उपकारक होने पर "परिकराङ्कुर" अलङ्कार होता है । उदाहरण मे "चतुर्भुज" विष्णु के लिये रूढ होने से विशेषण न होकर विशेष्य है पर "चार हाथ वाला" यौगिक अर्थ होने से चार पुरुषार्थों मे से प्रत्येक को एक-एक हाथ से अत्यंत शीघ्र देने की सामर्थ्य उनमे प्रतीत होती है जो प्रस्तुत अर्थ की उपकारक है, अतः "परिकराङ्कुर" अलङ्कार है । पर्याय-वाची शब्दों में से प्रासंगिक अर्थ के उपकारक शब्द के चयन से यह अलङ्कार आता है ।

इस उदाहरण मे यदि चतुर्भुज को विशेषण और देव को विशेष्य मान लें तो "परिकर" हो जायेगा ।

यह अलङ्कार विद्याधर और अप्पय्य दीक्षित के द्वारा भी मान्य है; अन्य आचार्य इसे "परिकर" मे अन्तर्भूत कर देते है।

५।३६ मे "परिकर" और "परिकराङ्कुर" के मध्य अन्तर दिखाया गया है ।।४०।।]

अक्रमातिशयोक्तिश्चेद् युगपत्कार्यकारणे ।
आलिङ्गन्ति समं देव ज्यां शराश्च पराश्च ते ।। ४१ ।।

अक्रमेति । कार्यं च कारणं च **कार्यकारणे** । **युगपत्** एककालम् । **चेत्** यदि (वर्ण्येते) (तदा) । **अक्रमातिशयोक्तिः** (नाम अर्थालङ्कारः भवति) ।

(उदाहरति) (हे) **देव** महाराज । **ते** तव । **शराः** बाणाः **च** । **पराः** शत्रवः । **च** । **ज्याम्** धनुर्गुणम् शरपक्षे पृथिवी च शत्रुपक्षे । **समम्** युगपत् एव । **आलिङ्गन्ति** आश्रयन्ति ।। ४० ।।

यदि कार्य और कारण एक समय मे (हो) हों तो "अक्रमातिशयोक्ति" (नामक अर्थालङ्कार) होतो है ।

(उदाहरण :-) हे महाराज; आप के बाण और दुश्मन एक साथ ज्या (क्रमशः धनुष की डोरी और पृथ्वी) का आलिङ्गन करते है ।। ४१ ।।

["अतिशयिता प्रसिद्धिम् अतिक्रान्ता च सा उक्तिः च अतिशयोक्ति." व्युत्पत्ति के अनुसार प्रसिद्धि का उल्लंघन करने वालो उक्ति "अतिशयोक्ति" है। इस प्रकार नाम सार्थक है। प्रसिद्धि का अर्थ सोमित है। कवि-प्रसिद्धि का उल्लंघन करने पर दोष हो जायेगा; केवल लोक या शास्त्र की उन प्रसिद्धियों का ही उल्लंघन हो सकता है जो परम्परा से कवियो द्वारा उल्लंघित होती चली आ रही हैं।

यह प्रसिद्ध है कि कारण के पश्चात् ही कार्य होता है किन्तु यदि कार्य और कारण एक साथ दिखाये जायँ तो यह "अक्रमातिशयोक्ति" अलंकार होगा। उदाहरण मे "बाण का धनुष की डोरी का स्पर्श करना" कारण है और "शत्रुओं का भूमि पर गिरना" कार्य है पर दोनो को साथ-साथ दिखाकर चामत्कारिक रूप से हाथ की फुर्ती दिखाई गई है।

"अक्रमातिशयोक्ति" में अक्रम पद देकर यह इशारा कर दिया गया है कि इसमें क्रम का अभाव है। यह क्रमाभाव कार्य और कारण में उलट-फेर है।

कुवलयानन्द मे "सापह्नवातिशयोक्ति" तथा "असम्बन्धातिशयोक्ति" भेद अधिक है; शेष ६ भेद भी आये है।

जब उपमान, उपमेय को निगल जाता है तब "अतिशयोक्ति" होती है; जैसे:—"चन्द्र को देखो"। इस उदाहरण मे मुँह की ओर इशारा कर उसे चन्द्र कह दिया गया है। इस प्रकार उपमेय को उपमान निगल गया है।

इस ग्रन्थ मे "अतिशयोक्ति" का सामान्य लक्षण नही दिया गया है।

पण्डित-राज जगन्नाथ ने अतिशय की परिभाषा "विषयी (उपमान) के द्वारा विषय (उपमेय) का निगरण (निगला जाना)" दी है और अतिशय की उक्ति को "अतिशयोक्ति" माना है:—

विषयिणा विषयस्य निगरणम् अतिशयः। तस्योक्तिरतिशयोक्तिः।

दण्डी ने "अतिशयोक्ति" को अलङ्कारोत्तमा विशेषण से विभूषित किया है। कवि-वर्णन तभी चामत्कारिक होता है जब किसी न किसी रूप मे उसमें "अतिशयोक्ति" का समावेश किया जाता है। सारा काव्य-भवन "अतिशयोक्ति" की नीव पर खड़ा है। "अतिशयोक्ति" हटा दे तो सामान्य भाषा और काव्य मे कोई अन्तर न रह जाय। विद्यानाथ के अनुसार "अतिशयोक्ति" का जीवन कवि की प्रौढ उक्ति है। वास्तव मे अतिशयोक्ति कवि-कल्पना के अतिरिक्त कुछ नहीं है। जहाँ उपमा की प्रशंसा उसके अनेक अलंकारों का मूल होने के कारण की गई है, वहाँ अतिशयोक्ति को काव्य का सर्वस्व कहा गया है। नीचे "अतिशयोक्ति" की प्रशंसा मे मुख्य कवियो और आलङ्कारिकों की उक्तियाँ दी जा रही है:—

सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना॥ (काव्यालङ्कार २।८५)

अलङ्कारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम्।
वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम्॥ (काव्यादर्श २।२२०)

सर्वत्रैवंविधविषयेऽतिशयोक्तिरेवं प्राणत्वेनावतिष्ठते। ता विना प्रायेणा-लङ्कारत्वायोगात्।

"अतिशयोक्ति" और "रूपक" मे भेद ५।१८ मे तथा "अतिशयोक्ति"

और "उत्प्रेक्षा" मे भेद ५।२९ में देखा जा सकता है ॥ ४१ ॥]

अत्यन्तातिशयोक्तिस्तत्पौर्वापर्यव्यतिक्रमे ।
अग्रे मानो गतः पश्चादनुनीता प्रियेण सा ॥ ४२ ॥

अत्यन्तेति। तयोः कार्यकारणयोः। पूर्वं च अपरं च पूर्वापरे। तयोः भावः पौर्वापर्यम् तस्य व्यतिक्रमः अतिलङ्घनम् तस्मिन् पौर्वापर्य-व्यतिक्रमे। सति। अत्यन्तातिशयोक्तिः (नाम अर्थालङ्कारः भवति)।

(उदाहरति यथा) अग्रे पूर्वम्। मानः मानिन्याः कोपः नायकं प्रति। गतः नष्टः। पश्चात् तदनन्तरम्। सा नायिका। प्रियेण प्रियतमेन। अनुनीता प्रार्थिता। अत्र मानापनोदनकार्यस्य कारणम् अनुनयः कारण च कार्यस्य पश्चात् वर्णितम् अतः कार्यकारणयोः, पौर्वापर्यव्यतिक्रमेण अत्यन्तातिशयोक्तिः ॥४२॥

उन (कार्य और कारण)-के क्रम के उलट जाने पर "अत्यन्तातिशयोक्ति" (-नामक अर्थालंकार) होती है।

(उदाहरण:—) पहले मान चला गया, उसके बाद प्रिय ने उसे मनाया ॥४२॥

[कारण सदा कार्य के पहले होता है, किन्तु कवि शीघ्रता से कार्य होना दिखाने के लिये कारण को कार्य के बाद दिखाते है; ऐसी स्थिति में "अत्यन्तातिशयोक्ति" होती है। कारण का कार्य के बाद होना असंभव होते हुये भी काव्य मे चमत्कारी अर्थ पैदा कर देता है।

उदाहरण मे कारण और कार्य क्रमशः अनुनय और मान-भंग है पर अनुनय पहले नही की गई है; उसके पहले ही मान-भंग हो गया है। यदि कारण बाद मे न दिया जाता तो संयोग से हुआ, ऐसा कहा जा सकता था।

"अक्रमातिशयोक्ति" में क्रम नहीं रहता; कार्य और कारण साथ-साथ आते हैं जब कि "अत्यन्तातिशयोक्ति" मे क्रम रहता है, पर उलटा होता है ॥४२॥]

चपलातिशयोक्तिस्तु कार्ये हेतुप्रसक्तिजे।
यामीति प्रियपृष्टाया वलयोऽभवदूर्मिका ॥४३॥

चपलेति । कार्ये । तु । हेतोः कारणस्य । प्रसक्तिः प्रसङ्गः उल्लेखमात्रं वा । तज्जे तस्याः जाते । सति । चपलाशयोक्तिः (नाम अर्थालङ्कारो भवति) ।

(उदाहरति यथा) यामि गच्छामि किमिति काकुः । प्रियेण वल्लभेन । पृष्टायाः कथितायाः नायिकायाः । ऊर्मिका अङ्गुलीयकम् । वलयः कङ्कणम् । अभवत् अभूत् ॥४३॥

कार्य के, कारण के प्रसंग (या उल्लेख-मात्र) से उत्पन्न हो जाने पर "चपला-तिशयोक्ति" (-नामक अर्थालंकार) होती है ।

(उदाहरणः—) प्रिय के "जाऊँ ?" पूछने पर (प्रिया की) अँगूठी, कंगन बन गई ॥४३॥

[कारण से कार्य होता है; कारण के सन्दर्भ-मात्र या उल्लेख-मात्र के आने से नहीं, पर काव्य मे कारण के सन्दर्भ-मात्र या उल्लेख-मात्र से ही कार्य उत्पन्न हो जाता है । ऐसी स्थिति मे "चपलातिशयोक्ति" होती है ।

उदाहरण मे कार्य अँगूठी का कंगन बन जाना है और इसका कारण प्रिय-प्रवास की सूचना-मात्र है; अभी प्रिय गया नहीं है ।

उदाहरण का भाव है कि भविष्य के विरह की संभावना-मात्रा से नायिका इतनी दुर्बल हो गई है कि अँगूठी ढोली होकर कंगन की तरह बडी पड रही है ।

यह तीसरी अतिशयोक्ति भी कार्य की शीघ्रता के कथन मे चमत्कार लाने के लिये है जिससे कारण की प्रबलता सिद्ध होती है ।

मूल मे आया "तु" व्यर्थ माना जा सकता है अन्यथा उसके कारण अलङ्कार-नाम को परिभाषा के पूर्व देने की अनिवार्यता का प्रसंग आयेगा । परि-भाषा देने की प्रणाली संस्कृत में यह है कि जिस शब्द की परिभाषा दी जाती है वह विधेय या विधेय-स्वरूप उपवाक्य मे आता है, उद्देश्य-रूप मे नहीं ।

इस अलङ्कार मे कारण और कार्य का क्रम ठीक है पर कारण का प्रसंग (उल्लेख) आते ही कार्य हो जाता है; इतनी शीघ्रता है । यही बात इसे अन्य अतिशयोक्तियों से अलग करती है ॥४३॥]

सम्बन्धातिशयोक्तिः स्यात्तदभावेऽपि तद्वचः ।
पश्य सौधाग्रसंसक्तं विभाति विधुमण्डलम् ।।४४।।

सम्बन्धेति । तस्य सम्बन्धस्य । **अभावे** अयोगे । **अपि** । सति । **तस्य** सम्बन्धस्य । **वचः** कथनम् । **सम्बन्धातिशयोक्तिः** (नाम अर्थालङ्कारः) । स्यात् भवेत् ।

(उदाहरति यथा) **पश्य** वीक्षस्व । **विधोः** चन्द्रस्य । **मण्डलम्** बिम्बम् । **सौधस्य** हर्म्यस्य । **अग्रे** उपरितने भागे । **संसक्तं** सम्बद्धम् । **विभाति** शोभते ।।४४।।

उस (सम्बन्ध) के न रहने पर भी उस (सम्बन्ध)-का कथन "संबन्धातिशयोक्ति" (-नामक अर्थालङ्कार) होती है ।

(उदाहरणः—) देखो चन्द्र-बिम्ब कोठी के ऊपरी हिस्से से सटकर शोभित हो रहा है ।।४४।।

[जहाँ सम्बन्ध की गुञ्जायश नहीं है, वहाँ सम्बन्ध कहना गलत होगा, किन्तु काव्य मे चमत्कार के लिये ऐसा वर्णन किया जाता है । ऐसी स्थिति में "सम्बन्धातिशयोक्ति" होती है ।

उदाहरण मे चन्द्र-बिम्ब का कोठी से सटना कहा गया है, जब कि वह उससे बहुत ऊपर आकाश मे है । यहाँ कोठी की उँचाई को चामत्कारिक रूप से अधिक बताने के लिये चन्द्र का सम्बन्ध उसके अग्र भाग से जोड दिया गया है, जब कि सम्बन्ध असंभव है ।

कुवलयानन्द ने इस "अतिशयोक्ति" के दो भेद किये हैं:—

(१) सम्बन्ध न होने पर भी संबद्ध कर देना तथा

(२) सम्बन्ध होने पर भी संबद्ध न करना ।

ऊपर के उदाहरण मे "इव" जोड़ देने पर "उत्प्रेक्षा" प्रतीत होने से "गम्योत्प्रेक्षा" का आभास होता है । इन दोनो मे भेदक बात यह है कि "उत्प्रेक्षा" में असम्बन्ध मे सम्बन्ध को आधार बनाकर संभावना नहीं की जाती बल्कि अन्य अंश को आधार बनाकर । ५।३०के श्लोक मे आकाश-गंगा मे प्रवेश पर "उत्प्रेक्षा" आधृत न होकर "विभ्रम-भ्रान्ता" पर आधृत है ।

जगन्नाथ पण्डित-राज का मत है कि उदाहरण ऐसा होना चाहिये जिसमे "उत्प्रेक्षा" की गंध भी न हो ॥४४॥]

भेदकातिशयोक्तिश्चेदेकस्यैवान्यतोच्यते ।
अहो अन्यैव लावण्यलीला बालाकुचस्थले ॥ ४५ ॥

भेदकेति। एकस्य कस्यापि पदार्थस्य। एव। अन्यता भिन्नता। उच्यते कथ्यते। चेत् यदि (तदा)। भेदकातियोक्तिः (नाम अर्थालङ्कारः भवति)।

(उदाहरति) अहो। आश्चर्यार्थे अव्ययपदमिदम्। बालाया तरुण्याः। कुचयोः स्तनयोः। स्थले प्रदेशे। अन्या भिन्ना। एव। लावण्यस्य सौन्दर्यस्य। लीला विलासः (वर्तते) ॥ ४५ ॥

यदि किसी पदार्थ का वर्णन भिन्न रूप मे किया जाता है तो "भेदकातिशयोक्ति" (-नामक अर्थालङ्कार) होती है।

(उदाहरणः—) अरे! युवती के स्तन-भाग पर दूसरे ही प्रकार की सौन्दर्य-शोभा है ॥ ४५ ॥

[भेद न रहने पर भेद दिखाना इस अलङ्कार की परिभाषा है। उदाहरण मे स्तनो पर जो लावण्य-लीला है, वह एक ही प्रकार की होती है जो लोक-प्रसिद्ध है, पर भिन्न न होने पर भी उसे सामान्य से भिन्न दिखाया गया है जिससे "भेदकातिशयोक्ति" है। ऐसा संभव न होने पर भी कवि-जगत् मे संभव और चमत्कार-जनक माना जाता है।

"अहो" के बाद आये "अ" का, पूर्व रूप होने से, लोप हो जाना चाहिये पर "ओत्" सूत्र के अनुसार अव्यय के "ओ" के बाद आने के कारण प्रगृह्य की स्थिति आ गई है और, संधि असंभव है।

इसे आचार्यों ने "अभेदे भेदरूपा अतिशयोक्ति" भी कहा है ॥ ४५ ॥]

रूपकातिशयोक्तिश्चेद् रूप्यं रूपकमध्यगम्।
पश्य नीलोत्पलद्वन्द्वान्निःसरन्ति शिताः शराः ॥ ४६ ॥

रूपकेति। रूप्यं विषमः उपमेयं वा। रूपकस्य विषयिणः उपमानस्य

वा। मध्यगम् अन्तःस्थितम्। चेत् यदि (तदा)। रूपकातिशयोक्तिः (नाम अर्थालङ्कारः भवति)।

(उदाहरति) पश्य विलोकय। शिताः तीक्ष्णाः। शराः बाणाः। नीलम् असितं च तत् उत्पलं कमलं च। तस्य द्वन्द्वं युगलम्। तस्मात्। निःसरन्ति बहिः गच्छन्ति ॥ ४६ ॥

यदि विषय या उपमेय विषयी या उपमान के अन्तर्गत आ जाता है तो "रूपकातिशयोक्ति" (-नामक अर्थालङ्कार) होती है।

(उदाहरण :–) देखो; तेज बाण नील-कमल के जोड़े से निकल रहे है ॥४६॥]

[सामान्य रूप से "अतिशयोक्ति" से जो अर्थ निकाला जाता है, वह "रूपकातिशयोक्ति" ही है जिसमे उपमान उपमेय को इस तरह निगल जाता है कि वही (उपमान) स्वयं उपमेय का भी काम करता है। उदाहरण में नील कमल, आखो के लिये और बाण, कटाक्षों के लिये आये हैं। ये दोनो उपमान हैं और उपमेय के अर्थ का भी बोध कराते हैं। इसे सबसे महत्त्व-पूर्ण मानकर कुवलयानन्द ने सबसे पहले दिया है। इसके विपरीत यहाँ यह भेद सबसे अन्त में आया है ॥ ४६ ॥

प्रौढोक्तिस्तदशक्तस्य तच्छक्तत्वावकल्पनम्।
कलिन्दजातीररुहाः श्यामलाः सरलद्रुमाः ॥ ४७ ॥

प्रौढोक्तिरिति। तत्र अशक्तस्य असमर्थस्य। तत्र शक्तत्वस्य समर्थत्वस्य। अवकल्पनं वर्णनम्। प्रौढोक्तिः (नाम अर्थालङ्कारः भवति)।

(उदाहरति) कलिन्दजायाः यमुनायाः। तीरे तटे रोहन्ति जायन्ते इति तीररुहाः। सरलाख्याः द्रुमाः वृक्षाः। श्यामलाः नीलाः ॥ ४७ ॥

यहाँ शूर उपमेय है और सूर्य उपमान, जिनके साथ क्रमशः समानार्थ-वाची "राजते" और "भ्राजते" पद आये हैं।

जिस काम में जो असमर्थ है, उसमें उसके समर्थ होने का वर्णन "प्रौढोक्ति" (-नामक अर्थालङ्कार है)।

(उदाहरण :–) यमुना के किनारे उगने वाले चीड़ के वृक्ष नीले हैं ॥४७॥

[यमुना, स्वयं नीली है पर उसका किनारा वृक्षों को नीला बनाने में

समर्थ नही है; लेकिन वहाँ उगे वृक्षो को नीला बताया गया है, अतः "प्रौढोक्ति" है।

"रमा" टीका के अनुसार "यह कोई भिन्न अलङ्कार न होकर "अतिशयोक्ति" का भेद है, जैसा कि काव्य-प्रकाश का कहना है"। काव्य-प्रकाश मे यह बात नहीं है तथापि "प्रौढोक्ति" का वर्णन काव्य-प्रकाश में न आने से "रमा"-टीकाकार ने ऐसा अन्दाज लगाया है।

श्यामल सरल वृक्षो का सम्बन्ध यमुना-तट से न होने पर भी उन्हे सम्बद्ध करने के कारण यह उदाहरण "सम्बन्धातिशयोक्ति" का भी हो सकता है, यद्यपि परिभाषाये भिन्न-भिन्न है ॥४७॥]

सम्भावना यदीत्थं स्यादित्यूहोऽन्यप्रसिद्धये ।
सिक्तं स्फटिककुम्भान्तःस्थितिश्वेतीकृतैर्जलैः ॥ ४८ ॥
मौक्तिकं चेल्लतां सूते तत्पुष्पैस्ते समं यशः ।

सम्भावनेति । **अन्यस्य** भिन्नस्य कार्यस्य । **प्रसिद्धये** प्रकाशनाय । **यदि** चेत् । **इत्थम्** एवम् । **स्यात्** भवेत् । **इति** । **ऊहः** तर्कः (तदा) । **सम्भावना** (नाम अर्थालङ्कारः भवेत्) ।

(उदाहरति) **स्फटिकस्य** । **कुम्भस्य** कलशस्य । **अन्तः** अभ्यन्तरे । **स्थित्या** विद्यमानतया । न श्वेतानि पाण्डुराणि **अश्वेतानि** अपाण्डुराणि । अश्वेतानि श्वेतानि कृतानि तैः **अश्वेतीकृतैः** । **जलैः** वारिभिः । **सिक्तम्** उक्षितम् । **मौक्तिकं** मुक्ताफलम् । (बीजभूत सत्) **लतां** वल्लरीम् । **सूते** जनयति । **चेत्** यदि (तदा) । **तस्याः** लतायाः **पुष्पैः** कुसुमैः । **समं** तुल्यम् । **ते** तव । **यशः** कीर्तिः (स्यात्) ॥ ४८ ॥

अपने से भिन्न कार्य के प्रकाशन के लिये "अगर ऐसा हो (तो ऐसा हो)" तर्क हो तो "सम्भावना" (-नामक अर्थालङ्कार) होती है।

(उदाहरण :–) अगर बिल्लौर पत्थर के बने घड़े के अन्दर विद्यमान होने से सफेद बनाये गये जल से सींचा मोती (बीज बनकर) लता को जन्म दे तो उस (लता)-के फूलों के समान आपकी कीर्ति हो ॥ ४८ ॥

[यहाँ उदाहरण मे अन्य कार्य का प्रकाशन, जन्म देने के कार्य से भिन्न

कीर्ति को उपमान मिल जाना है तथा "अगर" से तर्क आरंभ किया गया है और अंत तक संभावना की गई है।

संभावना और संभावन का अर्थ एक ही है। कहीं-कहीं संभावन पाठान्तर भी मिलता है। काव्य-प्रकाश में "अतिशयोक्ति" की परिभाषा में "यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम्" समावेश कर दिया गया है जिससे "सम्भावना" अलङ्कार उसी में अन्तर्भूत है। वामन और विश्वनाथ भी "सम्भावना" अलङ्कार को "अतिशयोक्ति" से अतिरिक्त नहीं मानते।

"अगर" से संभव की संभावना की जाती है। मोती बिल्लौर पत्थर का कलश, जल, मोती से उत्पन्न लता और उस लता से उत्पन्न फूल सभी सफेद है और ऐसा फूल श्वेततम होगा जिसका आरंभ से ही श्वेतता से सम्बन्ध रहा है। सफेदी भी ऐसी है जो संभव न होने पर भी काव्य में ही संभव मानी जाती है। इस तरह उपमान (पुष्प) अत्यन्त असंभव हो जाता है पर संभावना के द्वारा उसकी चर्चा की जाती है।

कवि-सम्प्रदाय के अनुसार यश का रंग श्वेत होता है जैसा दोष-प्रकरण में बताया जा चुका है ॥४८॥]

वाञ्छितादधिकप्राप्तिरयत्नेन प्रहर्षणम् ॥ ४९ ॥

दीपमुद्द्योतयेद्यावत्तावदभ्युदितो रविः ।

वाञ्छितादिति । न यत्नः प्रयासः **अयत्नः** । तेन । **वाञ्छितात्** ईप्सितात् **अधिकस्य** अतिरिक्तस्य । **प्राप्तिः** अर्जनम् । **प्रहर्षणम्** (नाम अर्थालङ्कारः भवति) ।

(उदाहरति यथा) **दीपं** प्रदीपम् (कर्म) । **यावत्** यत्पर्यन्तम् । (कोऽपि) **उद्योतयेत्** प्रकाशयेत् । **तावत्** तत्पर्यन्तम् । **रविः** सूर्यः । **अभ्युदितः** उदितः ॥ ४९ ॥

बिना कोशिश के इच्छित से ज्यादा पा जाना "प्रहर्षण" (-नामक अर्थालङ्कार) होता है।

(उदाहरण :—) जैसे ही दीपक प्रज्वलित करता है, वैसे ही सूर्य निकल आया ॥ ४९ ॥

[उदाहरण के अनुसार किसी को दीपक के प्रकाश की आवश्यकता है, पर बिना प्रयत्न के उसे दीप-प्रकाश से करोड़ों गुना प्रकाश सूर्योदय के कारण मिल गया। हिन्दी मे "बिन माँगे मोती मिलै" कहावत इसी अर्थ मे प्रसिद्ध है। कुवलयानन्द ने प्रहर्षण के दो भेद किये है :– (१) बिना प्रयत्न के ईप्सित वस्तु का मिलना तथा (२) प्राप्ति के उपाय मे ही लगे रहने तक प्राप्ति हो जाना ॥ ४६ ॥]

इष्यमाणविरुद्धार्थसम्प्राप्तिस्तु विषादनम् ॥ ५० ॥
दीपमुद्द्योतयेद्यावत्तावन्निर्वाण एव सः ।

इष्यमाणेति। इष्यते असौ **इष्यमाणः** ईप्सितः। यस्मात् **विरुद्धः** प्रतिकूलः च सः **अर्थः** फलं च। तस्य **सम्प्राप्तिः** अवाप्तिः। **तु** तद्विपरीते। **विषादनम्** (नाम अर्थालङ्कारः भवति)।

(उदाहरति यथा) **यावत्** यत्पर्यन्तम्। (कोऽपि) **दीपम्** दीपकम् (कर्म)। **उद्द्योतयेत्** दीप्ततरं कुर्यात्। **तावत्** तत्पर्यन्तम्। **सः** दीपकः। **निर्वाणः** गतः। **एव** ॥ ५० ॥

इसके विपरीत, ईप्सित (वस्तु) के प्रतिकूल वस्तु की प्राप्ति "विषादन" (-नामक अर्थालङ्कार) है।

जब तक दिये की रोशनी तेज करे, तब तक वह (दिया) बुझ गया ॥ ५० ॥

[यह "प्रहर्षण" (हर्षित करने वाला) से उलटा "विषादन" (दुखी करने वाला) अलङ्कार है, जैसा कि कोष्ठ मे दिये अर्थों, परिभाषाओं तथा उदाहरणों से स्पष्ट है। उदाहरण के अनुसार दिये की लौ तेज करना अभीष्ट था पर वह बुझ गया जिससे इच्छा के विपरीत हो गया ॥ ५० ॥]

क्रियादिभिरनेकस्य तुल्यता तुल्ययोगिता ॥ ५१ ॥
सङ्कुचन्ति सरोजानि स्वैरिणीवदनानि च ।
प्राचीनाचलचूडाग्रचुम्बिबिम्बे सुधाकरे ॥ ५२ ॥

क्रियादिभिरिति। क्रिया आदौ येषां तैः पदैः। आदिपदेन गुणस्य ग्रहणम्। क्रियाभिः गुणैः च। न एकस्य **अनेकस्य** द्वयाः प्रस्तुतयोः

अप्रस्तुतयोः वा। **तुल्यता** समानता। **तुल्ययोगिता** (नाम अर्थालङ्कारः भवति)।

(उदाहरति यथा) **सुधाकरे** चन्द्रे। प्राच्या (दिशि) भवः **प्राचीनः**। प्राचीनः पूर्ववर्त्ती च असौ **अचलः** पर्वतः उदयाचल. इत्यर्थः। तस्य **चूडायाः** शिखरस्य। **अग्रम्** उपरितनं भागम्। चुम्बतीति **प्राचीनाचल-चूडाग्रचुम्बि**। तादृशं बिम्बं मण्डलं यस्य तस्मिन् (सति)। **सरोजानि** कमलानि। **स्वैरिणीनां** पुंश्चलीनाम्। **वदनानि** मुखानि। च। **सङ्कुचन्ति** मलिनता भजन्ते ॥ ५१॥५२ ॥

क्रिया इत्यादि के द्वारा दो प्रस्तुतो या दो अप्रस्तुतों की बराबरी, "तुल्य-योगिता" (-नामक अर्थालङ्कार) होती है।

(उदाहरण :–) चन्द्र-बिम्ब के उदयाचल-शिखर के अग्र भाग का चुम्बन करने पर कमल और व्यभिचारिणी-मुख मुरझा गये ॥ ५१ ॥ ५२ ॥

["प्राचीन का अर्थ पुराना न होकर "प्राची (पूर्व दिशा)-सम्बन्धी" है। इसी प्रकार "अनेक" का अर्थ "दो" है। ये दो प्रस्तुत ही हो सकते हैं या अप्रस्तुत ही। यहां दोनो ही (उपमेय और उपमान होते हुए भी–द्रष्टव्य ५।१६) प्रस्तुत है और "सङ्कुचन्ति" क्रिया की समानता के आधार पर दोनो तुलित हो रहे हैं, अतः "तुल्य-योगिता"-नामक अलङ्कार है। यहाँ अप्रस्तुत का अर्थ उपमान नही लगेगा, जैसा "सम्पूर्णोपमा" मे भी हो चुका है और आगे "दीपक" में भी होगा।

"क्रियादि" पद मे आया "आदि" पद गुण या विशेपण के लिये आया है तथा क्रिया के समान होने पर जिन दो पदों मे समता आयेगी, वे उस क्रिया के कर्त्ता, कर्म या करण होगे।

इस अलङ्कार का लक्ष्य उपमा दिखाना है, ऐसा रुय्यक का मत है :–

औपम्यस्य गम्यत्वे तुल्ययोगिता (अलङ्कार-सर्वस्व २३)।

संस्कृत मे गुण (,विशेषण या भाव-वाची संज्ञा), अभाव के होने पर नही होता, इसलिये पण्डित-राज जगन्नाथ ने अभाव का भी समावेश "क्रियादि" के "आदि" में किया है। सरस्वती-कण्ठाभरण के अनुसार मित्र और शत्रु के प्रति समान

व्यवहार "तुल्य-योगिता" है। काव्यादर्श के अनुसार उत्कृष्ट गुण वाले लोगों की समानता "तुल्य-योगिता" है। इनके उदाहरण कुवलयानन्द मे दिये गये हैं।

"सिद्धि"-नामक लक्षण और "तुल्य-योगिता" मे कोई अन्तर नहीं है; दोनो का एक दूसरे मे अन्तर्भाव किया जा सकता है; कम से कम उदाहरण में कोई अन्तर नही है। काव्यादर्श की परिभाषा के अनुसार "तुल्य-योगिता" और इस ग्रन्थ के अनुसार "सिद्धि" नामक लक्षण मे कोई भेद नही है (चन्द्रालोक ३।८)।

"दीपक" अलङ्कार मे एक अप्रस्तुत और एक प्रस्तुत की तुलना होती है; "तुल्य-योगिता" मे दोनो या तो अप्रस्तुत होते है या प्रस्तुत, यही अंतर है।

"संपूर्णोपमा" और "तुल्य-योगिता"—दोनो—में तुल्य दिखाये जाने वाले पद प्रस्तुत होते है पर "तुल्य-योगिता" मे अन्वय के लिये उपमा-वाचक शब्द की आवश्यकता नही होती (अर्थ समान होता है); यही भेद है।

"सहोक्ति" मे तुल्य दिखाया जाने वाला एक पद "साथ"-वाची शब्द के कारण आता है और गौण होता है, जब कि "तुल्य-योगिता" मे ऐसे दोनो पद समान महत्त्व के होते है।

जहाँ दो प्रस्तुतो की तुलना हो वह पहला भेद और जहाँ दो अप्रस्तुतों की वहाँ दूसरा; इस प्रकार इस अलंकार के दो भेद किये जा सकते हैं।

चन्द्रमा के निकलने पर प्रकाश हो जाता है जिससे व्यभिचारिणी स्त्रियाँ लोक-लज्जा के कारण नही निकल पाती और इससे उदास हो जाती है। चन्द्रोदय मे कमलों का मुरझाना कवि-सम्प्रदाय है ॥५२॥]

प्रस्तुताप्रस्तुतानां च तुल्यत्वे दीपकं मतम्।
मेधां बुधः सुधामिन्दुर्बिभर्त्ति वसुधां भवान् ॥५३॥

प्रस्तुतेति। प्रस्तुताः च अप्रस्तुताः च तेषाम् प्रस्तुताप्रस्तुतानाम्। च। तुल्यत्वे साम्ये। दीपकम् (नाम अर्थालङ्कारः)। मतम् इष्टम्।

(उदाहरति) बुधः विद्वान्। मेधां बुद्धिम्। इन्दुः चन्द्रमाः। सुधां पीयूषम्। भवान् त्वम्। (च) वसुधां पृथिवीम्। बिभर्त्ति धारयति ॥५३॥

और प्रस्तुतों और अप्रस्तुतो की समानता होने पर "दीपक" (-नामक अर्थालंकार) माना गया है।

(उदाहरणः—) विद्वान् बुद्धि, चन्द्रमा प्रभृत और आप पृथ्वी धारण करते है ॥५३॥

["सम्पूर्णोपमा" और "तुल्य-योगिता" की तरह ही इस अलंकार मे भी अप्रस्तुत का अर्थ "जो विद्यमान हो" है; न कि उपमान ।

"दीपक" नाम सार्थक है । जिस प्रकार महल की छत पर रखा दीपक (=प्रकाशित करने वाला पदार्थ) नीचे की गली और छोटे मकानो को भी प्रकाशित करता है; महल को तो करता ही है, उसी प्रकार प्रस्तुत मे स्थित धर्म अप्रस्तुत का भी हितकर होता है । यह अर्थ "दीपयति इति दीपकम्" विग्रह से निकल सकता है ।

अलंकार के अर्थ मे "दीपक" शब्द हमेशा नपुंसक लिग मे होता है, अतः दिये का वाचक नही है ।

"बिभर्त्ति" क्रिया का अन्वय भवान् के साथ होगा, पर "देहली-दीप-न्याय" से वह "बुध" और "इन्दु" के साथ भी लग सकता है । इस प्रकार क्रिया एक होने पर समानता हो जाती है और प्रस्तुत (भवान्) का धर्म (धारण करने वाला होना), अप्रस्तुत (बुध और इन्दु) का भी हितकर हो जाता है, अतः "दीपक" अलंकार है ।

५।५२ मे "दीपक" और "तुल्य-योगिता" का अन्तर दिया जा चुका है ।

इसके भेद दण्डी अनेक, रुद्रट ६ और शेष आचार्य ३ मानते है ॥५३॥]

आवृत्ते दीपकपदे भवेदावृत्तिदीपकम् ।
दीप्त्याग्निर्भाति भातीन्दुः कान्त्या भाति रविस्त्विषा ॥५४॥

आवृत्त इति । दीपकपदे दीपकाख्यालङ्कारधर्मभूते पदे । आवृत्ते असकृत् पठिते श्रुते वा । आवृत्तिदीपकम् (नाम अर्थालङ्कारः भवति) ।

(उदाहरति) अग्निः हुतभुक् । दीप्त्या प्रकाशेन । भाति शोभते । इन्दुः चन्द्रः । कान्त्या प्रकाशेन । भाति शोभते । रविः सूर्यः । (न) त्विषा प्रकाशेन । भाति शोभते ॥५४॥

दीपक-पद की पुनरावृत्ति होने पर "आवृत्ति-दीपक" (-नामक अर्थालंकार) होता है ।

(उदाहरणः—) आग दीप्ति से सोहती है, चन्द्रमा कान्ति से सोहता है और सूर्य प्रभा से सोहता है ।।५४।।

[यहाँ परिभाषा मे "दीपक-पद" समझने-योग्य है । "दीपक" अलंकार का मूल कारण जो पद होता है, वह तुल्य बनाये जा रहे सभी पदों के साथ अन्वित होता है, पर केवल एक बार आता है; यदि उसे हर पद के साथ अन्वित कर दिया जाय तो "आवृत्ति-दीपक"-नामक अलंकार हो जायेगा ।

"आवृत्ति" और "दीपक"—दोनो—शब्दों के होने से परिभाषा अपने आप जानी जा सकती है । साधारण धर्म को आवृत्ति वाला "दोपक"-अलंकार "आवृत्ति-दीपक" है; यह अर्थ आसानी से समझा जा सकता है ।

दण्डी तथा अप्पय्य दीक्षित के अनुसार इसके तीन भेद होते है :—

(१) अर्थावृत्ति—धर्म-भूत अर्थ की आवृत्ति होने से; पद चाहे भिन्न रहे; यह "प्रतिवस्तूपमा" है ।

(२) पदावृत्ति—धर्म-भूत पद की आवृत्ति होने से; अर्थ चाहे भिन्न रहे ।

(३) उभयावृत्ति—दोनो की आवृत्ति होने से ।

यहाँ दिया गया उदाहरण प्रमुख रूप से तीसरे भेद का है पर पहले और दूसरे भेद के लिये भी माना जा सकता है, यदि पद का यौगिक अर्थ "पद्यते ज्ञायते अर्थः येन" (जिससे अर्थ जाना जाय) लिया जाय ।

उदाहरण मे अग्नि, इन्दु और रवि मे कौन प्रस्तुत है और कौन अप्रस्तुत इसका पता नहीं चलता क्योंकि प्रकरण नही दिया गया है, पर इतना स्पष्ट है कि आग, चन्द्रमा और सूर्य मे से एक प्रस्तुत और शेष अप्रस्तुत हैं क्योंकि तीनो एक ही समय नही चमकते; आग दिन और रात की सन्धि (मध्य) में, चन्द्रमा रात मे और सूर्य दिन में चमकता है ।

"भाति (चमकना)" साधारण धर्म है जो अग्नि, इन्दु और रवि के लिये लग रहा है पर एक ही बार न आकर हर पद के साथ आने से "आवृत्ति-दीपक" का कारण हुआ ।

यहाँ सबसे पहले आग का वर्णन हुआ है, इसलिये उसे प्रस्तुत माना जा

सकता है, अन्यथा कम तेजस्वी होने पर भी उसका वर्णन पहले कर देने से दोष की स्थिति आयेगी।

"दीपक" का यह भेद है। दूसरा भेद "माला-दीपक" आगे (५।८९) आयेगा।

"तुल्य-योगिता" की तरह प्रस्तुत और अप्रस्तुत मिश्रित नहीं होगे कि "दीपक" की तरह मिश्रित होगे, ऐसा इस अलंकार के लक्षण मे न दिया होने से यह "तुल्य-योगिता" के भेद-जैसा भी हो सकता है ॥५४॥]

वाक्ययोरर्थसामान्ये प्रतिवस्तूपमा मता।
तापेन भ्राजते सूर्यः शूरश्चापेन राजते ॥५५॥

वाक्ययोरिति । **वाक्ययोः** उपमेयवाक्यस्य उपमानवाक्यस्य च। **अर्थस्य** वाच्यस्य। **सामान्ये** समानतायाम्। (सति) **प्रतिवस्तूपमा** (नाम अर्थालङ्कारः)। **मता** इष्टा। विद्वद्भिरिति शेषः।

(उदाहरति यथा) **सूर्यः** रविः। **तापेन** तेजसा। **भ्राजते** शोभते। **शूरः** वीरः (च)। **चापेन** धनुषा। **राजते** शोभते ॥५५॥

दो वाक्यों के अर्थ के समान होने पर "प्रतिवस्तूपमा" (-नामक अर्थालङ्कार) मानो गई है।

(उदाहरणः—) सूरज, तेज से सोहता है और बीर, धनुष से शोभित होता है ॥५५॥

[दो वाक्यों से तात्पर्य है कि उपमान और उपमेय के वाक्य अलग-अलग हों। अर्थ की समानता से तात्पर्य है क्रिया, गुण (भाव) या अभाव की समानता; उपमान और उपमेय तथा करण, कर्म और कर्त्ता मे अर्थ या पदका भेद हो सकता है। यहाँ वाक्यो की अर्थ-समानता का आधार "शोभित होता है" है जो "भ्राजते" और "राजते" दोनो मे समान रूप से है। प्रति, वस्तु और उपमा का अर्थ क्रमशः प्रत्येक, वाक्यार्थ और समानता लेने पर नाम, सार्थक हो जाता है। एक ही अर्थ को दूसरे शब्द से कह देना, वस्तु के प्रति वस्तुता होती है। दण्डी आदि ने "अर्थावृत्ति" नाम से "आवृत्ति-दीपक" का जो भेद किया है, वह "प्रतिवस्तूपमा" है।

यहाँ शूर उपमेय है और सूर्य उपमान जिनके साथ क्रमशः समानार्थ-वाची "राजते" और "भ्राजते" पद आये हैं।

"उपमीयते इयम्" तथा "उपमीयते अनया" व्युत्पत्तियों से "प्रतिवस्तूपमा" के "उपमा" पद का अर्थ उपमेय और उपमान दोनों हो सकता है जिससे यह अर्थ लगाया जा सकता है कि एक वाक्य में उपमेय होगा और दूसरे में उपमान।

उद्भट ने सबसे पहले इस अलंकार का उल्लेख किया है, वामन ने इसका उल्लेख "प्रतिवस्तु" नाम से किया है और रुद्रट ने इसे अलंकार नहीं माना है।

"दृष्टान्त" मे सामान्य धर्म भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, पर "प्रतिवस्तूपमा" में नहीं। बहुत सूक्ष्म अन्तर होने से पण्डित-राज जगन्नाथ दोनो में अन्तर नहीं मानते।

"निदर्शना" एक वाक्य में हो सकती है, पर "प्रतिवस्तूपमा" नहीं। यदि निदर्शना दो वाक्यों में होती है तो जब तक दूसरा वाक्य न कहा जाय तब तक अर्थ पूर्ण नहीं होता जब कि "प्रतिवस्तूपमा" में प्रत्येक वाक्य अपने में पूर्ण होता है। "निदर्शना" में साधारण धर्म नहीं रहता जब कि "प्रतिवस्तूपमा" में रहता है।

"उपमा" एक वाक्य में हो सकती है पर "प्रतिवस्तूपमा" नहीं। "उपमा" यदि दो वाक्यों में होती है तो वे परस्पर स्वतंत्र नहीं होते जब कि "प्रतिवस्तूपमा" में हर वाक्य अपने में स्वतंत्र होता है। "उपमा" में उपमा-वाचक शब्द या तो विग्रह से निकलता है या दिया होता है, पर "प्रतिवस्तूपमा" में होता ही नहीं; व्यञ्जना-वृत्ति से समानता विदित होती है। "उपमा" में साधारण धर्म एक पद से व्यक्त किया जाया है जब कि "प्रतिवस्तूपमा" में दो भिन्न-भिन्न पद आते हैं। "उपमा" में दो पदार्थों की समता होती है जब कि "प्रतिवस्तूपमा" में दो वाक्यार्थों की।

"आवृत्ति-दीपक" में दीपक पद आवृत्त होता है पर "प्रतिवस्तूपमा" में उसका पर्याय-वाची शब्द दिया जाता है।

"अर्थान्तर-न्यास" में सामान्य से विशेष का और विशेष से सामान्य का समर्थन होता है जब कि "प्रतिवस्तूपमा" में सामान्य का समर्थन सामान्य से और

विशेष का समर्थन विशेष से होता है। "अर्थान्तर-न्यास" में सामान्य धर्म आसानी से नहीं दिखता क्योंकि वहाँ समर्थन मे वह विलीन हो जाता है, जब कि "प्रतिवस्तूपमा" में वह भिन्न पदों का प्रयोग होने पर भी अर्थ निकालते ही स्पष्ट हो जाता है। "अर्थान्तर-न्यास" में उपमेय अङ्ग और उपमान अङ्गी होता है, पर "प्रतिवस्तूपमा" में दोनों भिन्न-भिन्न होते है ॥५५॥]

चेद्‌ बिम्बप्रतिबिम्बत्वं दृष्टान्तस्तदलङ्कृतिः।

स्यान्मल्लप्रतिमल्लत्वे संग्रामोद्दामहुङ्कृतिः ॥५६॥

चेदिति। बिम्बः च प्रतिबिम्बः च बिम्बप्रतिबिम्बौ। तयोः भावः बिम्बप्रतिबिम्बत्वम्। चेत् यदि (स्यात्)। तत् तदा। दृष्टान्तः (नाम)। अलङ्कृतिः अलङ्कारः (अर्थालङ्कारः) (स्यात्)।

मल्लः भटः च प्रतिमल्लः प्रतिभटः च मल्लप्रतिमल्लौ। तयोः भावः मल्लप्रतिमल्लत्वम्। तस्मिन् मल्लप्रतिमल्लत्वे (सति)। संग्रामे रणे। उद्दाम्नी निरर्गला च सा हुंकृतिः गर्जनं च उद्दामहुङ्कृतिः। स्यात् भवेत् ॥५६॥

यदि बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव हो तो 'दृष्टान्त" (-नामक अलङ्कार) अर्थालङ्कार होता है।

भटों-प्रतिभटों के होने पर रण-भूमि में अपरिचित हुङ्कार होती है ॥५६॥

[जिस तरह दर्पण में बिम्ब (वस्तु) के समान ही प्रतिबिम्ब (परछाईं) होती है, उसी प्रकार जहाँ एक वाक्य के समान दूसरा वाक्य हो, वहाँ उन वाक्यों मे बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव माना जाता है।

परिभाषा, श्लोक के पूर्वार्ध में है और उत्तरार्ध के साथ जुटकर उदाहरण बनाती है। अर्थ की दृष्टि से बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव है। यदि वही विभक्ति आदि नीचे प्रयुक्त करते तो शब्दों की दृष्टि से भी बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव हो जाता। कदाचित् स्थान-संकोच से इस पद्य मे दिये साधारण उदाहरण से सन्तुष्ट न होकर आगे पुनः उदाहरण (५।५७) दिया गया है। चरणारंभ में "चेद्" का प्रयोग खटकता है।

जिन दो वाक्यों में बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव होता है, उनमें एक उपमेय का वर्णन करता है और दूसरा उपमान का। यहाँ पूर्वार्ध उपमेय और उत्तरार्ध उप-

मान का वाक्य है। दो भिन्न धर्म जब समान होने के कारण एक जैसे प्रतीत हों और उन्हे अलग-अलग दिया जाय तब बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव होता है; यह मान्य परिभाषा है। उदाहरण मे अलकृतित्व और हुंकृतित्व दो भिन्न धर्म हैं जो समान स्वरूप और श्रेष्ठ अर्थ के द्योतक होने से तुल्य प्रतीत होते हैं और अलग-अलग दिये गये है।

"उदाहरणेन दृष्टः सुष्ठु अवलोकितः अन्तः निश्चयः यस्य सः दृष्टान्तः"। जिस व्युत्पत्ति के अनुसार वाक्य के अर्थ का निश्चय उदाहरण के द्वारा भली-भाँति कर लिया जाय, वहाँ "दृष्टान्त" होता है। ऐसा अर्थ समझ लेने पर नाम अन्वर्थ हो जाने से परिभाषा याद करने मे सरलता होगी।

"उपमा" मे समान धर्म एक होता है; उसे केवल एक बार कहा जाता है जब कि "दृष्टान्त" मे दो धर्म होते है और वे समान (उभय-निष्ठ) नहीं होते, केवल समान प्रतीत होते है और अलग-अलग आते है। "उपमा" मे "उपमा"-वाचक शब्द आता है; "दृष्टान्त" मे नही।

"निदर्शना" एक वाक्य मे हो सकती है, यदि दो वाक्यो मे होती है तो वे दोनो एक दूसरे के पूरक होते है तथा धर्म नही होता जब कि "दृष्टान्त" सदा दो वाक्यो मे होता है, वे स्वतंत्र होते है तथा दो धर्म होते है जो अलग-अलग और मिलते-जुलते होते है। "प्रतिवस्तूपमा" और "दृष्टान्त" का अन्तर ५।५५ मे देखा जा सकता है।

"अर्थान्तर-न्यास" मे सामान्य से विशेष की और विशेष से सामान्य की पुष्टि की जाती है, विशेष वाला वाक्य सामान्य वाले वाक्य का एक अंग-सा होता है। "दृष्टान्त" मे ऐसा नही होता।

"अप्रस्तुत-प्रशंसा" में अप्रस्तुत ही दिया जाता है और प्रस्तुत व्यञ्जना वृत्ति से आता है, जब कि "दृष्टान्त" मे दोनो अभिधा-वृत्ति से दिये जाते है। "अप्रस्तुत-प्रशंसा" में एक धर्म होता है जब कि "दृष्टान्त" मे दो धर्म। "अप्रस्तुत-प्रशंसा" एक वाक्य मे भी हो सकती है पर "दृष्टान्त" के लिये दो वाक्य होने आवश्यक है।

उदाहरण मे बिम्ब-प्रतिबिम्बत्व और मल्ल-प्रतिमल्लत्व तथा अलङ्कृति

और हुङ्कृति अलग-अलग दो जोड़े है जिनमे बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव है ।।५६।।]

दृष्टान्तश्चेद्भवन्मूर्तिस्तन्मृष्टा दैवदुर्लिपिः ।
जाता चेत्प्राक् प्रभा भानोस्तर्हि याता विभावरी ॥ ५७ ॥

दृष्टान्त इति । (दृष्टान्तं पुनः उदाहरति) **भवतः** तव । **मूर्तिः** रूपम् । **अन्तः** हृदये । **दृष्टा** अवलोकिता अनुभूता वा । **चेत्** यदि । **तत्** तदा । **दैवस्य** भाग्यस्य । **दुर्लिपिः** दुष्टा लिपिः लेखः दुर्भाग्याक्षराणि इति यावत् । **मृष्टा** नष्टा । **भानोः** सूर्यस्य । **प्रभा** तेजः । **प्राक्** प्राच्या दिशि । **जाता** उत्पन्ना । **चेत्** यदि । **तर्हि** तदा । **विभावरी** रात्रिः । **याता** गता ।।५७।।

यदि आपका रूप हृदय मे अनुभव कर लिया गया (जाय) तो भाग्य का बुरा लेख पुँछ गया (जाय) । यदि सूर्य का तेज पूर्व दिशा म उत्पन्न हो गया (जाय) तो रात चली गई (जाय) ।। ५७ ।।

[यहाँ "दृष्टान्त" शब्द का सुन्दर प्रयोग है जो उदाहरण मे भी अर्थ देता है और अलङ्कार का नाम भी सङ्केतित करता है । उपमेय वाक्य के "मूर्ति", "अन्तः" "दृष्टा", "चेत्" "तत्", "दैव दुर्लिपि" और "मृष्टा" पद बिम्ब है तथा इनका प्रतिबिम्ब उपमान-वाक्य मे क्रमशः "प्रभा", "प्राक्", "जाता", "चेत्", तर्हि", "विभावरी" और "याता" पदों के रूप में हैं; केवल "भवत्" और "भानु" शब्दो मे अर्थ-मात्र की दृष्टि से साम्य है; बाह्य रूप मे नहीं ।

"दुर्लिपि का पुंछना" और "विभावरी का जाना" ये दो धर्म है जो मिलते-जुलते होते हुये भी अलग-अलग हैं ।

ऊपर की उक्ति मे भक्त भगवान् से प्रार्थना कर रहा है ।। ५७ ।।]

वाक्यार्थयोः सदृशयोरैक्यारोपो निदर्शना ।
या दातुः सौम्यता सेयं सुधांशोरकलङ्कता ॥ ५८ ॥

वाक्यार्थयोरिति । **सदृशयोः** समानयोः । **वाक्यस्य** । **अर्थयोः** वाच्ययोः । **ऐक्यस्य** एकतायाः । **आरोपः** आरोपणम् । **निदर्शना** (नाम अर्थालङ्कारः भवति) ।

(उदाहरति यथा) **या। दातुः** दानशीलस्य जनस्य। **सौम्यता सा। इयम्। सुधांशोः** सुधा अंशुः यस्य तस्य। चन्द्रस्य। न कलङ्कः अङ्कः यस्य सः अकलङ्कः तस्य भावः **अकलङ्कता** कलङ्क-शून्यता ॥ ५८ ॥

समान वाक्यार्थों में एकता का आरोपण "निदर्शना" (-नामक अर्थालङ्कार) है।

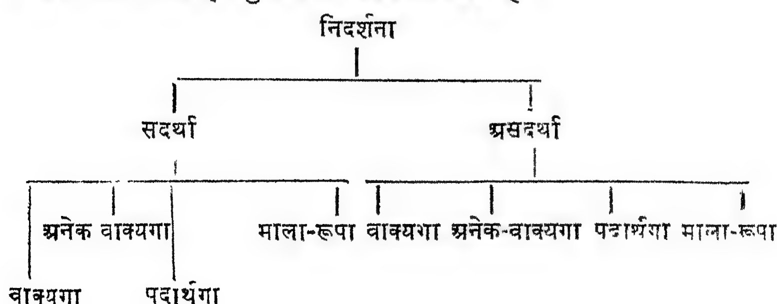
(उदाहरण :–) दानी की जो सौम्यता है, वही चन्द्रमा की कलङ्क-शून्यता है ॥ ५८ ॥

[उदाहरण में ये समान वाक्यार्थ है :–(१) दानी की सौम्यता तथा (२) सुधांशु की अकलङ्कता। दोनो मे "या" और "सेयम्" के प्रयोग से एकता दिखाई गई है। दोनो वाक्य स्वतंत्र न होकर उद्देश्य-विधेय रूप मे आये हैं, अतः एक दूसरे के आश्रित है। पहला वाक्य उपमेय और दूसरा उपमान है।

पण्डित-राज जगन्नाथ शाब्दिक अभिन्नता रहने के कारण उक्त स्थिति मे "रूपक" मानते है। "निदर्शना" के लिये अर्थों की अभिन्नता को वे आवश्यक मानते है। मम्मट भट्ट ने निदर्शन का अर्थ दृष्टान्त-करण मानते हुए उसे ही "निदर्शना" कहा है। "नि" से "निश्चत रूप से" और "दर्शन" से "सादृश्य-प्रकटन" अर्थ भी लिया जाता है।

दण्डी, वामन और भोज-राज ने इसे "निदर्शन" तथा उद्भट ने "निदर्शना" नाम से उल्लिखित किया है।

"निदर्शना" के प्रायः दो भेद किये गये है जिनके नाम अलग-अलग आचार्यों ने अलग-अलग दिये है। कुल ९ भेद किये जा सकते है :–



"ललितोपमा" (५।५५) मे पदार्थगा "निदर्शना" का अन्तर्भाव हो सकता है। एक अन्य प्रकार की "निदर्शना" कुवलयानन्द मे वहाँ बताई गई है जहा कोई क्रिया करता हुआ कोई उस (क्रिया) से ही अन्य अर्थ का बोध कराता है।

इस अलङ्कार का "प्रतिवस्तूपमा" से अन्तर ५।५५ मे तथा "दृष्टान्त" से अन्तर ५।५६ मे देखा जा सकता है।

"रूपक" मे उपमेय और उपमान एक रूप वाले होते है पर "निदर्शना" मे यत् तथा तत् की मदद से ऐक्य का आरोप किया जाता है। "रूपक" मे एक वाक्य होता है जब कि निदर्शना मे दो वाक्य होते है, वे परस्पर आश्रित होते है और उपमेय-वाक्य, उपमान-वाक्य का कारण होता है।

"अर्थान्तर-न्यास" मे दो स्वतंत्र वाक्य होते है और "निदर्शना" मे परस्पर परतंत्र। इसके अतिरिक्त "निदर्शना" मे उपमेय वाला वाक्य उपमान वाले वाक्य का कारण होता है।

"सावयव-रूपक" मे उपमेय-वाक्य के अनेक पदों के तद्रूप पद उपमान-वाक्य मे पाये जाते है जब कि "निदर्शना" मे उपमेय-वाक्य और उपमान-वाक्य की ही एकता होती है ॥५८॥]

व्यतिरेको विशेषश्चेदुपमानोपमेययोः।
शैला इवोन्नताः सन्तः किं तु प्रकृतिकोमलाः ॥ ५६ ॥

व्यतिरेक इति। उपमानः च उपमेयः च उपमानोपमेयो। तयोः विशेषः विलक्षणता न्यूनता अधिकता वा। व्यतिरेकः (नाम अर्थालङ्कारः भवति)।

(उदाहरति यथा) सन्तः सज्जनाः। शैलाः पर्वताः। इव। उन्नताः उत्तुङ्गाः। किं तु अत्र विशेषः तु यत् ते सज्जनाः। प्रकृतिकोमलाः प्रकृत्या स्वभावतः कोमलाः मृदवः ॥ ५६ ॥

उपमान और उपमेय मे विशेषता (किसी का कम और किसी का अधिक होना), "व्यतिरेक" (-नामक अर्थालङ्कार) है।

(उदाहरण:-) सज्जन, पर्वतो की तरह कोमल पर (विशेषता यह है कि) स्वभाव से मृदु होते है ॥ ५६ ॥

[यहाँ उपमान "पर्वत" की अपेक्षा उपमेय "सज्जन" मे अधिकता दिखाई गई है कि दोनो ऊँचे होने मे समान है तथापि सज्जन इस मामले मे बढे हुये है कि उनमे कठोरता-रूपी दुर्गुण के स्थान पर कोमलता-रूपी सद्गुण होता है। उपमान की अधिकता दिखाई जाने पर दूसरा भेद होगा। मम्मट तथा विश्वनाथ ने इसके क्रमशः २४ तथा ४८ भेद दिखाये है। जगन्नाथ पण्डित-राज के मत से उपमा के जितने भेद हो सकते है, वे सभी व्यतिरेक के भी हो सकते है। वैद्यनाथ तत्सत् (कुवलयानन्द के टीकाकार) ने विशेष का अर्थ वैचित्र्य लगाकर तीसरा भेद वहाँ बताया है जहाँ उपमान और उपमेय में वैचित्र्य हो, अधिकता और न्यूनता नही।

रुद्रट, प्रतीहार इन्दुराज रुय्यक, विद्यानाथ, विश्वनाथ और अप्पय्य दीक्षित उपमेय की न्यूनता होने पर "व्यतिरेक" मानते है। वामन ने सर्व-प्रथम अपनी परिभाषा मे स्पष्ट रूप से यह प्रतिपादित किया कि उपमान से उपमेय के बढने पर "व्यतिरेक" होता है।

"प्रतीप" में उपमान को उपमेय के आगे (हीन अतः) व्यर्थ बताया जाता है जब कि "व्यतिरेक" मे दोनो मे अधिक-भाव, न्यून-भाव या वैचित्र्य दिखाया जाता है। "व्यतिरेक" मे साधर्म्य होता है पर श्रेष्ठता दिखाने के लिये उपमेय मे वैधर्म्य भी दिखाया जाता है; इसके विपरीत "प्रतीप" मे केवल साधर्म्य होता है ॥५६॥]

सहोक्तिः सहभावश्चेद् भासते जनरञ्जनः।
दिगन्तमगमद् यस्य कीर्तिः प्रत्यर्थिभिः सह ॥ ६० ॥

सहोक्तिरिति। जनरञ्जनः सर्वहृदयहारी। **सहभावः** सहितता। **भासते** प्रकटीभवति। **चेत्** यदि (तदा)। **सहोक्तिः** (नाम अर्थालङ्कारः भवति)।

(उदाहरति यथा) **यस्य** प्रस्तुतस्य। **कीर्तिः** यशः। **प्रत्यर्थिभिः** शत्रुभिः। **सह** साकम्। **दिगन्तं** दिशां ककुभाम् **अन्तं** सीमाम्। **अगमत्** अगच्छत् ॥ ६० ॥

यदि जन मनो-हारी सह (सहित रहने का)-भाव प्रगट हो तो "सहोक्ति" (-नामक अर्थालङ्कार) होती है।

(उदाहरण :-) जिसका यश, शत्रुओ के साथ दिशाओं की सीमा पर पहुँच गया ॥ ६० ॥

["सह युक्तेऽप्रधाने" (अष्टाध्यायी २।३।१६) के अनुसार जिसके साथ "सह" लगता है, वह गौण होता है। यहाँ उदाहरण में कीर्ति का दिगन्त मे पहुँच जाना मुख्य वर्णन है। साथ-साथ शत्रुओं का दिगन्त मे पहुँच (भाग) जाना गौण वर्णन है।कभी-कभी "सह" या उसके पर्याय-वाची शब्द की अनुपस्थिति मे भी विवक्षा-मात्र से उसका ग्रहण किया जाता है। "सह" के प्रयोग से एक-कालिकता प्रकट होती है।

सहोक्ति के "सह" का अर्थ "सहभाव" करने पर परिभाषा, अपने आप निकल आती है।

रुय्यक और विश्वनाथ पञ्चानन ने "सहोक्ति" को "अतिशयोक्ति"-मूलक मानकर उसे "अतिशयोक्ति" की तरह चार भेदो मे बाँटा है। रुद्रट ने इसके दो भेद अलग-अलग वर्गो मे गिनाये है और सर्व-प्रथम "अतिशयोक्ति"-मूलक होना प्रतिपादित किया है।

साकं, समं, सार्द्धं, सजु. इत्यादि का प्रयोग "सह" के स्थान पर किया जाता है। इन शब्दो से सम्बद्ध गौण शब्द प्रायः उपमान होता है और समान होने पर भी गौण होता है। प्रधान शब्द प्रायः उपमेय होता है और कर्त्ता (प्रथमा, तृतीया, षष्ठी या सप्तमी विभक्ति) अथवा कर्म कारक में होता है।

"विनोक्ति" अलङ्कार मे "विना" से सम्बद्ध शब्द पूरक होता है जबकि "सहोक्ति" मे "सह"-वाचक किसी शब्द से "सहित होना" अर्थ प्रगट होता है; न कि पूरक होना ॥ ६१ ॥]

विनोक्तिश्चेद् विना किञ्चित् प्रस्तुतं हीनमुच्यते।
विद्या हृद्यापि सावद्या विना विनयसम्पदम् ॥ ६१ ॥

विनोक्तिरिति । **किञ्चित्** किमपि वस्तु। **विना** अन्तरेण। **प्रस्तुतं** प्रकृतं वस्तु। **हीनम्** अपूर्णम् तुच्छं वा। **उच्यते** कथ्यते। **चेत्** यदि (तदा)। **विनोक्तिः** (नाम अर्थालङ्कारः भवति);

(उदाहरति यथा) सा वक्ष्यमाणा इत्यर्थः। विद्या। हृद्या मनोरमा। (सती) अपि। विनयः नम्रता एव सम्पत् सम्पत्तिः ताम्। विना अन्तरेण। अवद्या निन्दनीया ॥ ६१ ॥

किसी के बिना प्रस्तुत को अगर हीन बताया जाता है तो "विनोक्ति" (-नामक अर्थालङ्कार) होता है।

(उदाहरण :–) वह विद्या, मनोहर होकर भी, नम्रता की सम्पत्ति के बिना निन्द्य होती है ॥ ६१ ॥

[यहाँ विनय-सम्पत् के बिना विद्या की हीनता (निन्दनीयता) बताई गई है, अतः "विनोक्ति" है।

"विना" पर यह अलङ्कार आधृत होता है, अतः इसका नाम "विनोक्ति" रखा गया है। "विना" से चारुता या अचारुता—दोनो—का प्रतिपादन किया जाता है। विना के पर्याय-वाची से भी कोई हानि नहीं होती। अ, निर्, वि, न, अन्तरेण, ऋते, न्यून, हीन, निर्धन, रहित, विकल आदि उपसर्ग तथा अव्ययादि के साथ भी यह अलङ्कार संभव है; प्रचलित होने के कारण "विना" शब्द कहा गया है।

जहाँ विना-वाची शब्द के न रहने पर भी "विना" अर्थ निकले, वहाँ ध्वनि होती है, "विनोक्ति" नही। अलङ्कार-भाष्यकार का मत उद्धृत करते हुये जगन्नाथ पण्डित-राज ने "विनोक्ति" को एक परिभाषा यह भी दी है कि सदा सम्बद्ध रहने वाले शब्द जब "बिना" कहने से अलग दिखाये जाते है, तब "विनोक्ति" अलङ्कार होता है। यह "अतिशयोक्ति" के निकट है।

भामह, दण्डी, वामन, उद्भट और रुद्रट ने इसका उल्लेख नहीं किया है तथा रुय्यक और अप्पय्य दीक्षित ने आथ "विनोक्ति" भी मानी है।

मूल में प्रस्तुत की हीनता के लिये "विना" का प्रयोग होने पर कुवलयानन्द के अनुसार हीनता से (अर्थ दोष-हीनता होने पर) "विना" शब्द प्रस्तुत का उत्कर्ष भी दिखा सकता है।

विनोक्ति और सहोक्ति का अन्तर ५।६० में देखा जा सकता है ॥६१॥]

समासोक्तिः परिस्फूर्तिः प्रस्तुतेऽप्रस्तुतस्य चेत् ।
अयमैन्द्रीमुखं पश्य रक्तश्चुम्बति चन्द्रमाः ॥ ९२ ॥

समासोक्तिरिति । प्रस्तुते प्रकृते । अप्रस्तुतस्य अप्रकृतस्य । **परिस्फूर्तिः** प्रतीतिः । **चेत्** यदि (तदा) । **समासोक्तिः** (नाम अर्थालङ्कारः भवति) (समासेन उक्तिः कथनम् समासोक्तिः) ।

(उदाहरति यथा) **पश्य** विलोकय । अयं प्रस्तुतः पुरो दृश्यमानः **रक्तः** लोहितवर्णः अनुरक्तः वा । **चन्द्रमाः** शशी नायकः । **ऐन्द्र्याः** पूर्वस्याः दिशः नायिकायाः । **मुखं** वदनम् । **चुम्बति** स्पृशति । उदयतीत्यर्थः ॥९२॥

यदि प्रस्तुत में अप्रस्तुत की प्रतीति हो तो "समासोक्ति" (-नामक अर्थालङ्कार) होती है ।

(उदाहरणः-) देखो, यह लाल (या अनुरक्त) चाँद (नायक), पूर्व दिशा (नायिका) के मुख का चुम्बन कर रहा है ॥ ९२ ॥

[कार्य, लिङ्ग अथवा विशेषण की समता से प्रस्तुत मे अप्रस्तुत अर्थ झलकता है । उदाहरण मे रक्त का अर्थ लाल और अनुरक्त (दोनो होने) और चुम्बित का अर्थ छूना तथा चूमना दोनो होने से तथा "मुख" का प्रयोग करते हुये पूर्व दिशा को स्त्रीलिङ्ग मे और चन्द्रमा को पुंलिग में देने से यह अप्रस्तुत अर्थ झलकता है कि "जैसे अनुरागी नायक नायिका का मुख चुम्बित करता" है । प्रस्तुत का वर्णन अभिधा से और अप्रस्तुत का वर्णन व्यञ्जना से निकलता है । फिर प्रस्तुत में अप्रस्तुत का आरोप होता है । व्यंग्य अर्थ के वाच्य अर्थ का अङ्ग हो जाने से गुणीभूत व्यंग हो जाता है; ध्वनि नहीं । दोनो अर्थो के अभिन्न होने पर भी प्रस्तुत अर्थ प्रधान होता है ।

कार्य (क्रिया), लिंग और विशेषण, क्रमशः चुम्बति, चन्द्रमाः, ऐन्द्री तथा रक्त हैं । यदि श्लिष्ट विशेषण "रक्त" और "चुम्बित" शब्द का प्रयोग न किया जाता तो भी "समासोक्ति" होती क्योंकि लिङ्गादि-साम्य तो होता ही । लिङ्ग के साम्य का अर्थ है नायक और नायिका के क्रमशः पुंलिगत्व और स्त्रीलिंगत्व का साम्य ।

"इन्द्रस्य स्त्री इयम् ऐन्द्री" व्युत्पत्ति करने से "ऐन्द्री" का अर्थ "इन्द्र की पत्नी" (पर-नायिका) हो सकता है। इसी प्रकार "मुख" का अर्थ चन्द्रमा के प्रसंग मे आरंभ और नायक के प्रसंग मे "मुँह" लग सकता है। "आह्लादं मिमीते निर्मिमीते" विग्रह से चन्द्रमा का यौगिक अर्थ "आह्लादित करने वाला" लेने पर नायक की स्पष्ट प्रतीति हो सकती है।

साहित्य-दर्पण और रस-गङ्गाधर मे "समासोक्ति" के अनेक भेदों की चर्चा की गई है।

ध्वनि और "समासोक्ति" के अन्तर का विवेचन टीका के आरंभ मे कर दिया गया है।

विशेष्य के शिलष्ट न होने पर "श्लेष" अलङ्कार होता है; उसके शिलष्ट न रहने पर भी जब दूसरा अर्थ निकलने लगता है तब "समासोक्ति" होती है। "श्लेष" मे दोनो अर्थ वाच्य होते है जब कि "समासोक्ति" मे अप्रकृत अर्थ व्यञ्जना से निकलता है।

"रूपक" मे अप्रस्तुत का कथन अभिधा द्वारा होता है, जब कि "समासोक्ति" मे वह व्यञ्जना द्वारा आता है। "रूपक" मे प्रकृत (गौण) को अप्रकृत (प्रधान) ढक लेता है जब कि "समासोक्ति" मे प्रकृत अर्थ प्रधान होता है: न कि अप्रकृत।

"अप्रस्तुत-प्रशंसा" मे अप्रस्तुत के वर्णन से प्रस्तुत की व्यञ्जना होती है जब कि "समासोक्ति" मे, इसके विपरीत, प्रस्तुत के वर्णन से अप्रस्तुत की व्यञ्जना होती है ॥६२॥]

खण्डश्लेषः पदानां चेदेकैकं पृथगर्थता।
उच्छलद्भूरिकीलालः शुशुभे वाहिनीपतिः ॥६३॥

खण्डश्लेष इति। एकैकम् एकम् एकम् वाक्यं प्रति। **पदानाम्**। **पृथक्** भिन्नः च सः **अर्थः** वाच्यः चः पृथगर्थः। तत्ता पृथगर्थता भिन्नार्थकता। **चेत्** यदि (तदा)। **खण्डश्लेषः** (नाम अर्थालङ्कारः स्यात्)।

(उदाहरति यथा) उच्छलन्ति निर्गच्छन्ति भूरीणि बहूनि कीलानि

रक्तानि जलानि वा यस्मिन् सः। वाहिनीनां सेनाना नदीनां वा। पतिः स्वामी सेनापतिः समुद्रो वा। शुशुभे रेजे ॥६३॥

✓ यदि प्रत्येक (वाक्य) के संबंध में पदों का अर्थ भिन्न-भिन्न हो तो "खण्ड-श्लेष" (-नामक अर्थालङ्कार) होता है।

(उदाहरण:—) वाहिनीपति (सेनानी या समुद्र) जिस पर प्रचुर कीलाल (रक्त या जल) आ गया था शोभित हुआ ॥६३॥

[उदाहरण मे "कीलाल" तथा "वाहिनी" पदो के अर्थ "सेनानो शोभित हुआ" तथा "समुद्र शोभित हुआ" इन दो वाक्यो में से पहले के लिये क्रमश रक्त और सेना तथा दूसरे के लिये क्रमशः जल और नदी अर्थ लगने से "खण्ड-श्लेष" है।

जैसे एक वृन्त में दो फल लगे हों, उसी प्रकार एक पद मे जब दो अर्थ होते है और वे भिन्न-भिन्न रूप से दो वाक्यो मे अन्वित होते है, तब "खण्ड-श्लेष" होता है।

सामान्यतः "खण्ड-श्लेष", "श्लेष" का एक भेद माना जाता है पर यहाँ सामान्य रूप से "श्लेष" का वर्णन न कर "खण्ड-श्लेष" को ही अलङ्कार माना है।

यहाँ अलङ्कार-नाम मे आया "खण्ड" शब्द पद-खण्ड के लिये आया है।

यहाँ दिया उदाहरण अर्थ-"श्लेष" का है। जब अर्थ न बैठने पर केवल शब्द के साम्य से "श्लेष" होता है तब शब्द-"श्लेष" कहा जाता है। मम्मट के अनुसार यहाँ अर्थ-"श्लेष" नही होगा क्योंकि शब्द बदल देने पर "श्लेष" नहीं रह जायेगा।

"समासोक्ति", "श्लिष्ट-रूपक", "विरोधाभास", "पुनरुक्तवदाभास", "तुल्ययोगिता", "दीपक", "उपमा, "समुच्चय" आदि अलंकारों में भी श्लेष हो सकता है। वहाँ उनकी प्रधानता होने के कारण "श्लेष" नहीं होता। प्रथम चार अलंकारों में "श्लेष" हमेशा गौण रूप में रहता है; शेष चार अलंकारों मे कभी-कभी "श्लेष" के भी प्रधान होने से संकीर्णता की स्थिति आती है। जहाँ अन्य अलंकार अप्रधान होते हैं और "श्लेष" प्रधान

होता है, वहाँ "श्लेष" की स्थिति निर्विवाद रूप से होती है। "श्लेष" भी द्व्यर्थक पदों के होने पर ही होता है; उन्हें हटा देने पर नहीं। अर्थ मे सम्बन्ध रहने पर ही इसे अर्थालंकार मे गिना जाता है, अन्यथा यह शब्दालंकार होता है। भामह, रुद्रट, मम्मट, विश्वनाथ और पण्डित-राज जगन्नाथ "श्लेष" को अर्थालंकार और शब्दालंकार—दोनो—मानते है, अन्य आचार्य "श्लेष" को केवल अर्थालङ्कार मानते है।

प्रसंग मे यदि दोनो अर्थ अन्वित होते है, तब "श्लेष" होता है पर जहाँ दोनो अर्थो के न निकालने पर भी प्रसंग मे बाधा नही पहुँचती और निकालने पर अर्थ-गौरव की प्राप्ति होती है; वहाँ ध्वनि होती है।

उद्भट, रुय्यक और जयदेव के अनुसार "श्लेष" के ३ भेद है। वामन इसके ८ भेद करते है।

उद्भट के अनुसार "श्लेष" जहाँ आता है, वहाँ अन्य अलकारो को समाप्त कर देता है, मम्मट और वामन के अनुसार अन्य अलकार, यदि हों, माने जायेंगे; "श्लेष" नही तथा शेष आचार्य "श्लेष" को कभी प्रबल, कभी अप्रबल और कभी सकीर्ण मानते है।

"समासोक्ति", "अप्रस्तुत-प्रशंसा" तथा "भंग श्लेष" से इसका अन्तर क्रमशः ५।६२,५।६६तथा ५।६४ मे देखा जा सकता है ॥६३॥]

भङ्गश्लेषः पदस्तोमस्यैव चेत्पृथगर्थता।
अजरामरता कस्य नायोध्येव पुरी प्रिया ॥६४॥

भङ्गश्लेष इति। पदानाम्। स्तोमस्य। एव। पृथक् भिन्नः अर्थः वाच्यः यस्य सः। तस्य भावः पृथगर्थता भिन्नार्थकता। चेत् यदि (तदा)। भङ्गश्लेषः (नाम अर्थालङ्कारः स्यात्)।

(उदाहरति यथा) अजः दशरथपिता च रामः दशरथपुत्रः च अजरामौ। तयोः रता युक्ता अजरामरता। अजरः जरारहितः च अमरः मरणरहितः च अजरामरौ। तयोः भावः अजरामरता। अयोध्या। पुरी नगरी। इव। कस्य जनस्य इत्यर्थः। प्रिया हृद्या। न। अपि तु सर्वस्य एव प्रिया ॥६४॥

यदि पद-समूह का ही अर्थ भिन्न-भिन्न हो तो "भंग श्लेष" होता है।

अजरामरता (अजरता-अमरता अथवा अज और राम से युक्त) अयोध्या नगरी की भाँति किसे प्यारी नही लगती है (;अपि तु सबको प्यारी लगती है) ॥६४॥

[उदाहरण मे "अजरामरता" एक पद है; इसके टुकडे अलग-अलग करने पर एक बार मे एक से ही अन्वित होंगे। पूरा पद ही दोनो ओर अन्वित होता है। ऐसी स्थिति मे "भङ्ग-श्लेप" है। अजरामरता का अर्थ अजरता और अमरता होने पर यह कर्त्ता कारक भाव-वाचक संज्ञा है और "अज तथा राम में रत" अर्थ लगाने पर यह पद अयोध्या का विशेषण है।

"भङ्ग श्लेष" जतु-काष्ठ-न्याय के अनुसार होता है, ऐसा साहित्य-दर्पणादि में मिलता है। जैसे काठ पर लाख लगी होने पर दोनो का रूप एक-सा दिखता है पर अलग भी किया जा सकता है; उसी प्रकार पद (यहाँ "अजरामरता") एक रहता है पर उसके भाग आवश्यकता पड़ने पर कर लिये जाते है।

इसे "सभङ्ग श्लेष" भी कहते है।

"खण्ड श्लेष" मे किसी पद के खण्ड के एक से अधिक अर्थ होते है जब कि "भङ्ग-श्लेप" मे पद के ही भिन्न-भिन्न अर्थ होते है ॥६४॥]

अर्थश्लेपोऽर्थमात्रस्य यद्यनेकार्थ - संश्रयः।
कुटिलाः श्यामला दीर्घाः कटाक्षाः कुन्तलाश्च ते ॥६५॥

अर्थश्लेष इति। अर्थमात्रस्य वाच्यस्य एव। यदि चेत्। अनेके बहवः च ते अर्थाः वाच्याः च। तेपा संश्रयः अन्वयः। (तदा) अर्थश्लेषः (नाम अर्थालङ्कारः भवति)।

(उदाहरति यथा) कटाक्षाः अपाङ्गदृष्टयः। कुन्तलाः केशाः। च। ते तव। कुटिलाः वङ्किमाः। श्यामला कृष्णाः। दीर्घाः लम्बाः (च) ॥६५॥

अगर केवल एक अर्थ का अनेक अर्थो से सम्बन्ध हो तो "अर्थ श्लेप" (-नामक अर्थालङ्कार) होता है।

(उदाहरणः—) तुम्हारे कटाक्ष और बाल टेढ़े, काले और लम्बे है ॥६५॥

[यहाँ "कुटिल" पदार्थ का सम्बन्ध "कटाक्ष" तथा "कुन्तल"—इन

दो—अर्थो से है; यही "श्यामल" और "दीर्घ" पदों के सम्बन्ध मे भी घटता है, अतः इन तीनो मे "अर्थ-श्लेप"-नामक अलङ्कार है।

यद्यपि अर्थालङ्कार मे ही ऊपर के दो अलङ्कार "खण्ड-श्लेष" तथा "भङ्ग-श्लेष" की गणना की गई है, किन्तु उनमे शब्द की भी मदद ली गई है, अतः उनमें "अर्थ" शब्द उतना नहीं बैठता जितना इस अलङ्कार "अर्थ-श्लेष" मे। यहाँ कुटिल, श्यामल और दीर्घ— इन ३—पदो मे अर्थ-"श्लेप" है और तीनो ऐसे है जिन्हे बदलकर उनके स्थान पर पर्याय-वाची शब्द रख देने से भी कोई फर्क नही पडता; वक्र, बंकिम, अराल आदि, कृष्ण, शिति, असित आदि और लम्ब, अनल्प, विस्तृत आदि पर्याय-वाची शब्द भी बैठ जायेगे। इसके विपरीत ऊपर के दो श्लेपो मे शब्दो के हटते ही "श्लेष" समाप्त हो जाता है ॥६५॥]

अप्रस्तुतप्रशंसा स्यात्सा यत्र प्रस्तुतानुगा।
कार्यकारणसामान्यविशेषादेरसौ मता ॥६६॥

अप्रस्तुतेति। यत्र यस्मिन् स्थाने। अप्रस्तुतप्रशंसा न प्रस्तुतम् प्रकृतम् अप्रस्तुतम् अप्रकृतम् तस्य प्रशंसा। वर्णनम्। प्रस्तुतानुगा प्रस्तुतस्य प्रकृतस्य अनुगा अनुगामिनी (तत्र)। सा प्रसिद्धा अप्रस्तुत-प्रशंसा (नाम अर्थालङ्कार) स्यात् भवेत्। असौ सा अप्रस्तुतप्रशंसा। कार्यं च कारणं च सामान्यं च विशेषः च आदौ आरम्भे तस्मात् सम्बन्धात्। आदिपदात् सारूप्यनिवन्धनं ग्रहणीयम् ॥६६॥

जहाँ अप्रकृत का वर्णन प्रकृत (वर्णन) का अनुगामी होता है, वहाँ प्रसिद्ध अप्रस्तुत-प्रशंसा (-नामक अर्थालङ्कारः) होती है। कार्य, कारण, सामान्य, विशेष आदि (=सारूप्य-निबन्धन) (के सम्बन्ध) से वह ("अप्रस्तुत-प्रशंसा") मानी गई है ॥६६॥

[मूल में "प्रशंसा" का अर्थ वर्णन है; यदि "सराहना" अर्थ लेंगे तो अप्रस्तुत की निन्दा होने पर परिभाषा की अव्याप्ति का प्रसंग उपस्थित होगा। हिन्दी मे इसके लिये "अन्योक्ति" नाम प्रचलित है। "अन्यापदेश" नाम भी संस्कृत मे प्रयुक्त होता है।

अभिधा से अप्रस्तुत का वर्णन किया जाता है और व्यञ्जना से प्रस्तुत का अर्थ ध्वनित होता है। अप्रस्तुत और प्रस्तुत मे कोई सम्बन्ध होने पर ही अर्थ प्रस्तुत परक होगा; तदर्थ कार्य, कारण आदि के सम्बंधो को प्रतीति का वर्णन उत्तरार्ध मे किया गया है। कुवलयानन्द में सहोत्पत्ति आदि अन्य संबंधी भी उदाहरण सहित दिये गये है। प्रस्तुत व्यङ्ग्य होने पर भी वाच्य अर्थ का पोषक बनकर गुणीभूत हो जाता है, अतः ध्वनि की स्थिति नही होती।

कुवलयानन्द मे इसके आगे "प्रस्तुताङ्कुर" नामक अर्थालङ्कार अधिक कहा गया है।

काय, कारण, सामान्य तथा विशेष का अर्थ क्रमश. है (१) कार्य-कारण-सम्बन्ध, (२) कारण-कार्य-सम्बन्ध, (३) सामान्य-विशेष-सम्बन्ध तथा (४) विशेष-सामान्य-सम्बन्ध। इन जोडो मे पहला अप्रस्तुत और दूसरा प्रस्तुत होगा। पाचवा सम्बन्ध "सारूप्यनिबन्धन" मे एक वस्तु अप्रस्तुत और उससे मिलती-जुलती दूसरी वस्तु प्रस्तुत होगी। अन्तिम भेद व्यापक माना जा सकता है।

दण्डी ने "अप्रस्तुत-प्रशंसा" केवल उस स्थिति मे मानी है जहां अप्रस्तुत की सराहना हो। अभिनव गुप्त ने सर्व-प्रथम ५ भेद निकाले। मम्मट, रुय्यक आदि ने उपभेदो से संख्या बढ़ाई। विश्वनाथ ने संख्या और बढ़ाकर २१ कर दी।

"पर्यायोक्ति" मे वाच्य तथा व्यङ्ग्य दोनो अर्थ प्रस्तुत (वर्णन या प्रसंग में) होते है जब कि "अप्रस्तुत-प्रशसा" में व्यङ्ग्य अर्थ ही अप्रस्तुत (वर्णन में) होता है और वाच्य अर्थ प्रस्तुत (वर्णन में), "पर्यायोक्ति" में व्यङ्ग्य, वाच्य-परक होता है जब कि "अप्रस्तुत प्रशसा" मे वाच्य व्यङ्ग्य-परक।

"व्याज स्तुति" मे अप्रस्तुत की निन्दा से प्रस्तुत की प्रशंसा और अप्रस्तुत की प्रशसा से प्रस्तुत की निन्दा होती है, "अप्रस्तुत-प्रशंसा" ऐसी स्थिति में नहीं मानी जायेगी।

"समासोक्ति", "श्लेष" तथा "दृष्टान्त" से "अप्रस्तुत-प्रशंसा" का अन्तर क्रमशः ५।६३, ५।६२ तथा ५।६५ मे देखा जा सकता है ॥६६॥]

कमलैः कमलावासैः किं किं नासादि सुन्दरम् ।
अप्यम्बुधे परं पारं प्रयान्ति व्यवसायिनः ॥ ६६ ॥

कमलैरिति । अप्रस्तुत-प्रशंसामुदाहरति यथा । **कमलायाः** लक्ष्म्याः । **अवासैः** आश्रयभूतैः । **कमलैः** पङ्कजैः । **किं** किम् सुन्दरम् मञ्जुलम् । **वस्तु** इत्यर्थः । **न** । **आसादि** प्राप्तम् अपि तु सर्वम् एव वस्तु प्राप्तम् ।

(द्वितीयम् उदाहरणं यथा) **व्यवसायिनः** उद्योगिनः । **अम्बुधेः** समुद्रस्य । **अपि** । **परम्** अपरम् । **पारं** तटम् । **प्रयान्ति** गच्छन्ति ॥६७ ॥

(उदाहरण :–) लक्ष्मी के आश्रय-स्वरूप कमलों ने कौन-कौन सुन्दर वस्तु नही प्राप्त की (अर्थात् सभी वस्तुये प्राप्त की) ।

(उदाहरण :–) उद्योगी (पुरुष) समुद्र के भी दूसरे किनारे पर पहुँच जाते है ॥ ६७ ॥

[पहले उदाहरण मे कमल का वर्णन है जिससे सुन्दरो के कमल-तुल्य अङ्गो— मुख, नेत्रो, हाथो और पैरो का प्रस्तुत वर्णन होता है । "कमलावास" विशेषण भी बैठ जाता है, क्योकि वे लक्ष्मी (शोभा) के निधान हैं । दूसरा प्रस्तुत अर्थ "कमलावास" विशेषण के कारण धनिक भी हो सकता है । प्रसग न मालूम होने पर अनेक अर्थ प्रस्तुत-रूप मे लिये जा सकते है ।

दूसरे उदाहरण मे उद्योगी के लिये "सभी कार्य संभव हैं" • इस समान्य प्रस्तुत अर्थ की पुष्टि करने के लिये अप्रस्तुत अर्थ आया है ॥ ६७ ॥]

भवेदर्थान्तरन्यासोऽनुषक्तार्थान्तराभिधा ।
हनूमानब्धिमतरद् दुष्करं किं महात्मनाम् ॥ ६८ ॥

भवेदिति । अन्यः इतरः अर्थः वाच्यः **अर्थान्तरम्** । **अनुषक्तम्** सम्बद्धम् (प्रस्तुतेन) च तत् **अर्थान्तरं** (अप्रस्तुतम्) च तस्य **अभिधा** नामोल्लेखः । **अर्थान्तरन्यासः** (नाम अर्थालङ्कारः) **भवेत्** स्यात् ।

(उदाहरति यथा) **हनूमान्** मारुतिः । **अब्धिं** समुद्रम् । **अतरत्** उत्तीर्णः । **महात्मनाम्** महापुरुषाणाम् । **किं** कार्यमित्यर्थः । **दुष्करं** कर्तुम् अशक्यम् । न किमपि इत्यर्थ ॥ ६८ ॥

मुख्य अर्थ से सम्बद्ध (या उसका समर्थन करने वाले) अन्य अर्थ का नामोल्लेख, "अर्थान्तर-न्यास" (-नामक अर्थालङ्कार) होता है ।

(उदाहरण :–) हनुमान् ने समुद्र पार किया। महापुरुषों के लिये क्या करना कठिन है (;कोई काम करना कठिन नही) ॥ ६८ ॥

[अनुपक्त का अर्थ प्रस्तुत अर्थ से सम्बद्ध और अर्थान्तर का अर्थ अप्रस्तुत अर्थ है।

उदाहरण मे तृतीय चरण में कही गई विशेष बात "हनुमान् ने सागर पार किया" का समर्थन सामान्य बात–"महापुरुषो के लिये क्या कठिन है"–से किया गया है। इनमे पहली बात प्रस्तुत है और दूसरी अप्रस्तुत। यह भी कहा जा सकता है कि सामान्य बात का समर्थन विशेष बात क उदाहरण से किया गया है। "प्रस्तुत सामान्य बात है और अप्रस्तुत विशेष बात" यह भी कहा जा सकता है क्योकि प्रकरण का अभाव है।

अर्थान्तर का अर्थ "प्रस्तुत का समर्थक अप्रस्तुत अर्थ" और न्यास का अर्थ "समर्थन" है। इस प्रकार यह अलङ्कार-नाम सार्थक है।

दूसरा प्रचलित भेद वह है जहाँ सामान्य प्रस्तुत होता है और विशेष अप्रस्तुत तथा समर्थक। सामान्य और विशेष इतनी आसानी से पहचान लिये जाते है कि किसी को पहले रखने से कोई हानि नही होती पर प्रायः सामान्य को अंत में रखना प्रचलित है।

"क्योकि" के द्योतक शब्दों से समर्थक बात प्रायः दी जाती है। इसी आधार पर उद्भट ने भेद किये हैं। इस आधार पर भेद करने मे कोई विचित्रता नही है, अतः रुय्यक ने इसका खण्डन किया है। यहाँ "अर्थान्तर न्यास" के भेद नहीं दिये हैं। रुय्यक और विश्व-नाथ ने ८ तथा मम्मट और पण्डित-राज जगन्नाथ ने केवल ४ भेद माने हैं।

यह अलङ्कार कवियो तथा जनता मे बहुत प्रिय है। अकसर इस अलङ्कार का समर्थक या समर्थ्य अङ्ग लोकोक्ति के रूप में प्रचलित हो जाता है।

"काव्य लिङ्ग", "निदर्शना", "दृष्टान्त" और "प्रतिवस्तूपमा" से इस अलङ्कार का अन्तर क्रमशः ५।३८, ५।५७, ५।५६ तथा ५।५५ में देखा जा सकता है ॥ ६८ ॥]

यस्मिन् विशेषसामान्यविशेषाः स विकस्वरः ।
स न जिग्ये महान्तो हि दुर्धर्षाः क्ष्माधरा इव ॥ ६९ ॥

यस्मिन्निति । **यस्मिन्** यत्र (अर्थालङ्कारे) । **विशेषस्य** । समर्थकत्वेन । **सामान्यं** च **विशेषः** च (भवतः) । **सः** असौ **विकस्वरः** (नाम अर्थालङ्कारः भवति) ।

(उदाहरति यथा) **सः** असौ प्रस्तुतः इत्यर्थः । **न** । **जिग्ये** पराजितः अभूत् । **महान्तः** महापुरुषाः । **हि** निश्चयेन यतः वा । **क्ष्माधराः** पर्वताः । **इव** । **दुर्धर्षाः** दुर्जेयाः ॥ ६९ ॥

जिस (अर्थालङ्कार)- मे विशेष के (समर्थक) सामान्य और विशेष होते है, वह "विकस्वर" होता है ।

(उदाहरण :–) वह पराजित नही हुआ क्योकि (निश्चय ही) महापुरुष पहाड़ों की तरह दुर्जेय होते है ॥ ६९ ॥

[उदाहरण में विशेष वर्णन "वह पराजित नहीं हुआ" है । इसका समर्थन करने वाले दो वाक्य है (१) "महापुरुष दुर्जेय होते है" (यह सामान्य वाक्य है) तथा (२) "जैसे पहाड दुर्जेय होते है (यह विशेष वाक्य है) ।

जयदेव की भाँति अप्पय्य दीक्षित भी यह अलङ्कार स्वीकार करते है किन्तु उत्तरार्ध का उदाहरण बहुत ठीक नहीं मानते । अन्य आचार्यो ने इस अलङ्कार को माना ही नहीं है । पण्डित-राज जगन्नाथ ने इस अलङ्कार का खण्डन करते हुए कहा है कि यह अलङ्कार "अर्थान्तर-न्यास" या "उपमा" में गतार्थ हो जाता है क्योंकि यह अनुग्राहक (सहायक) मात्र है; यदि इस अलङ्कार को मानेंगे तो आपत्ति यह आयेगी कि "उपमा" के अन्तर्गत जहाँ-जहाँ अनुग्राह्य-अनुग्राहक भाव होगा, वहाँ-वहाँ नये-नये भेद बनाने होंगे ।

"विकस्वर" का अर्थ है "विकसित" । यहाँ विशेष अर्थ के विकास के लिये सामान्य (अर्थ) तथा विशेष अर्थ की सहायता ली जाती है । विशेष अर्थ उपमालङ्कार की तरह होता है । इस प्रकार बीच मे सामान्य अर्थ और

दोनो ओर विशेष अर्थ होते है जिनमे एक (प्रायः पहला) प्रस्तुत होता है ॥६९॥]

कार्याद्यैः प्रस्तुतैरुक्ते पर्यायोक्ति प्रचक्षते ।
तृणान्यङ्कुरयामास विपक्षनृपसद्मसु ॥ ७० ॥

कार्याद्यैरिति । प्रस्तुतैः प्रकर्पेण उक्तैः । कार्यम् आद्यम प्रथमं यत्र तैः कार्याद्यैः । उक्ते कथिते कारणाद्ये इत्यर्थः । पर्यायोक्तिम् (नाम अर्थालङ्कारम्) । प्रचक्षते कथयन्ति । विद्वांसः इति शेषः ।

(उदाहरति यथा) (हे राजन् भवान्) विपक्षे शत्रुपक्षे । ये नृपाः राजानः । तेषां सद्मसु गृहेषु । तृणानि घासान् । अङ्कुरयामास उत्पादयामास ॥ ७० ॥

कार्य आदि से (कारणादि का) कथन होने पर (विद्वान्) "पर्यायोक्ति" कहते हैं ।

(उदाहरण :–) (हे महाराज, आपने) विपक्ष के राजो के घरों में घास उगा दी है ॥ ७० ॥

["उक्ते" का अर्थ "प्रस्तुत कारण आदि अर्थो का कथन" लगाया जाता है ।

"पर्याय" का अर्थ प्रकार है। "दूसरे प्रकार से कहने" के अर्थ मे "पर्यायोक्ति" का प्रयोग होता है। इस अलङ्कार मे व्यङ्ग्य अर्थ को दूसरे प्रकार से कहकर वाच्य बना देते हैं। उदाहरण मे व्यङ्ग्य अर्थ है "आपने दुश्मनों को नष्ट करने के आपके उपाय फल दे रहे है" जिसे वाच्य रूप मे वर्णित किया गया है । वाच्य का आशय है कि घास अङ्कुरित हो गई है अर्थात् दुश्मन भाग गये है जिससे घर की घास साफ नही हो पाती या भूमि प्रायः न कचरी जाने या पक्के भाग टूटने से घास उग रही है और दुश्मनों के घर सूने हो जाने से कोई व्यवस्था करने वाला नही है ।

एक शंका यह की जाती है कि व्यङ्ग्य अर्थ वाच्य कैसे हो सकता है। इसका समाधान यह है कि जैसे यावक, कुसुम्भ, जपा तथा दाड़िमी के फूल

लाल होते हैं और उनकी ललाई का अन्तर देखने से मालूम हो सकता है पर वाच्य रूप में भी रखा जा सकता है। इसी प्रकार एक ही अर्थ वाच्य और व्यङ्ग्य दोनों हो सकता है।

एक शंका और की जाती है कि वाच्य से व्यङ्ग्य को कैसे अलग करते हैं। इसका समाधान यह है कि "सफेद गाय चलती है" वाक्य कहने पर सफेद और गाय विशेषण और विशेष्य को अलग कर दिया जाता है, यद्यपि देखने वाला सफेद और गाय को एक पदार्थ के रूप में देखता है, अलग-अलग नहीं।

कुवलयानन्द का "प्रस्तुताङ्कुर", इसी अलङ्कार के अन्दर आता है। कुवलयानन्द की परिभाषा दूसरे ढंग की है; उसके अनुसार भिन्न भङ्गी से व्यङ्ग्य का कथन "पर्यायोक्त" है। साथ ही एक दूसरी परिभाषा भी दी है कि "बहाने से इष्ट सिद्ध करना भी 'पर्यायोक्त' है" इस अलंकार का दूसरा नाम "पर्यायोक्त" भी मिलता है। भामह से लेकर सभी आचार्यों ने इस अलंकार का उल्लेख किया है। रुय्यक, विद्याधर, विद्यानाथ और विश्वनाथ इस अलंकार की स्थिति तब मानते हैं जब प्रस्तुत कार्य से प्रस्तुत कारण का बोध हो। जगन्नाथ पण्डित-राज ने इसके अनन्त भेद मानते हुए भी तीन प्रमुख भेद माने हैं (१) प्रस्तुत कार्य से प्रस्तुत कारण की व्यञ्जना, (२) प्रस्तुत कारण से प्रस्तुत कार्य की व्यञ्जना तथा (३) सम्बन्धी से सम्बन्धी की व्यञ्जना। जयदेव को भी ये भेद न्यूनाधिक रूप में स्वीकार्य हैं, ऐसा "आद्य" पद से प्रतीत होता है।

"व्याज-स्तुति" में निन्दा से स्तुति और स्तुति से निन्दा का अर्थ व्यङ्ग्य होता है, "पर्यायोक्ति", इस क्षेत्र को निकालकर मानी जा सकती है। "व्याज-स्तुति" को यदि अलग अलंकार न माना जाय तो इसका "पर्यायोक्ति" में अन्तर्भाव हो सकता है।

"अप्रस्तुत-प्रशंसा" से इसका अन्तर ५।६६ में देखा जा सकता है ॥७०॥]

उक्तिर्व्याजस्तुतिर्निन्दास्तुतिभ्यां स्तुतिनिन्दयोः ।
कस्ते विवेको नयसि स्वर्गं पातकिनोऽपि यत् ॥ ७१ ॥

ऊक्तिरिति। निन्दा गर्हणा च स्तुतिः प्रशंसा च। ताभ्यां करणाभ्याम्। क्रमेण स्तुतिः च निन्दा च तयोः। उक्तिः कथनम्। व्याजस्तुतिः (नाम अर्थालङ्कारः भवति)।

(उदाहरति यथा) विवेकः विचारः। ते तव। कः कीदृशः। यत्। पातकिनः पापिनः। अपि। स्वर्गं देवलोकम्। नयसि प्रापयसि ॥ ७१ ॥

निन्दा तथा स्तुति से क्रमशः स्तुति और निन्दा का कथन, "व्याज-स्तुति" (-नामक अर्थालङ्कार) है।

(उदाहरण :–) (यह) तुम्हारा विवेक क्या है जो पापियो को भी स्वर्ग ले जाते हो ॥ ७१ ॥

[निन्दा करने पर स्तुति और स्तुति करने पर निन्दा अर्थ निकलने पर यह अलङ्कार होता है।

व्याज का अर्थ है छल। छल से स्तुति करने का अर्थ है निन्दा से स्तुति या स्तुति से निन्दा विवक्षित होना; छल से (निन्दा को छिपाकर) स्तुति करना (व्याजेन स्तुतिः) या (स्तुति को छिपाकर) निन्दा करना अर्थ निकल सकता है (व्याजरूपा स्तुतिः)। दूसरा अर्थ "स्तुति" का अर्थ "वर्णन" मानने पर भी निकल सकता है।

उदाहरण मे भगवान् (या देवी) की निन्दा की गई है कि आप पापियों को भी स्वर्ग ले जाते है; विवेक-शील नही है। इससे यह अर्थ भी लगाया जा सकता है कि यह स्नेह का उलाहना है या निन्दा के रूप में प्रशंसा द्योतित करना है। इससे उलटे पतित-पावनता रूपी लोकोत्तर महिमा का बोध होता है।

जिसकी निन्दा उसी की स्तुति होने पर समान विषयक "व्याज-स्तुति" पण्डित-राज जगन्नाथ ने मानी है। अप्पय्य दीक्षित ने "व्याज-निन्दा" नामक एक नया अलङ्कार दिया है जिसका अन्तर्भाव "अप्रस्तुत-प्रशंसा" में किया जाता है।

उपर्युक्त प्रकार से इस अलङ्कार के २ भेद होते है जो प्रचलित हैं। भामह, दण्डी, वामन और उद्भट ने उस निन्दा के होने पर ही यह अलङ्कार माना है जिसका अर्थ प्रशंसा-परक होता है। इस तरह, उनके अनुसार दूसरा भेद नहीं

होता। दण्डी ने कुछ भेदों का वर्णन करते हुये अनन्त भेदो की संभावना व्यक्त की है और अप्पय्य दीक्षित इसके ५ भेद स्वीकार करते है।

"पर्यायोक्ति" और "अप्रस्तुत-प्रशसा" से इसका अन्तर क्रमशः ५।७० तथा ५।६६ मे देखा जा सकता है ॥७१॥]

आक्षेपस्तु प्रयुक्तस्य प्रतिषेधो विचारणात्।
चन्द्र संदर्शयात्मानमथवास्ति प्रियामुखम् ॥७२॥

आक्षेप इति। **प्रयुक्तस्य** कृतप्रयोगस्य उपमानत्वेन इत्यर्थः। **विचारणात्** विवेकात् विशेषपर्यालोचनात्। **प्रतिषेधः** निषेधः। **तु**। **आक्षेपः** (नाम अर्थालङ्कारः भवति)।

(उदाहरति यथा) (हे) **चन्द्र** चन्द्रमः। सम्बुद्धौ। **आत्मानं** स्वस्य रूपम्। **संदर्शय** प्रदर्शय। **अथवा** यद्वा (अलम् आत्मप्रदर्शनेन) **प्रियायाः** नायिकायाः **मुखम्** वदनम्। **अस्ति**। एव इति शेषः ॥७२॥

जिस (उपमान का) प्रयोग हुआ है, उसका पर्यालोचन-पूर्वक निषेध, "आक्षेप" (-नामक अर्थालङ्कार) है।

(उदाहरण —) हे चन्द्रमा, अपना रूप दिखाओ या (जाने दो) प्रेयसी का मुँह (तो) है (ही) ॥७२॥

[उपमान का निषेध कर उपमेय से ही संतुष्टि इस अलङ्कार मे तब प्राप्त की जाती है जब उपमेय को उपमान से बढकर नही तो घटकर भी नहीं स्वीकार किया जाता। इसका अर्थ यह हुआ कि उपमान, उसके सारे गुण उपमेय मे मिलने से, व्यर्थ हो जाता है, अत: छोड दिया जाता है।

उदाहरण मे पहले उपमान चन्द्र का वर्णन किया गया; फिर उसका निषेध कर उपमेय कामिनी-मुख को पर्याप्त बताया गया।

काव्यादर्श और अलङ्कार-सर्वस्व मे इसके अनेक भेद आये है, साहित्य-दर्पण मे ४ भेद दिये गये है, यहाँ भेद नही दिये है और साधारणत: इसके २ भेद दिये जाते है। वामन ने इस अलंकार का नाम दिया है पर परिभाषा के अनुसार उनका

"आक्षेप", "प्रतीप" या "समासोक्ति" मे अन्तर्भूत हो सकता है। पण्डित-राज जगन्नाथ ने सभी भेदों का उदाहरण प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है।

उपमान का निषेध केवल दिखावा-मात्र है, विवक्षित नही; विवक्षित है उपमेय की श्रेष्ठता या समकक्षता दिखाना।

क्षेप का अर्थ फेंकना है· आक्षेप का अर्थ भी फेकना हो सकता है। इसमे उपमान को (तिरस्कार-पूर्वक) फेक दिया जाता है, अतः यह "आक्षेप" नाम से वर्णित किया जाता है ॥७३॥]

गूढाक्षेपो विधौ व्यक्ते निषेधे चास्फुटे सति।
हर सीतां सुखं किं तु चिन्तयान्तकढौकनम् ॥७३॥

गूढाक्षेप इति। **विधौ** विधिवाक्ये। **व्यक्ते** स्पष्टे। **निषेधे** निषेधवाक्ये। च। **अस्फुटे** अस्पष्टे। **सति** भूते। **गूढाक्षेपः** (नाम अर्थालङ्कारः भवति)।

(उदाहरति यथा) **सीतां** जानकीम्। **सुखं** सुखपूर्वकम्। **हर** चोरय। **किं** परम्। **तु**। **अन्तकस्य** यमस्य। **ढौकनं** गतिम्। **चिन्तय** मनसि कुरु ॥७३॥

विधि (जिसमे निषेध न हो) के प्रगट होने और निषेध (मना करना) के स्पष्ट रूप मे प्रगट न होने पर "गूढाक्षेप" (-नामक अर्थालङ्कार) होता है।

(उदाहरणः—) सीता को सुख-पूर्वक चुरा लो परन्तु यम की गति का विचार करो ॥७३॥

["गूढाक्षेप" नाम से ऐसी प्रतीति हो रही है कि यह आक्षेप का भेद है पर परिभाषा मे बहुत अन्तर होने से इसे भेद के रूप मे नहीं माना जा सकता।

श्लोक के अन्तिम चरण मे निषेध है पर स्पष्ट नही; व्यञ्जना से किसी तरह उसे निकाला जायेगा। "यम की गति का विचार करो" से "पर-पत्नी का हरण करने से यम मारकर नरको में सडा डालेंगे, अतः ऐसा कुकृत्य मत करो" अर्थ निकलेगा। श्लोक के तृतीय चरण में विधि-वाक्य है।

"नही" "मत" आदि निषेधार्थक शब्दों से युक्त वाक्य निषेधार्थक और तद्विपरीत विध्यर्थक होते है।

कुवलयानन्द में इसे "विध्याभास-रूप आक्षेप" के नाम से उल्लिखित किया गया है।

यह रावण के प्रति मारीच या सीता जी की उक्ति हो सकती है। प्रसंग न होने से ठीक-ठीक कुछ नहीं कहा जा सकता।

अस्पष्ट निषेध वाला, वाक्य बाद में भी आ सकता है।

गूढ का अर्थ गुप्त रूप से अर्थात् अस्पष्ट और आक्षेप का अर्थ निषेध लगाकर नाम की सार्थकता समझी जा सकती है ॥७३॥]

विरोधोऽनुपपत्तिश्चेद् गुणद्रव्यक्रियादिषु।
अमन्दचन्दनस्यन्दः स्वच्छन्दं दन्दहीति माम् ॥७४॥

विरोध इति। गुणः च द्रव्यं च क्रिया च गुणद्रव्यक्रियाः। ताः आदौ आरम्भे येषां तेषु। आदिपदेन जातेः ग्रहणम्। **अनुपपत्तिः** असङ्गतिः। चेत् यदि (तदा)। **विरोधः** (नाम अर्थालङ्कारः भवति)।

(उदाहरति यथा) **अमन्दः** शीघ्रः च सः **चन्दनस्यन्दः अमन्दचन्दनस्यन्दः।** **चन्दनस्य** मलयजस्य। **स्यन्दः** सेकः। **स्वच्छन्दम्** अमितम्। **माम्** इमम् जनम्। **दन्दहीति** अतिशयेन दहति ॥७४॥

यदि गुण, द्रव्य, क्रिया आदि (=, जाति) के विषय में असंगति हो तो "विरोध" (-नामक अर्थालङ्कार) होता है।

(उदाहरणः—) चन्दन का तीव्र प्रवाह मुझे उद्दाम गति से विशेष दग्ध कर रहा है ॥७४॥

[अमन्द, चन्दन, चन्दनत्व और स्यन्द (बहना), क्रमशः गुण, द्रव्य, जाति तथा क्रिया के वाचक हैं। इनके होने पर दाह घटना चाहिये पर बढ़ रहा है जिससे असंगति (ठीक न बैठना या विरोध) की स्थिति पैदा हो रही है। उक्त की संगति "दन्दहीति" क्रिया के साथ नहीं बैठती।

उक्त बात विरहिणी के बारे में कही गई है; यह प्रतीति होते ही विरोध मिट जाता है पर वाच्यार्थ में संगति नहीं बैठती, अतः "विरोध" अलङ्कार है। अप्पय्य दीक्षित इसे "विरोधाभास" कहते हैं क्योंकि विरोध वास्तविक नहीं होता, केवल विलक्षणता लाने के लिये असंगति दिखाई जाती है।

रुय्यक, रुद्रट और जगन्नाथ पण्डित-राज इसके क्रमशः १०, १२ और २ भेद करते है। साधारणतः इसके भेद नही किये जाते। पण्डित-राज के दूसरे भेद—"श्लेषमूलक विरोध"—की चर्चा रुद्रट और जयदेव ने "विरोधाभास" के नाम से की है।

"अधिक" मे आधार की अपेक्षा आधेय की न्यूनता या अधिकता का वर्णन किया जाता है जब कि ऐसा नियम "विरोध" के लिये लागू नही होगा। "विरोध" व्यापक है जिसके एक अंश से "अधिक" बनता है। "अधिक" का क्षेत्र हटाकर विरोध की स्थिति स्वीकार करनी पड़ेगी। "विरोध" मे जोर असङ्गत पदो की संगति पर होता है और "अधिक" मे आधार और आधेय पर।

"विभावना" और "विशेषोक्ति" मे कार्य-कारण-भाव होता है जो इस अलङ्कार मे नही होता; इसका अन्तर "विरोधाभास" से ५।७५ मे, "विशेष" से ५।८५ मे, "विषम" से ५।८० मे और "असंगति" से ५।९७ मे देखा जा सकता है ॥७४॥]

श्लेषादिभूर्विरोधश्चेद्विरोधाभासता मता।
अप्यन्धकारिणाऽनेन जगदेतत्प्रकाश्यते ॥७५॥

श्लेषादिभूरिति। **विरोधः** असंगतिः। **श्लेषः आदौ** आरम्भे यस्य। तस्मात् भवतीति **श्लेषादिभूः।** **चेत्** यदि (तदा)। **विरोधाभासता** (नाम अर्थालङ्कारः) **मता** कथिता।

(उदाहरति यथा) **अनेन** पुरोवर्त्तिना। **अन्धकारिणा** **अन्धं** नेत्ररहितं **करोति** विदधाति इति **अन्धकारी** अन्धताकारकः तेन। विरोधस्य परिहारः। "**अन्धकस्य** तन्नाम्नः असुरस्य **अरिणा** शत्रुणा रुद्रेण इत्यर्थः" इत्यनेन विग्रहेण भवति। **एतत्** दृश्यमानम् इत्यर्थः। **जगत्** संसारः। **प्रकाश्यते** दीप्यते ॥७५॥

यदि श्लेष आदि से उत्पन्न होने वाला विरोध हो तो "विरोधाभासता" (-नामक अर्थालङ्कार) होती है।

(उदाहरणः—) इस अन्धक-अरि (महादेव) या अन्ध-कारी (अन्धा बनाने वाले) के द्वारा यह ससार प्रकाशित किया जा रहा है ॥७५॥

[श्लेष की स्थिति पकड़ते ही विरोध नष्ट हो जाता हैं, अतः इस अलङ्कार का नाम "विरोधाभासता" है। विरोधाभास नाम प्रसिद्ध है; "उसका भाव" अर्थ मे तल् प्रत्यय करने से "विरोधाभासता" शब्द बनेगा जिसका अर्थ होगा विरोधाभास का भाव।

"आभास" का अर्थ है भ्रम। जहाँ विरोध नही है, केवल भ्रम के कारण विरोध प्रतीत होता है, वहाँ "विरोधाभास" की स्थिति होगी। "आ" का अर्थ "ईषत्" (थोडा) और "भास" का अर्थ "प्रगट होना" है। इस तरह यह, थोडा ही विरोध प्रगटकर भ्रम पैदा करता है।

"विरोधाभास" मे विरोध प्रायः "अपि" के द्वारा प्रगट किया जाता है और उसका परिहार होने पर वह "अपि" व्यर्थ हो जाता है।

इस अलङ्कार का नाम "विरोध", अधिक प्रचलित है। इसमे "विरोध" को भी सम्मिलित कर लेने पर एक अलङ्कार हो सकता है, जैसा अधिकतर आचार्यों ने किया है। यह नाम भी अन्वर्थ है। "आभास" देने से अर्थ है कि इसका विरोध प्रसंगानुसार अभिधा से ही दूर हो जाता है जब कि "विरोध" में वाच्यार्थ से विरोध रहता है। "विरोधाभास" मे दोनो अर्थ होते है— वास्तविक भी और भ्रामक भी; जिनमे से प्रसङ्गानुसार वास्तविक अर्थ ले लिया जाता है और भ्रामक अर्थ अलङ्कार हो जाता है।

"विरोध" और "विरोधाभास" मे अन्तर ऊपर की पंक्तियों मे दिया गया है।

"विशेषोक्ति" तथा "विभावना" मे "विरोध" अलङ्कार होते हुये भी केवल कार्य-कारण-भाव मे "विरोध" होता है; न कि अन्य क्षेत्रों मे। "विरोध" अलङ्कार मे इन दोनो का अन्तर्भाव हो सकता है। इन दोनो से बचे क्षेत्र मे "विरोध" होगा, जैसे अपवाद-नियमों के होने पर सामान्य नियम माना जाता है। "ऐसा कारण होने पर भी कार्य नही हुआ" तथा "कारण का अभाव होने पर भी ऐसा कार्य हुआ" यह अर्थ क्रमशः "विशेषोक्ति" तथा "विभावना" मे अधिक स्वाभाविक रूप से निकलता है; "विरोध" मे इतनी स्वाभाविकता से नहीं निकलता ॥७५॥]

असंभवोऽर्थनिष्पत्तावसंभाव्यत्ववर्णनम् ।
को वेद गोपशिशुकः शैलमुत्पाटयिष्यति ॥ ७६ ॥

असंभव इति । **अर्थस्य** वाच्यस्य । निष्पत्तौ सिद्धौ । **असंभाव्यत्वस्य** असंभवतायाः । **वर्णनम्** अख्यानम् । **असंभवः** (नाम अर्थालङ्कारः भवति) ।

(उदाहरति यथा) **कः** जनः इत्यर्थः । **वेद** जानाति । न कोऽपि (वेद) इत्यर्थः । **गोपस्य** अभीरस्य । **शिशुकः** अर्भकः । **शैलं** पर्वतं गोवर्धनाख्यम् । **उत्पाटयिष्यति** उत्तोलयिष्यति ॥ ७६ ॥

अर्थ की सिद्धि में असंभवता का वर्णन, "असंभव" (-नामक अर्थालङ्कार) होता है।

कौन जानता है कि अहीर का बच्चा, पहाड़ उखाड़ देगा ॥ ७६ ॥

[भगवान् श्री कृष्ण ने द्वापर-युग में इन्द्र की पूजा के स्थान पर गोवर्धन पर्वत की पूजा का प्रचलन किया था। कुपित इन्द्र के द्वारा प्रलयंकर वर्षा की जाने पर पर्वत को कनिष्ठिका (सबसे छोटी उंगली) पर उठाकर उन्होंने व्रज-वासियों की रक्षा की थी।

असंभवता का अर्थ कार्य होने में सन्देह लिया जा सकता है।

वास्तविक अर्थ "अहीर का बच्चा इतना बड़ा पहाड़ जिसे महाबली पुरुष भी नहीं उठा सकते, कैसे उखाड़ सकेगा यह असंभव है" इस तरह का अर्थ प्रगट होने से असंभाव्यता स्पष्ट है।

"पर्वत का उखाड़ना" अर्थ की निष्पत्ति है। इसमें गोप-शिशुक की सफलता की असंभाव्यता का वर्णन होने से "असंभव" अलङ्कार है।

अप्पय्य दीक्षित ने भी यह अलंकार माना है; अन्य आलंकारिक इसकी सत्ता स्वीकार नहीं करते ॥७६॥]

विभावना विनाऽपि स्यात् कारणं कार्यजन्म चेत् ।
पश्य, लाक्षारसासिक्तं रक्तं त्वच्चरणद्वयम् ॥ ७७ ॥

विभावनेति । **कारणं** निमित्तम् । **विना** अन्तरेण । **अपि** । **कार्यस्य**

फलस्य । **जन्म** उत्पत्तिः । **स्यात्** भवेत् । **चेत्** यदि (तदा) । **विभावना** (नाम अर्थालङ्कारः स्यात्) ।

(उदाहरति यथा) **पश्य** अवलोकय । **लाक्षायाः** अलक्तकस्य । **रसेन** द्रवेण । **असिक्तम्** अलितम् (अपि) । न **सिक्तम्** उक्षितम् **असिक्तम्** । **तव चरणयोः** पदयोः **द्वयम्** युग्मम् । **त्वच्चरणद्वयम्** । **रक्तं** लोहितम् (अस्ति) (इति) ॥ ७७ ॥

अगर कारण के बिना ही कार्य की उत्पत्ति हो तो "विभावना" (-नामक अलंकार) होती है ।

देखो; आलते से अलिप्त भी तुम्हारा पद-युगल, लाल है ॥ ७७ ॥

[उदाहरण मे लाक्षा-रस से सिंचित होना कारण दिखाकर उसका अभाव कर दिया गया है । "अलिप्त" के साथ "भी" विवक्षित प्रतीत होने के कारण, कारणाभाव पर जोर दिया गया है जो इस अलंकार का प्राण-भूत है । पैरो का लाल होना, कार्य है जो कारण के बिना ही सम्पन्न हो गया है, अतः यहाँ "विभावना" अलंकार है ।

यह नियम है कि पहले कारण होता है और फिर कार्य । यहाँ पहले (कारण) के अभाव में भी दूसरे (कार्य) का हो जाना "विभावना" अलंकार है ।

"विभाव्यते विचार्यते कारणं हेतुः अस्याम्"—इस—व्युत्पत्ति से "जहाँ कारण का विचार किया जाय", अर्थ निकलने से अलङ्कार नाम सार्थक हो जाता है । "कारण" की जगह कारणाभाव भी लिया जा सकता है । कारणाभाव, सम्पूर्ण कारणाभाव, प्रतिबन्धक कारण होना, जो कारण नहीं है, उससे कार्य होना, विरुद्ध कारण होना तथा कार्य से कारण होना अर्थ बैठाकर ६ प्रकार के भेद बनाये जाते है । काव्यादर्श, काव्यालंकार तथा कुवलयानन्द में इसके क्रमशः २, ३ तथा ६ भेद बताये गये हैं ।

उदाहरण का वाक्य नायिका के प्रति नायक की उक्ति हो सकता है ।

कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति असंभव है, पर कवि, अपनी प्रतिभा से उसे संभव कर दिखाता है ।

वैयाकरण कारण और कार्य के स्थान पर "क्रिया" और "फल" शब्दों का

प्रयोग करते है। भामह, उद्भट, वामन और मम्मट ने ये ही शब्द प्रयुक्त किये हैं। साहित्य मे ये शब्द प्रचलित न होने से त्याज्य है।

रुद्रट ने यह अलंकार "अतिशयोक्ति"-वर्ग मे रखा है। रुय्यक इसे सर्वत्र "अतिशयोक्ति"-युक्त मानते हैं पर जगन्नाथ पण्डित-राज इसे वैसा न मानकर कभी "अतिशयोक्ति"-रहित होना भी मानते हैं।

कही-कही इस अलंकार का निबन्धन माला-रूप मे किया जाता है; वहाँ अलंकार की श्रृंखला मिलती है ॥ ७७ ॥

"असगति", "विशेषोक्ति", "विरोध" और "विरोधाभास" से इसका अन्तर क्रमशः ५,७९, ५।७८, ५।७४ और ५।७५ मे देखा जा सकता है।

विशेषोक्तिरनुत्पत्तिः कार्यस्य सति कारणे।
नमन्तमपि धीमन्त न लङ्घयति कश्चन ॥ ७८ ॥

विशेषोक्तिरिति। कारणे निमित्ते। सति विद्यमाने। कार्यस्य फलस्य। न उत्पत्तिः जन्म अनुत्पत्तिः अनुद्भवः। विशेषोक्तिः (नाम अर्थालङ्कारः भवति)।

(उदाहरति) नमन्तम् प्रणमन्तम्। अपि। धीमन्तं बुद्धिमन्तम्। कश्चन कोऽपि जनः। न। लङ्घयति अतिक्रामति अभिभवति ॥ ७८ ॥

कारण के रहने पर (भी) कार्य का जन्म न होना, "विशेषोक्ति" (-नामक अर्थालंकार) है।

(उदाहरणः—) झुकते हुए भी बुद्धिमान् व्यक्ति को कोई नहीं लाँघ (वश में कर) सकता ॥ ७८ ॥

[कारण होने पर कार्य की उत्पत्ति होना स्वाभाविक नियम है। कार्य का न होना कवि, अपनी प्रतिभा से संभव कर दिखाता है।

उदाहरण मे बुद्धिमान् का झुकना" कारण है। जो झुक गया, उसको लाँघना (वश मे करना) बहुत आसान है पर "कोई नहीं लाँघ (वश मे कर) सकता" कहकर कार्य का अभाव दिखाया गया है।

विरोध का निवारण इस तरह किया जा सकता है कि सज्जन स्वभाव से नम्र होते है; न कि शरीर से ।

अलङ्कार-नाम मे आये "विशेष" का अर्थ "विशेष बात के लिये" लिया जाता है । यह विशेष बात अनुरागादि की विलक्षणता (के रूप मे) या कारणाभाव के रूप मे होती है ।

इस अलंकार मे विरोध की झलक पाई जाती है पर वास्तविक कारण की कल्पना करने से उसका परिहार हो जाता है ।

दण्डी, उद्भट और अभिनव गुप्त इसके क्रमशः ५, २ तथा ३ भेद करते है । मम्मट अभिनव गुप्त का और विश्वनाथ तथा जगन्नाथ पण्डित-राज उद्भट का अनुसरण करते है । वामन की "विशेषोक्ति", "रूपक" से मिलती-जुलती है, केवल नाम का ही साम्य है ।

यह अलङ्कार "विभावना" का ठीक उलटा है । उसमे कारण का अभाव होता है और इसमे कार्य का अभाव ।

"असंगति" मे कार्य की उत्पत्ति होती है पर भिन्न स्थान मे पर "विशेषोक्ति" में कार्य की उत्पत्ति ही नही होती; यही दोनो का अन्तर है । "अवज्ञा" और "अतद्गुण" से इसका अन्तर क्रमशः ५।१०७ तथा ५।१०५ में देखा जा सकता है ॥ ७८ ॥]

आख्याने भिन्नदेशत्वे कार्यहेत्वोरसङ्गतिः ।
त्वद्भक्तानां नमत्यङ्गं भङ्गमेति भवक्लमः ॥ ७९ ॥

आख्यान इति । कार्यं फलं च हेतुः कारणं च कार्यहेतू तयोः **कार्यहेत्वोः** । भिन्नः पृथक् देशः स्थानं ययोः तत्त्वे **भिन्नदेशत्वे** । **आख्याने** वर्णने । **सति** विद्यमाने । **असङ्गतिः** (नाम अर्थालङ्कारः भवति) ।

(उदाहरति यथा) तव **भक्तानाम्** उपासकानां **त्वद्भक्तानाम्** । **अङ्गं** शरीरम् । **नमति** नम्रं भवति । **भवस्य** संसारस्य । **क्लमः** क्लान्तिः । **भङ्गं** खण्डितभावं नाशम् इत्यर्थः । **एति** गच्छति ॥ ७९ ॥

कार्य और कारण के अलग-अलग स्थानों मे होने का वर्णन होने पर "असङ्गति" (-नामक अर्थालङ्कार) होती है।

(उदाहरण:—) तुम्हारे भक्तों का अङ्ग झुकता है, (और उधर) संसार की श्रान्ति का भङ्ग (टूटना या नाश) हो जाता है ॥ ७९ ॥

[उदाहरण मे "झुकना" कारण, भक्त "अङ्ग" मे विद्यमान है, फल, "भङ्ग" (टूटना या नाश) भी उसी मे मिलना चाहिये पर वह मिलता है दूसरी जगह "थकावट" मे। स्वाभाविक नियम है कि कारण और कार्य सम्बद्ध होते है, न कि संक्रान्त। यहाँ कवि- प्रतिभा से यह असङ्गति भी सङ्गति मे बदलती है। भक्तो का प्रणाम करना, सांसारिक कष्टों को दूर कर देता है।

रुद्रट ने यह अलङ्कार सर्वप्रथम उल्लिखित किया है। दण्डी ने "विरोध" अलंकार के भेद के रूप मे इसका कथन "असङ्गति-विरोध" नाम से किया है। रुद्रट ने इसे "अतिशयोक्ति"-मूलक माना है। रुय्यक इसे सर्वत्र "अतिशयोक्ति"-मूलक मानते है पर जगन्नाथ पण्डित-राज कही-कही "अति-शयोक्ति"-मूलकता न होने पर भी "असङ्गति" की सत्ता मानते है।

अप्पय्य दीक्षित इसके दो भेद मानते है।

"असंगति" मे कार्य-कारण को भिन्न-भिन्न स्थानो मे दिखाते हैं तथा कार्य-कारण-सम्बन्धी विरोध ही होता है जब कि "असंगति" में कार्य-कारण को, भिन्न-भिन्न स्थान वाले होने पर भी, एक स्थान पर दिखाया जाता है तथा कार्य-कारण सम्बन्धी विरोध के अतिरिक्त अन्य विरोध होता है।

"विभावना" मे प्रसिद्ध कारण का अभाव होता है जब कि "असंगति" मे कारण तो प्रसिद्ध होता है पर उसका कार्य दूसरी जगह दिखता है।

"असंगति" का "विशेषोक्ति" से अन्तर ५।७८ मे और "विषम" से (अन्तर) ५।८० मे देखा जा सकता है।

"अत्यन्तातिशयोक्ति" में कारण और कार्य मे काल-गत, पर "असङ्गति" में स्थान-गत व्यतिक्रम होता है ॥ ७९ ॥]

विषमं यद्यनौचित्यादनेकान्वयकल्पनम् ।
क्वातितीव्रविषाः सर्पाः क्वासौ चन्दनभूरुहः ॥ ८० ॥

विषममिति । उचितस्य समीचीनस्य भावः **औचित्यम्** । न **औचित्यम्** **अनौचित्यम्** । तस्मात् । यदि चेत् । न एकः अनेकः तस्य द्वयोः वा बहोः वा **अन्वयः** सम्बन्धः **अनेकान्वयः** । तस्य **कल्पनं** कथनम् । (तदा) **विषमम्** (**नाम** अर्थालङ्कारः भवति) ।

(उदाहरति यथा) क्व कुत्र । अतितीव्रं सुतीक्ष्णं विषं गरलं येषां ते अतितीव्रविषाः । सर्पाः भुजङ्गाः । क्व कुत्र । (च) असौ सः । चन्दनभूरुहः चन्दनाख्यः भूरुहः मलयजवृक्षः ॥ ८० ॥

यदि अनुचित रूप से या बहुत के सम्बन्ध का कथन किया जाय तो "विषम" (-नामक अर्थालंकार) होता है ।

(उदाहरण :--) कहाँ अत्यन्त तीक्ष्ण विष वाले साँप; (और) कहाँ वह चन्दन वृक्ष ॥ ८० ॥

[उदाहरण मे यह दिखाया गया है कि जहर के उत्ताप से भरे हुये साँप और शीतलता के आगार चन्दन वृक्ष का सम्बन्ध नहीं हो सकता । दोनो की चर्चा एक ही जगह आने से सम्बन्ध हो गया है जो अनुचित है, अतः "विषम" अलंकार है ।

परिभाषा की संगति, ऊपर किसी तरह बैठाई गई है । वास्तव मे उदाहरण वाक्य में दोनो का सम्बन्ध अनुचित रीति से दिखाने के स्थान पर अनुचित सम्बन्ध का खण्डन किया गया है । फिर भी खण्डन उसी वस्तु का किया जाता है जो पहले विद्यमान हो; इस तरह भी अनुचित सम्बन्ध की सत्ता निर्विवाद है।

दो बार "क्व" का प्रयोग इस तरह अलग-अलग वाक्यो मे करना मल्लिनाथ के अनुसार महान् अन्तर सूचित करता है। यह अन्तर इस प्रकार ही इस अलंकार मे सामान्य रूप से दिखाया जाता है तथा कारण के गुण (यहाँ जहर) और कार्य के गुण (यहाँ शीतलता) मे होता है।

भामह, दण्डी, उद्भट और वामन ने इस अलङ्कार की चर्चा नहीं की है तथा रुद्रट ने इसका उल्लेख पहली बार किया है।

रुद्रट इसे "अतिशयोक्ति"-मूलक मानते है।

रुद्रट, मम्मट और विश्वनाथ इसके ४ भेद मानते है और रुय्यक तथा अप्पय्य दीक्षित ३।

कार्य और कारण का अलग-अलग स्थानो मे रहना "असंगति" और अनुचित सम्बन्ध वाली दो विरोधी वस्तुओं का एक साथ रहना "विषम" है।

"विरोध" मे दो विरोधी वस्तुयें एक साथ दिखाई जाती है जब कि "विषम" मे कार्य के गुण और कारण के गुण के बीच मे महान् अन्तर दिखाकर दोनो को साथ-साथ वर्णित किया जाता है। इस स्थिति को हटाकर "विरोध" को सत्ता स्वीकार करनी होगी। "विरोध" उत्सर्ग (व्यापक नियम) है जिसका अपवाद "विषम" है; ऐसा मानकर दोनो को समझा जा सकता है।

"अधिक" अलङ्कार मे आधार और आधेय का बड़ा या छोटा होना दिखाया जाता है और "विषम" मे कारण-गुण और कार्य-गुण का असदृश होकर साथ-साथ रहना ॥८०॥]

समभौचित्यतोऽनेकवस्तुसम्बन्धवर्णनम्।
अनुरूपं कृतं सद्म हारेण कुचमण्डलम् ॥ ८१ ॥

सममिति। उचितस्य अनुरूपस्य भावः **औचित्य** ततः **औचित्यतः** आनुकूल्यात्। न एकम् **अनेकम्** द्वे बहु वा। अनेकं च तत् **वस्तु** पदार्थः च **अनेकवस्तु**। तस्य **सम्बन्धः** अन्वयः। तस्य **वर्णनं** कथनम्। **समम्** (नाम अर्थालङ्कारः भवति)।

(उदाहरति यथा) **अनुरूपम्** इदम् उचित यत्। **हारेण** स्रजा (कर्त्रा)। **कुचस्य** स्तनस्य **मण्डलं** परिवेषः। **सद्म** गृहम्। गृहभूतम् इत्यर्थः। **कृतं** विहितम् ॥८१॥

उचित भाव से अनेक (दो या बहुत) वस्तुओं का वर्णन, "सम" (-नामक अर्थालङ्कार) है।

यह उचित है जो हार ने स्तन-मण्डल को (अपना) आवास बनाया ॥८१॥

[यहाँ हार और स्तन का सम्बन्ध उचित रूप मे किया गया है, अतः "सम" अलङ्कार है।

"सम" का अर्थ "साथ" और "बराबर" दोनो है। यदि अनुरूप वस्तुयें साथ-साथ रहती है तो उनकी शोभा बढती है। ऐसी शोभा वर्णन मे भी आना स्वाभाविक है जिससे अलङ्कार की सत्ता स्वीकार की गई है।

"विषम" अलङ्कार मे विषम वस्तुये साथ होती है; इसमे सम, (अतः कुवलयानन्द के अनुसार यहाँ विषमालङ्कार के प्रतिद्वन्द्वी) भेदो की कल्पना उचित है।

भामह, दण्डी, उद्भट, वामन और रुद्रट ने इस अलङ्कार की चर्चा नही की है। सर्व-प्रथम मम्मट ने इस अलङ्कार का उल्लेख किया है।

मम्मट तथा रुय्यक ने इसके २ भेद किये है और अप्पय्य दीक्षित ने ३।

दो समान और दो असमान वस्तुओ का उचित रूप से योग दिखाकर दो भेद स्पष्ट रूप से हो जाते है।

"समुच्चय" मे एक-जैसी वस्तुओं का गुम्फ (जोड़ा जाना) प्रधान है जब कि "सम" मे उनका साथ-साथ रहना; चाहे वे एक से रूप वाले शब्दो के रूप मे न भी हो ॥८१॥]

विचित्रं चेत् प्रयत्नः स्याद् विपरीतफलप्रदः।
नमन्ति सन्तस्त्रैलोक्यादपि लब्धु समुन्नतिम् ॥ ८२ ॥

विचित्रमिति। प्रयत्नः उद्योगः। **चेत्** यदि। विपरीत प्रतिकूलं च तत् फलं परिणामः च **विपरीतफलम्**। तत् प्रददाति इति विपरीतफल-**प्रदः। स्यात्** भवेत्। (तदा) **विचित्रम्** (नाम अर्थालङ्कार भवेत्)।

(उदाहरति यथा) **सन्तः** सज्जनाः। **त्रैलोक्यात्** त्रिजगतः। **अपि। समुन्नतिम्** उच्चताम्। **लब्धु** प्राप्तुम्। **नमन्ति** नम्राः भवन्ति ॥८२॥

यदि प्रयास, उलटा फल देने वाला हो तो "विचित्र" (-नामक अर्थालङ्कार) होता है।

(उदाहरण :-) सज्जन तीनो लोकों से भी अधिक उन्नति पाने के लिये झुक जाते है ॥ ८२ ॥

[उन्नति (फल) के लिये ऊँचे उठने वाला प्रयत्न कारण होना चाहिए, पर सज्जन नीचे जाने का प्रयत्न करते हैं। यह उलटी बात होने से "विचित्र" अलङ्कार है।

इसमे हो रही असंगति का परिहार इस तरह होगा कि सज्जन स्वभाव से नम्रता दिखाते हैं जो गुण है; शरीर से न तो झुकते हैं और न नीच काम करते है।

इस (अलकार) के जनक रुय्यक हैं। विश्वनाथ, अप्पय्य दीक्षित तथा पण्डित-राज जगन्नाथ ने इसे माना है ॥८२॥]

अधिकं बोध्यमाधारादाधेयाधिक-वर्णनम् ।
यया व्याप्तं जगत्तस्यां वाचि मान्ति न ते गुणाः ॥ ८३॥

अधिकमिति। **आधारात्** अधिकरणात्। **आधेयस्य** निधेयस्य पदार्थस्य। **अधिकं** पृथुलतरं च तत् **वर्णनं** कथनं च। आधिक्यस्य वर्णनम्। **अधिकम्** (नाम अर्थालङ्कारः) बोध्यं ज्ञेयम्।

(उदाहरति यथा) **यया** वाचा इत्यर्थः। जगत् ससारः। व्याप्तम् आकुलम्। **तस्याम्। वाचि** वाण्याम्। ते तव। **गुणाः। न। मान्ति** पर्याप्तम् अवकाशं लभन्ते ॥ ८२ ॥

आधार से आधेय का अधिक (की अधिकता का) वर्णन "अधिक" (- नामक अर्थालंकार) जानना चाहिये।

(उदाहरण :-) जिस (वाणी) के द्वारा संसार व्याप्त हैं, उस वाणी में (भी) तुम्हारे गुण नहीं समाते ॥ ८३ ॥

[आधार हमेशा ऐसा होता है जिसमे आधेय समा जाये पर यदि कवि-प्रतिभा से आधार से भी बड़ा आधेय बनाया जाता है तो "अधिक" अलंकार होता है। यदि आधेय वास्तव में आकार - प्रकार से बडा है तो उसके किसी तरह रखने में सफलता या विफलता से यह अलङ्कार नहीं हो सकता।

उदाहरण में संसार भर को आधार बनाने की क्षमता वाली वाणी को पहले गुण का आधार बनाया पर फिर यह स्वीकार किया कि गुणों की अधिकता इतनी है कि वे नहीं समाते।

रुय्यक तथा पण्डित-राज जगन्नाथ के अनुसार, इसके विपरीत, आधार का बडा होना भी "अधिक" अलंकार है।

इसमें आधार से आधेय के या आधेय से आधार के आधिक्य मे दोनो की अधिकता का द्योतन अवश्य होता है। मम्मट ने आधार-आधेय मे आधिक्य की जगह न्यूनता के होने पर "अधिक" अलंकार माना है।

रुय्यक तथा मम्मट क्रमशः ३ और २ भेद मानते है तथा पण्डित-राज मम्मट का अनुसरण करते है।

रुद्रट ने इसे "अतिशयोक्ति"-मूलक माना है।

"विषम" और "विरोध" से इस अलंकार का अन्तर क्रमशः ५।८० तथा ५।७४ मे देखा जा सकता है ॥८३॥]

अन्योन्यं नाम यत्र स्यादुपकारः परस्परम् ।
त्रियामा शशिना भाति शशी भाति त्रियामया ॥ ८४ ॥

अन्योन्यमिति। **यत्र** यस्मिन् अर्थालङ्कारे इत्यर्थः। **परस्परम्** मिथः (प्रति)। **उपकारः** उपकार्युपकृतभावः। **स्यात्** भवेत्। (सः) **अन्योन्यम्** (नाम अर्थालङ्कारः स्यात्)।

(उदाहरति यथा) **त्रियामा** रात्रिः। **शशिना** चन्द्रेण। **भाति** शोभते। **शशी** चन्द्रः (च)। **त्रियामया** रात्र्या। **भाति** शोभते ॥ ८४ ॥

जिस एक दूसरे के प्रति उपकार हो, वह "अन्योन्य" (- नामक अर्थालंकार) होता है।

(उदाहरण :–) रात चन्द्रमा से शोभित होती है और चन्द्रमा रात से शोभित होता है ॥ ८४ ॥

(उदाहरण में रात, चन्द्रमा का और चन्द्रमा, रात का उपकारक है, अत. "अन्योन्य" अलंकार है।

"अन्योन्य" का अर्थ "परस्पर" होता है। जहाँ परस्पर एक दूसरे को लाभ पहुँचाने का भाव हो, वहाँ यह अलंकार होता है। क्रिया या कार्य एक होना जरूरी है; यह किसी चीज से उपकार करे और वह दूसरी से तब यह अलंकार नही हो सकता।

एक के "उपकारी" या "उपकारक" (लाभ पहुँचाने वाला) होने पर दूसरा अपने आप "उपकृत" हो जायेगा और दोनो मे परस्पर उपकारी (या उपकारक)- उपकृत भाव हो जायेगा; फिर यही क्रम उलट जायेगा अर्थात् क्रमशः उन्हीं दोनो मे उपकृत-उपकारी (या उपकारक) भाव हो जायेगा।

रुद्रट ने इसकी सबसे पहले चर्चा की है। पूर्व-वर्त्ती भामह, दण्डी, उद्भट और वामन ने इसका उल्लेख नही किया है ॥८४॥]

विशेषः ख्यातमाधारं विनाप्याधेयवर्णनम्।
गतेऽपि सूर्ये दीपस्थास्तमश्छिन्दन्ति तत्कराः ॥ ८५ ॥

विशेष इति। ख्यातं प्रसिद्धम्। आधारम् अधिकरणम्। विना अन्तरेण। अपि। आधेयस्य निधेयस्य वस्तुनः। वर्णनं कथनम्। विशेषः (नाम अर्थालङ्कारः भवति)।

(उदाहरति यथा) सूर्ये रवौ। गते अस्ताचलं याते। अपि। दीपस्थाः प्रदीपस्थिताः। तस्य कराः किरणाः तत्कराः। तमः अन्धकारम्। छिन्दन्ति नाशयन्ति ॥ ८५ ॥

प्रसिद्ध आधार के बिना ही आधेय का वर्णन, "विशेष" (-नामक अर्थालंकार) होता है।

सूरज के (अस्ताचल) चले जाने पर भी उसकी दीपक मे स्थित किरणें अन्धकार नष्ट करती है ॥ ८५ ॥

सूर्य आधार है और किरणें आधेय। सूर्य के न रहने पर किरणों का अन्धकार का नाश करना संभव नहीं है, क्योंकि आधार के बिना आधेय नही रह सकता; यही स्वाभाविक नियम है। यहाँ कवि-प्रतिभा से अस्वाभाविक और असंभव भी स्वाभाविक और संभव हो गया है, अतः अलंकार है।

सबसे पहले रुद्रट ने यह अलंकार चलाया है। भामह, दण्डी, उद्भट और वामन ने इसकी चर्चा नही की है।

रुद्रट, मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ, अप्पय्य दीक्षित तथा पण्डित-राज जगन्नाथ ने इसके ३ भेद माने है।

रुद्रट और मम्मट इसे "अतिशयोक्ति"-वर्ग में रखते है। पण्डित-राज का

कहना है कि इस अलंकार की कोई परिभाषा नही दी जा सकती। उनकेअनुसार इसका अर्थ यह हो सकता है कि जो अलंकार किसी परिभाषा के अन्तर्गत न आये, उन्हे यहाँ रख दिया जाय। इसी आधार पर "अनुज्ञा" और "लेश" अलंकारों को नागेश ने "विशेष" का भेद माना है। समुद्र-वन्ध (-"अलङ्कार-सर्वस्व" ग्रन्थ के टीकाकार) ने इस अलङ्कार की "जिसमे असभव का संभव होना हो" परिभाषा दी है।

"विरोध" मे अनेक प्रकार की विरोधी बातों का वर्णन हो सकता है; आधार और आधेय सम्बन्धी विरोध का नही। इसके विपरीत "विशेष" मे आधार और आधेय सम्बन्धी विरोध का ही वर्णन होता है, इस प्रकार "विरोध" का यह अपवाद-सा है ॥ ८५ ॥]

स्याद् व्याघातोऽयथाकारि वस्त्वन्यक्रियमुच्यते।
यैर्जगत् प्रीयते हन्ति तैरेव कुसुमायुधः ॥ ८६ ॥

स्यादिति। अन्या अपरा **क्रिया** कार्यं यस्य तत्। **वस्तु** पदार्थः। (यस्मिन् अर्थालङ्कारे) न **यथाकारि अयथाकारि** विरुद्धक्रियम्। **उच्यते** कथ्यते (सः)। **व्याघातः** (नाम अर्थालङ्कारः)। **स्यात्** भवेत्।

(उदाहरति) **यैः** कुसुमैः इत्यर्थः। **जगत्** ससारः। **प्रीयते** मोदते। **तैः** कुसुमैः इत्यर्थः। **एव**। **कुसुमायुधः** कामः। **हन्ति** मारयति ॥ ८६ ॥

कोई वस्तु, जिस (अलङ्कार)- मे विरुद्ध कार्य करने वाली होती है, वह "व्याघात" (-नामक अर्थालङ्कार) कहा जाता है।

(उदाहरण :–) जिन (फूलों) से संसार प्रसन्न होता है, उन्हीं (फूलों) से कामदेव मार डालता है ॥ ८६ ॥

[उदाहरण मे फूल का अस्त्र-जैसा कार्य करना विरुद्ध कार्य है, अतः "व्याघात" अलङ्कार है। फूल का कार्य सबको प्रसन्न करना है, यह तीसरे चरण मे बताया जा चुका है; फिर चौथे चरण में उसका मारक अस्त्र के रूप मे कार्य करना दिखाया गया है।

"किसी को बैगन बावले किसी को बैगन पथ्य" कहावत इस अलङ्कार का अच्छा उदाहरण है। एक ही वस्तु एक को अच्छी और दूसरे को खराब

लगती है या एक ही वस्तु का प्रयोग एक कर्त्ता, एक कार्य मे करता है और दूसरा, दूसरे (कार्य) मे । यही होना सामान्य रूप से इस अलङ्कार की परिभाषा है ।

इस परिभाषा में इस अलङ्कार के प्रवर्त्तक मम्मट है । भामह, दण्डी, उद्भट, वामन और रुद्रट ने इस परिभाषा का कोई अलङ्कार नही दिया है । रुद्रट ने "व्याघात" अलङ्कार लिखा है पर उनकी परिभाषा दूसरी है; नाम-मात्र का साम्य होने से उसे दूसरा अलङ्कार मानना होगा । रुय्यक, विश्वनाथ, पण्डित-राज जगन्नाथ और अप्पय्य दीक्षित ने "पूर्व-रूप" अलङ्कार को इस अलङ्कार के भेद के रूप मे वर्णित किया है और यही ("व्याघात") नाम दिया है ।

किसी वस्तु से विलक्षण कार्य ले लेना प्रयोक्ता की श्रेष्ठता का द्योतक है । इस अर्थ मे इस अलङ्कार मे "व्यतिरेक" अलङ्कार मूल है । इसी आधार पर जय-रथ ने "व्यतिरेक" के बिना इस अलङ्कार को असंभव बताया है ॥८६॥]

गुम्फः कारणमाला स्याद्यथा प्राक्प्रान्तकारणैः ।
नयेन श्रीः श्रिया त्यागस्त्यागेन विपुलं यशः ॥ ८७ ॥

गुम्फः इति । प्राक् प्रारम्भिकः भागः च प्रान्तः अन्तः च प्राक्प्रान्तौ तौ अतिक्रम्य **यथाप्राक्प्रान्तम्** तथाभूतैः । **कारणैः** हेतुभिः । पूर्वं पूर्वं प्रति परस्य परस्य पर परं प्रति वा पूर्वस्य पूर्वस्य कारणतया कृतः **गुम्फः** इत्यर्थः रचनाविशेषः । **कारणमाला** (नाम अर्थालङ्कारः) । **स्यात्** भवेत् ।

(उदाहरति यथा) **नयेन** नीत्या । **श्रीः** लक्ष्मीः । **श्रिया** लक्ष्म्या । **त्यागः** दानम् । **त्यागेन** दानेन (च) । **विपुलं** प्रचुरम् । **यशः** कीर्तिः ॥८७॥

बाद मे आने वाले पदों के पहले आने वाले पदों के (कारण होने पर) तथा पहले आने वाले पदो के बाद मे आने वाले पदो के कारण होने पर रचना-विशेष, "कारण-माला" (-नामक अर्थालङ्कार) है ।

(उदाहरण :—) नीति से लक्ष्मी, लक्ष्मी से दान और दान से प्रचुर कीर्त्ति ॥ ८७ ॥

[उदाहरण मे "नय", "श्री", के, "श्री" "त्याग" के और "त्याग", "यश" के पहले कारण रूप मे आया है, अतः "कारण-माला" है।

यहा "माला" के स्थान पर "शृङ्खला" पद अलङ्कार नाम मे आने पर अधिक उपयुक्त होता (५।८९ द्रष्टव्य)। रुद्रट ने इसकी सर्व-प्रथम चर्चा की है। भामह, दण्डी, उद्भट और वामन ने इसका उल्लेख नही किया है।

जय-रथ, जगन्नाथ और अप्पय्य दीक्षित उक्त परिभाषा ही मानते है पर मम्मट और रुय्यक केवल वहाँ "कारण-माला" मानते है जहाँ पहले आने वाले पद, बाद मे आने वाले पदों के कारण हों। जय-रथ, जगन्नाथ, जयदेव और अप्पय्य दीक्षित ने इस अलङ्कार के २ भेद दिये है। यहाँ केवल एक भेद का उदाहरण दिया गया है।

"कारणानां हेतूनां माला शृङ्खला" व्युत्पत्ति के अनुसार "कारणो की पक्ति होने पर यह अलङ्कार होता है" अर्थ निकलता है जिससे नाम सार्थक हो जाता है। "कार्य-माला" या "कार्य-कारण-माला" आदि नाम भी हो सकते है।

जगन्नाथ पण्डित-राज ने "भग्न-प्रक्रम" दोष के निवारण के लिये शब्दो के निर्वाह की ओर ध्यान आकृष्ट किया है जिसका अर्थ हुआ कि जो शब्द कार्य और कारण दोनो होते है, वे दो-दो बार आयेंगे; पर्याय-वाची शब्द से काम नहीं चल सकता।

"एकावली" मे पूर्व पदार्थ का उत्तर पदार्थ विशेषण या विशेष्य होता है जब कि "कारण-माला" में कार्य या कारण।

"माला-दीपक" मे कार्य-कारण-भाव या कारण-कार्य-भाव न होने से "कारण-माला" से वह भिन्न है जिसमें वह (भाव) होता है ॥८७॥]

गृहीतमुक्तरीत्यर्थश्रेणिरेकावली मता।
नेत्रे कर्णान्तविश्रान्ते कर्णौ दोर्मूलदोलिनौ ॥८८॥

गृहीतेति। गृहीता उपात्ता च मुक्ता त्यक्ता च गृहीतमुक्ता। गृहीतमुक्ता च सा रीतिः पद्धतिः च गृहीतमुक्तरीतिः। तया (निबद्धा)। अर्थानां वाच्यानाम्। श्रेणिः परम्परा। एकावली (नाम अर्थालङ्कारः)। मता इष्टा।

(उदाहरति यथा) नेत्रे नयने। कर्णयोः श्रवणयोः। अन्ते प्रान्ते। विश्रान्ते स्थिते। कर्णौ श्रवणे (च)। दोष्णोः भुजयोः मूले तले स्कन्धे इत्यर्थः दोलनं गतिः येषां तौ दोर्मूलदोलिनौ ।।८८।।

(विशेषण या विशेष्य रूप में) ग्रहण और मुक्ति की रीति से (बनी) अर्थ-परम्परा, "एकावली" (अलङ्कार-नाम) मानी गई है।

(उदाहरण :—) आँखें कानो के किनारे स्थित है और कान भुजाओं के मूल पर हिल रहे है ।।८८।।

[पहले विशेष्य देकर किसी पद का उसके विशेषण के रूप मे ग्रहण और फिर विशेषण के बन्धन से मुक्त कर उसे विशेष्य बना देना "एकावली" है। उसके अनुसार नेत्र के विशेषण मे "कर्ण" शब्द का प्रयोग किया गया है; फिर उस ("कर्ण" शब्द)- को विशेष्य बनाकर आगे का वर्णन किया गया है।

"गृहीत" और "मुक्त" शब्दो का नियत क्रम विवक्षित न मानने पर दूसरा भेद होगा "पहले मुक्त कर फिर ग्रहण करना"।

एकावली उस हार को कहते है जिसमे केवल एक लडी होती है। यहाँ एक लड़ी मे विशेष्य-वशेषण एक-एक का अन्तर देकर पिरोये जाते है, अतः लक्षणा वृत्ति से यह अलङ्कार-नाम सार्थक है।

उदाहरण मे "विश्रान्त" शब्द मनोहर है। आँखे कान तक पहुँचने में थककर विश्राम कर रही हैं। दूसरी ओर "मूलदोली" शब्द भी इसी टक्कर का है। कान, अपने स्थान पर दूसरे का कब्जा देखकर दूसरे स्थान की खोज करने में गतिशील है।

जैसे "एकावली" में एक दाना दूसरे से और दूसरा तीसरे से जुटता है, उसी प्रकार इस अलङ्कार के विशेष्य-विशेषण-रूपी दो प्रकार के दाने एक दूसरे से जुटते चले जाते हैं। उदाहरण मे नेत्र, कर्ण से और कर्ण, कन्धे से जुटे हैं।

रुद्रट इसके उद्भावक है। भामह, दण्डी, उद्भट और वामन इसकी चर्चा नहीं करते। मम्मट, रुय्यक, जगन्नाथ पण्डित-राज और अप्पय्य दीक्षित के अनुसार इस अलङ्कार के २ भेद हैं।

"कारण-माला" से इसका अन्तर ५।८७ पर देखा जा सकता है।

"माला-दीपक" मे "दीपक" अलङ्कार के भी मिश्रण से एक ही क्रिया या (एक ही) गुण होता है जब कि इस अलंकार मे "दीपक" का मिश्रण न होने से एक ही क्रिया या गुण न होना चमत्कार मे कमी लाता है। पूर्व-पूर्व पद का उत्कर्ष-कारक पर-पर पद होने पर "एकावली" और पर-पर पद का उत्कर्ष-कारक पूर्व-पूर्व पद होने पर "माला-दीपक" होता है ॥८८॥]

दीपकैकावलीयोगान्मालादीपकमुच्यते
स्मरेण हृदये तस्यास्तेन त्वयि कृता स्थितिः। ८९॥

दीपकेति। दीपकं (नाम अलङ्कारः) च एकावली (नाम अलङ्कारः) च दीपकैकावल्यौ। तयोः योगात् सम्बन्धात्। मालादीपकम् (नाम अलङ्कारः)। उच्यते कथ्यते।

(उदाहरति यथा) स्मरेण कन्दर्पेण। तस्याः नायिकायाः इत्यर्थः। हृदये हृदि। स्थितिः अवस्थानम्। कृता विहिता। तेन नायिकाहृदयेन। च। त्वयि भवति नायके इत्यर्थः। स्थितिः अवस्थानम्। कृता विहिता ॥८९॥

"दीपक" और "एकावली" के एक साथ होने पर "माला-दीपक" (-नामक अर्थालंकार) कहा जाता है।

कामदेव ने उस (नायिका)- के हृदय मे अपना स्थान बना लिया और उस (हृदय)- ने तुममे (अपना स्थान बना लिया) ॥८९॥

["दीपक" अलंकार के लक्षण (५।५३) मे आ चुका है कि एक ही क्रिया या गुण (विशेषणादि) के समान रूप से कई के साथ बैठने पर "दीपक" होता है; यहाँ "स्थितिः" क्रिया ही दोनो पक्षो (नायिका-हृदय और तुम-) मे समान रूप से बैठ रही है। "एकावली" के लक्षण (५।८८) में एक का दूसरे से और दूसरे का तीसरे से सम्बन्ध होना आ चुका है; यहाँ स्मर का नायिका-हृदय-स्थित होना और नायिका-हृदय का नायक-स्थित होना आया है। इस प्रकार दोनो अलंकारों का मिश्रण होने से यहाँ "माला-दीपक"-नामक नवीन अर्थालंकार हो गया है। पहले नायिका-हृदय का मदन-आधार के रूप मे ग्रहण कर फिर उसे आधार

बनने के कार्य से मुक्त कर नायक-हृदय का आधेय बना दिया गया है, इस प्रकार "एकावली" अलंकार का पूरा लक्षण लागू किया जा सकता है।

उदाहरण नायक के प्रति दूती की उक्ति हो सकता है।

"कारण-माला" (५।८७) तथा इस अलंकार मे "माला" शब्द उतना उपयुक्त नही है जितना "रशना" या "श्रृंखला" शब्द होता। जिस तरह रशना या श्रृङ्खला मे एक कड़ी, दूसरी से, और दूसरी, तीसरी से जुडती है, और यही क्रम चलता जाता है; उसी तरह उक्त दो अलंकारो मे भी शब्द जुडते चले जाते है। इसके विपरीत, (अन्य आचार्यों द्वारा प्रतिपादित) "मालोपमा" और "माला-रूपक" मे "माला" पद सार्थक है, जिस प्रकार एक डोरे से कई फूल सम्बद्ध होकर माला बनाते हैं, उसी प्रकार एक उपमेय (यहाँ डोरा) से सम्बद्ध अनेक उपमान (यहाँ फूल) "मालोपमा" और "माला-रूपक" अलंकारो की सृष्टि करते है।

इस अलकार मे "दीपक" अलंकार की केवल एक बात यह मिलती है कि अनेक पदार्थ एक ही गुण या क्रिया से सम्बद्ध होते हैं, शेष दो बातों—(१) सदृशता और (२) प्रकृत-अप्रकृत का वर्णन—का आना आवश्यक नही है।

पण्डित-राज जगन्नाथ इस अलंकार का अन्तर्भाव "एकावली" मे करते हैं; इसमें वे "दीपक" का एकान्त अभाव मानते है।

"एकावली" और "माला-दीपक" का अन्तर ५।८८ मे देखा जा सकता है ॥८९॥]

सारो नाम पदोत्कर्षः सारतायाः यथोत्तरम्।
सारं सारस्वतं तत्र काव्य तत्र शिवस्तवः ॥९०॥

सार इति। यथोत्तरम् उत्तरोत्तरम्। **सारतायाः** श्रेष्ठतायाः। **पदोत्कर्षः पदस्य** व्यवसितस्य (निश्चयस्य) वस्तुनः वा **उत्कर्षः** उन्नतिः। **सारः। नाम** (अर्थालङ्कारः भवति)।

(उदाहरति यथा) **तत्र** तस्मिन् स्थाने संसारे वा। **सारस्वतं** वाङ्मयम्। **सारं** श्रेष्ठम्। **तत्र** तस्मिन् वाङ्मये इत्यर्थः (अपि)।

शिवस्तवः शिवस्य शङ्करस्य स्तवः स्तुतिः। (तद्रूपं) काव्यं कविकर्म। सारं श्रेष्ठम् (अस्ति) ॥९०॥

उत्तरोत्तर श्रेष्ठता के निश्चय (या रूपी वस्तु) का उत्कर्ष "सार" (-नामक अर्थालंकार) है।

वहाँ (उस जगह या संसार मे) वाङ्मय श्रेष्ठ है; (और) उसमे (भी) शिव-स्तुति-रूपी काव्य श्रेष्ठ है ॥९०॥

["सार" शब्द को देखने से इसके संज्ञा पुंलिङ्ग ही होने की भ्राति होती है, किन्तु यह सज्ञा नपुंसक लिङ्ग भी है तथा विशेषण होने के कारण तीनो लिङ्गों मेप्रयुक्त होता है।

उदाहरण मे पहले एक बडे क्षेत्र—वाङ्मय (शास्त्र + साहित्य)—को (श्रेष्ठ बताया गया) और फिर उसके सब अङ्गो मे से एक अङ्ग—शिव-स्तुति-संबंधी काव्य—को श्रेष्ठ बताया गया। इस प्रकार उत्तरोत्तर श्रेष्ठता-निश्चय का उत्कर्ष होने से यहाँ "सार" अलङ्कार है।

अलंकार-सर्वस्व मे इसे "उदार" नाम दिया गया है।

उदाहरण का अर्थ इस प्रकार भी किया जा सकता है:—

(संसार मे) वाङ्मय सर्व-श्रेष्ठ है; उसमे भी काव्य सर्व-श्रेष्ठ है; उसमें भी शिव-स्तुति सर्व-श्रेष्ठ है।

रुद्रट ने इसकी सर्व-प्रथम चर्चा की है। भामह, दण्डी, उद्भट और वामन ने इसका उल्लेख नहीं किया है।

अप्पय्य दीक्षित और जगन्नाथ ने इसके क्रमशः ३ और २ भेद किये है।

"कारण-माला", "एकावली", "माला-दीपक" और "सार" मे शृङ्खला पाई जाती है किन्तु थोडा-थोड़ा अन्तर होने के कारण इन्हे भेद-रूप मे न देकर स्वतंत्र अलंकार-रूप मे दिया गया है। जय-रथ और जगन्नाथ ने इस पर विचार कर यही निर्णय किया है।

श्रेष्ठता की जगह तुच्छता के उत्कर्ष और दोनो—श्रेष्ठता व तुच्छता—के उत्कर्ष मे भी कुवलयानन्द मे यह अलंकार माना गया है। जगन्नाथ पदार्थों के

उत्कर्ष और अपकर्ष दोनो में इसे मानते हैं। इस प्रकार सबको मिलाने से भेदों की संख्या बढ सकती है ॥९०॥]

उदारसारश्चेद्भाति भिन्नोऽभिन्नतया गुणः।
मधुरं मधु पीयूषं तस्मात्तस्मात्कवेर्वचः ॥९१॥

उदारसार इति। **गुणः**। **भिन्नः** पृथक् (सन् अपि)। न **भिन्नः** पृथक् **अभिन्नः**। तत्ता **अभिन्नता तया**। **भाति** प्रतीयते। **चेत्** यदि (**उदार-सारः** (नाम अर्थालङ्कारः भवति)।

(उदाहरति यथा) **मधुरं** मिष्टम्। **मधु** क्षौद्रम्। **तस्मात्**। **मधुरं** मिष्टतरम्। **पीयूषम्** अमृतम्। **तस्मात्** (अपि)। **मधुरं** मिष्टतरम्। **कवेः** सूरेः। **वचः** वचनम् (भवति) ॥९१॥

यदि गुण, भिन्न होकर (भी) अभिन्न रूप मे प्रतीत होता है तो "उदार-सार" (-नामक अर्थालंकार) होता है।

(उदाहरणः—) मीठा, शहद (होता है), उससे मीठा, अमृत (होता है), (और) उससे (भी) मीठा, कवि-वचन होता है ॥९१॥

["मधुर" गुण रसना विषय है जो मधु और पीयूष मे पाया जाता है; वचन मे नहीं। कवि-वचन मे भिन्न गुण—श्रोत्र-विषय रमणीयता—पाया जाता है जिसे अभिन्न रूप मे वही ("मधुर") गुण बताया जाने से "उदार-सार" अलंकार है।

कम से कम तीन पदार्थों मे यथोत्तर उत्कृष्टता दिखाने से ही यह अलङ्कार हो सकता है जिससे शृंखला बन सके। यह (अलङ्कार) "उदार" का भेद हो सकता है; थोड़ी बारीकी निकालकर इसे अन्य (अलङ्कार) मान लिया गया है। अन्य आचार्य इसे अलग (अलङ्कार) नहीं मानते। शब्द की विशेषता इस (अलङ्कार)-का मूल है। "मधुर" शब्द ने रसना-विषय (माधुर्य) और श्रोत्र-विषय माधुर्य प्रगट कर इस (अलङ्कार) की सृष्टि की है ॥९१॥]

यथासंख्यं द्विधार्थाश्चेत् क्रमादेकैकमन्विताः।
शत्रुं मित्रं द्विषत्पक्षं जय रञ्जय भञ्जय ॥ ९२ ॥

यथासंख्यमिति । **द्विधा** द्विप्रकारकाः क्रियाकारकरूपाः । **अर्थाः** वाच्याः । **क्रमात्** क्रमेण । **एकैकं** प्रत्येकं । **अन्विताः** सम्बद्धाः । **चेत्** यदि (तदा) । **यथासंख्यम्** (नाम अर्थालङ्कारः भवति) ।

(उदाहरति यथा) **शत्रुं** रिपुम् । **मित्रं** सखायम् । **द्विषतां** वैरिणाम् । **पक्षम्** । (क्रमेण) **जय** विजयस्व । **रञ्जय** अनुरक्तं कुरु । **भञ्जय** विनाशय ॥ ६२ ॥

यदि दो प्रकार के अर्थ (क्रिया और कारक) क्रम से एक-एक से संबद्ध होते है तो यथासंख्य (- नामक अर्थालङ्कार) होता है।

(उदाहरण :--) शत्रु, मित्र, और वैरी के पक्ष को क्रमशः जीतो, अनुरक्त बनाओ और नष्ट करो ॥ ६२ ॥

[उदाहरण मे कारक और क्रियाओं के अलग-अलग वर्ग बना दिये गये हैं और क्रमशः उन्हे लगाने से अर्थ प्राप्त होता है। ऐसी व्यवस्था "अष्टाध्यायी" के "यथासख्यमनुदेशः समानाम्" सूत्र के अनुसार सूत्रों का अर्थ करने मे मानी जाती है। वहाँ "यथासङ्ख्य" नाम भी आया है।

उदाहरण का सरल अर्थ है शत्रु को जीतो, मित्र को अनुरक्त बनाओ और वैरी पक्ष को नष्ट करो।

पहले आये "शत्रु", "मित्र" और "द्विषत्-पक्ष" कर्म-कारक हैं। इनके बाद आये ३ शब्द क्रिया-पद हैं। इनका क्रमशः अन्वय करना पड़ा है।

मेधावी तथा वामन ने इसका उल्लेख क्रमशः "सङ्ख्यान" तथा "क्रम" नाम से किया है।

इस अलङ्कार के प्रवर्त्तक भामह हैं। वामन कारक शब्दों मे उपमेय-उपमान भाव होना आवश्यक मानते है, पर शेष आचार्य उपमेय-उपमान भाव से उत्पन्न विशेष चमत्कार के अभाव मे भी इसे पर्याप्त चमत्कार-सम्पन्न मानकर अलङ्कार-रूप मे स्वीकार करते है।

रुय्यक और जगन्नाथ ने इसके दो भेद माने है ॥६२॥]

पर्यायश्चेदनेकत्र स्यादेकस्य समन्वयः ।
पद्मं मुक्त्वा गता चन्द्रं कामिनीवदनोपमा ।।९३।।

पर्याय इति। **एकस्य** पदार्थस्य इत्यर्थः। **समन्वयः** सम्बन्धः। **अनेकत्र** अनेकेषु स्थानेषु। **स्यात्** भवेत्। **चेत्** यदि (तदा)। **पर्याय** (नाम अर्थालङ्कारः स्यात्)।

(उदाहरति यथा) **कामिन्याः** सुन्दर्याः। **वदनस्य** आननस्य। **उपमा** सदृशता। **पद्मं** कमलम्। **मुक्त्वा** विहाय। **चन्द्रं** शशिनम्। **गता** याता ।। ९३ ।।

यदि एक (पदार्थ) का सम्बन्ध अनेक स्थानों मे हो (बैठे) तो "पर्याय" (-नामक अर्थालङ्कार) होता है ।

(उदाहरण :--) सुन्दरी के मुख की सदृशता कमल को छोड़कर चन्द्रमा में चली गई ।।९३ ।।

[उदाहरण मे एक पदार्थ—कामिनी-वदनोपमा—का अन्वय दो—पद्म तथा चन्द्र—मे हो रहा है अतः "पर्याय" है । पद्म को छोडने से स्पष्ट है कि पहले उस (पद्म)-से उस-(वदनोपमा) का सम्बन्ध था, अन्यथा छोडने की बात कैसे आती !

दिन मे कामिनी-मुख पद्म की समता प्राप्त करता है और रात मे चन्द्रमा की। इस तरह समता पद्म से चन्द्र मे संक्रान्त हो जाती है। रात में पद्म के सिकुडने और चन्द्रमा के उदित होने से पहले (पदार्थ) से हुई समता समाप्त हो जाती है और दूसरे से शुरू हो जाती है ।

ऊपर के श्लोक से "क्रमात्" शब्द यहाँ भी अध्याहृत होगा, ऐसा गागा भट्ट का मत है। वैसी स्थिति मे इस अलङ्कार में "यथासङ्ख्य" का भी मिश्रण हो जायेगा और विशेष चमत्कार होगा ।

इस अलङ्कार के उद्भावक रुद्रट है (किन्तु वे एक का अनेक से और अनेक का एक से (दोनो ही) स्थितियों में "पर्याय" मानते है और वस्तु का सुख आदि स्वभाव से युक्त होना आवश्यक बताते है। अन्य आचार्यों ने इसकी अनेक बातें मिकालकर परिभाषा मानी है)।

रुय्यक, विश्व-नाथ, जगन्नाथ और अप्पय्य दीक्षित इसके ४ भेद मानते है और रुद्रट २। यहाँ भेद नही बताया गया है। रुद्रट ने एक दूसरी परिभाषा वाला "पर्याय" अलङ्कार भी माना है ॥ ९३ ॥]

परिवृत्तिर्विनिमयो न्यूनाभ्यधिकयोर्मिथः ।
जग्राहैकं शरं मुक्त्वा कटाक्षान् शत्रुयोषिताम् ॥ ९४ ॥

परिवृत्तिरिति। न्यूनस्य अल्पस्य च **अभ्यधिकस्य** महतः च **न्यूनाभ्यधिकयोः**। **मिथ**. परस्परं कृतः। **विनिमयः** परिवर्तनम्। **परिवृत्तिः** (नाम अलङ्कार. स्यात्)।

(उदाहरति यथा) **एकं** केवलम्। **शरं** बाणम्। **मुक्त्वा** त्यक्त्वा। **शत्रूणां** रिपूणाम्। **योषिताम्** स्त्रीणाम्। **कटाक्षान्** अपाङ्गदृष्टीः। **जग्राह** स्वीचकार ॥ ९४ ॥

अल्प और अधिक का आपस मे परिवर्तन "परिवृत्ति" (-नामक अर्था-लंकार) है।

एक बाण छोडकर दुश्मनो की औरतो के कटाक्ष ग्रहण किये ॥ ९४ ॥

[उदाहरण मे एक बाण देकर अनेक कटाक्ष प्राप्त किये। इस प्रकार अल्प से अधिक का परिवर्त्तन किया गया, अतः "परिवृत्ति" अलङ्कार है।

परिवृत्ति का अर्थ परिवर्तन है। इस परिवर्तन में विशेषता यही है कि समान वस्तुओ का परिवर्तन नही होता।

भय-विह्वल होकर शत्रु-नारियाँ अपने पति के घातक के प्रति कटाक्ष-पात कर रही है; उन कटाक्षो की प्राप्ति, राजा को अपने एक शत्रु-मारक बाण के विनिमय में होती है। यहाँ विनिमय कवि-कल्पित होना जरूरी है; वास्तविक होने पर अलङ्कार नही होगा।

कोई वस्तु छोड़कर दूसरी ग्रहण कर लेने मे भी यह अलङ्कार होता है; भले ही जिसको देकर बदला जाय वह न हो।

परिभाषा में "विनिमय" शब्द बहुत उपयुक्त है। इसका अर्थ एक वस्तु देकर बदले में दूसरी वस्तु लेना होता है। परिवृत्ति का भी यही अर्थ है।

भामह ने सबसे पहले इस अलंकार की चर्चा की है।

मम्मट और जगन्नाथ ने इस अलंकार के क्रमशः ३ तथा ४ भेद किये है ॥ ९४ ॥]

परिसङ्ख्या निषिध्यैकमन्यस्मिन् वस्तुयन्त्रणम्।
स्नेहक्षयः प्रदीपेषु स्वान्तेषु न नतभ्रुवाम् ॥ ९५ ॥

परिसङ्ख्येति। (एकस्मिन् स्थले) **एकं** किमपि वस्तु। **निषिध्य** प्रतिषिध्य। **अन्यस्मिन्** स्थले इत्यर्थः (तस्य एव) **वस्तुनः** पदार्थस्य **यन्त्रणं** नियमनम्। **परिसङ्ख्या** (नाम अर्थालङ्कारः भवति)।

(उदाहरति यथा) **प्रदीपेषु** दीपकेषु। **स्नेहस्य** तैलस्य। अन्यत्र अनुरागस्य। **क्षयः** नाशः। **न**। (तु) **नतभ्रुवाम्** सुन्दरीणाम्। **स्वान्तेषु** हृदयेषु।

[उदाहरण मे स्नेह (तेल या अनुराग) का नाश दीपको मे हुआ; न कि सुन्दरियों के हृदय मे। यहाँ "श्लेष" की महिमा से "स्नेह" शब्द दीपक के वर्णन मे तेल का और हृदय के वर्णन मे अनुराग का अर्थ देगा। इस प्रकार एक जगह (दीपक के प्रसंग मे) निषेध और दूसरी जगह यन्त्रण (नियमित सत्ता) होने से यहाँ "परिसंख्या" अलङ्कार है।

यह रात या प्रभात का वर्णन हो सकता है।

"परेर्वर्जने" पाणिनि सूत्र (८।१।५) के अनुसार "परि" का अर्थ निषेध है। "संख्या" का अर्थ बुद्धि है। इस प्रकार निषेध की बुद्धि जिस वर्णन के प्रसंग में पैदा हो, वहाँ यह अलङ्कार होता है। इस तरह यह शब्द कुछ-कुछ सार्थक है। "संख्या" का अर्थ गणना लेने पर "निषेध-पूर्वक गणना" अर्थ करने से अलंकार-नाम पूर्णतः अन्वर्थ हो सकता है।

रुद्रट ने इस अलंकार की सर्व-प्रथम चर्चा की है। भामह, दण्डी, वामन और उद्भट ने इसका उल्लेख नही किया है।

रुद्रट और जगन्नाथ के अनुसार इसके ४ भेद है।

"श्लेष"-युक्त होने पर यह अलङ्कार विशेष शोभाधायक हो, यह स्वभाविक है। सुबन्धु, बाण और त्रिविक्रम भट्ट के गद्य मे इस अलङ्कार की शृंखला बहुत रमणीयता ला देती है।

"परिसंख्या" शब्द पूर्व मीमांसा से साहित्य मे आया है। पूर्व मीमांसा में "परिसंख्या"-विधि उस विधि को कहते है जहाँ दो पक्षों में एक का अत्यन्त (निषेध) और दूसरे का कम निपेध किया जाता है। "पाँच नखों वाले पाँच जानवर खाये जा सकते है" "परिसंख्या" विधि का उदाहरण है। इसका अर्थ है कि शेष जानवरों को कदापि नही खाना चाहिए और इन पाँच जानवरों को भी तभी खाना चाहिये जब और कोई चारा न हो। साहित्य मे यह शब्द विधि-निषेध-युक्त अर्थ मे ले लिया गया है जिसमे वह सूक्ष्मता छोड़ दी गई है जो अविवशता की स्थिति मे विधि पर सामान्यतःनिषेध ही सूचित करती है।

पण्डित-राज जगन्नाथ ने इसके चार भेद किये है॥ ९५ ॥]

विकल्पस्तुल्यबलयोर्विरोधश्चातुरीयुतः ।
कान्ताचित्तेऽधरे वापि कुरु त्वं वीतरागताम्॥ ९६ ॥

विकल्प इति। तुल्यं समानं बलं शक्तिः ययोः **तुल्यबलयोः**। **चातुर्या** विदग्धतया। **युतः** युक्तः। **विरोधः** युगपत् कथनम्। **विकल्पः** (नाम अर्थालङ्कारः भवति)।

(उदाहरति यथा) **त्वं** भवान्। **कान्तायाः** प्रियायाः। **चित्ते** हृदये। **अधरे** स्वस्य अधरे। **वा**। **अपि**। **वीतः** गतः रागः अनुरागः रक्तता वा यस्मात् सः **वीतरागः** तत्तां **वीतरागताम्**। **कुरु** विधेहि॥ ९६ ॥

समान बल वाले दो (पदार्थों) का चतुरता-पूर्ण सह-विन्यास "विकल्प" (-नामक अर्थालङ्कार) होता है।

(उदाहरण :–) प्रिया के हृदय मे या (अपने) निचले ओठ मे राग अनुराग या ललाई) की शून्यता की सृष्टि करो॥ ९६ ॥

[उदाहरण में नायिका के हृदय मे अनुराग-अभाव और नायक-अधर में लौहित्य-अभाव इन दो तुल्य बल वाले पदार्थों का वर्णन, विरोध होने पर भी, चतुरता-पूर्ण रीति से एक साथ किया गया है, अतः "विकल्प" अलङ्कार है। नायिका के हृदय मे स्थित अनुराग और दूसरी नायिका के चुम्बन से अधर

की रक्तिमा; दोनो बाते एक साथ नही हो सकती; एक बार मे एक ही होगा; यह चेतावनी है। विदग्धता-पूर्ण रीति से विरोध होते हुये भी दोनो को एक साथ दिखाया गया है।

यह खण्डिता (नायिका) की उक्ति हो सकती है।

जिस प्रकार "व्यतिरेक" अलङ्कार, "उपमा" अलङ्कार का विलोम होता है, उसी प्रकार यह अलङ्कार "समुच्चय" अलकार का विलोम है। अलंकार का बीज सादृश्य है। दोनो विरोधी बातो मे समान धर्म का होना जरूरी है। इस उदाहरण मे समान धर्म "वीतरागता" है।

"विकल्प" का अर्थ दो बातो मे एक को चुनना है। यहाँ उदाहरण मे दो विकल्प है :—

(१) या पर स्त्री से सम्बन्ध छोड़ो जिससे अब उसके चुम्बन से उसके ओठ की ललाई तुम्हारे अधर मे न लगने पाये या

(२) मेरे हृदय को अपने प्रति विरक्त करो।

भाव यह है कि नायिका तब तक रूठी रहेगी जब तक नायक पर स्त्री से सम्बन्ध नहीं त्यागेगा।

रुय्यक ने इसका सबसे पहले वर्णन किया है। पहले के आचार्य इसकी चर्चा नही करते। नागेश भट्ट चमत्कार के अभाव में इसे अलंकार नही मानते। कुछ लोग इसे "संदेह" अलंकार मे अन्तर्भूत कर देते हैं ॥ ९६ ॥]

भूयसामेकसम्बन्धभाजां गुम्फः समुच्चयः।
नश्यन्ति पश्चात् पश्यन्ति भ्रश्यन्ति च तव द्विषः ॥ ९७ ॥

भूयसामिति। एकः समानः च असौ सम्बन्धः अन्वयः च। तं भजन्तीति **एकसम्बन्धभाजः** तेषाम् **एकसम्बन्धभाजाम्**। भूयसां बहूनाम् पदार्थानाम् इत्यर्थः। **गुम्फः** सन्दर्भः। **समुच्चयः** (नाम अर्थालङ्कारः भवति)।

(उदाहरति यथा) **तव** ते। **द्विषः** शत्रवः। **नश्यन्ति** पलायन्ते। **पश्यन्ति** अवलोकयन्ति आशङ्कया इत्यर्थः। **पश्चात्** तदनन्तरम्। **च**। **भ्रश्यन्ति** पतन्ति म्रियन्ते इत्यर्थः ॥ ९७ ॥

[यहाँ उदाहरण मे "नश्यन्ति", "पश्यन्ति" और "अश्यन्ति" इन तीन क्रियाओ का जो समान रूप से "द्विपः" से सम्बन्ध वाली है, गुम्फन किया गया है, अतः "समुच्चय" अलंकार है ।

समुच्चय का अथ होता है एक साथ जोड़ना। "च" आदि द्वारा दो शब्दों के बीच सम्बन्ध दिखाया जाता है ।

उदाहरण की उक्ति किसी राजा को सम्बोधित कर प्रशंसा है ।

कुवलयानन्द का "कारक-दीपक" अलकार इस अलंकार मे अन्तर्भूत हो सकता है ।

गुणो, क्रियाओ और कारको का असंकीर्ण रूप से किया गया गुम्फन इस अलकार मे अभीष्ट है।

रुद्रट इसके प्रथम निरूपण-कर्त्ता है। भामह, दण्डी, वामन और उद्भट इस अलंकार का वर्णन नही करते ।

रुद्रट रुय्यक, और जगन्नाथ ने इसके ३, मम्मट ने २, और विश्व-नाथ ने ६ भेद किये है ।

इस अलंकार को समझाने के लिये रुय्यक, विश्व-नाथ, जगन्नाथ और अप्पय्य दीक्षित ने "खले कपोतिकान्यायः" का सहारा लिया है। जैसे धान की प्राप्ति के लिये खल (धान संचित करने का स्थान) की ओर अनेक कबूतर एक साथ उड़ते है, उसी प्रकार जहाँ अनेक कारणो के एक साथ पहुँचने से कार्य की सिद्धि होती है, वहाँ यह अलंकार होता है (समय में थोडा भेद होने पर भी जगन्नाथ अलंकार मानते हैं)। उदाहरण मे तीनो क्रियायें कारण-स्वरूप है और शत्रु-पराभव, कार्य है जिसके सम्पादन मे वे एक साथ योग-दान करती है ।

"काव्य-लिङ्ग" मे कारण वाक्य-गत होता है पर "समुच्चय" मे अनेक कारण-भूत शब्द एक कार्य के लिये उपयुक्त होते है ।

"कारक-दीपक" और "समुच्चय" मे कोई विशेष भेद नही है पर अधिक बारीकी मे जाने पर यह यह कहा जा सकता है कि "कारक-दीपक" मे क्रियायें

क्रमशः होती है और उनका कर्त्ता समान होता है जब कि "समुच्चय" में क्रियायें एक साथ आती है और कर्त्ता असमान (अनेक) भी हो सकते हैं।

"समाधि" अलंकार में एक प्रधान कारण के कार्य निष्पन्न कर देने पर दूसरा (गौण) कारण आकर सरलता उत्पन्न करता है। इसके विपरीत इस अलंकार में बहुत से (प्रधान) कारणों का संग्रह होता है ॥९७॥]

समाधिः कार्यसौकर्यं कारणान्तरसन्निधेः।
उत्कण्ठितां च कलयन् जगामास्तं च भानुमान् ॥ ९८ ॥

समाधि: इति। अन्यत् **कारणं** हेतुः **कारणान्तरम्**। तस्य **सन्निधिः** उपस्थितिः। तस्मात्। **कार्ये** फले **सौकर्यं** सारल्यम्। **समाधि** (नाम अर्थालङ्कारः भवति)।

(उदाहरति यथा) **भानुमान्** सूर्यः। **च**। **उत्कण्ठिताम्** (उत्कण्ठनः भावं) नायिकोत्कण्ठाम् मिलनोत्सुका वा नायिकामित्यर्थः। **च** अपि। **कलयन्** जानन्। **अस्तम्** अस्ताचलम् **जगाम** ययौ ॥ ९८ ॥

अन्य कारण की उपस्थिति से कार्य में सरलता "समाधि" (नामक अर्थालङ्कार) है।

और सूर्य उत्कण्ठिता (नायिका) को भी देखकर अस्ताचल चले गये ॥९८॥

[यहाँ, उदाहरण में "उत्कण्ठिता" होना ही अभिसार के कार्य का पर्याप्त कारण है। सूर्यास्त के होते ही एक नया कारण, अन्धकार आ गया जिससे अभिसार के कार्य में सरलता हुई।

इसमें एक कारण प्रधान होता है और दूसरा सहयोगी के रूप में आता है। दोनो कारण मुख्य अर्थ के लिये होते हैं।

इस अलङ्कार में "काकतालीयन्यायः" से दूसरा गौण कारण उपस्थित हो जाता है। "काकतालीयन्यायः" संयोग के लिये आता है। जैसे कव्वे के ऊपर अकस्मात् ताड़ का फल गिर पड़े, उसी तरह अस्कमात् कोई कारण उपस्थित हो जाय तब यह न्याय कहा जाता है। इस अलंकार को समझाने के लिये "खले कपोतिकान्यायः" की भी मदद ली जाती है जिसे ५।९७ में देखा जा सकता है।

"सम्यक् आधिः आधानं कार्यसौकर्यस्य इति समाधिः" व्युत्पत्ति से "भली-भाँति कार्य की सुकरता की आधि (स्थापना)" अर्थ करने पर अलंकार-नाम सार्थक हो जाता है।

दण्डी ने इसका उल्लेख "समाहित" नाम से किया है।

दण्डी का उदाहरण पण्डित-राज जगन्नाथ को छोडकर सबने उद्धृत किया है। पण्डित-राज इसके २ भेद करते है।

"समुच्चय" से इसका अन्तर ५।९७ मे देखा जा सकता है ॥९८॥]

प्रत्यनीकं बलवतः शत्रोः पक्षे पराक्रमः।
जैत्रनेत्रानुगौ कर्णावुत्पलाभ्यामधः कृतौ ॥९९॥

प्रत्यनीकमिति। **बलवतः** अधिकशक्तिसम्पन्नस्य। **शत्रोः** अरेः। **पक्ष** सहायकं प्रति (कृतः)। **पराक्रमः** शौर्यप्रदर्शनम्। **प्रत्यनीकम्** (नाम अर्थालङ्कारः भवति)।

(उदाहरति यथा) **उत्पलाभ्यां** नीलकमलाभ्यां कर्णालङ्कारभूताभ्याम् इत्यर्थः (कर्तृभ्याम्)। **जैत्रे** जयनशीले च ते **नेत्रे** नयने च। तयोः **अनुगौ** अनुगामिनौ सहायकौ वा। **कर्ण** श्रवणे। **अधः** अधस्तात्। **कृतौ** विहितौ। पराजितौ इत्यर्थः ॥९९॥

(अधिक) बलवान् शत्रु के सहायक के विरुद्ध (किया गया) पराक्रम, "प्रत्यनीक" (-नामक अर्थालंकार) होता है।

(उदाहरण:—) नील कमलों ने (अपने) विजेता नेत्रों के अनुगामी (सहायक) कानों को नीचा दिखा दिया ॥९९॥

[जब कोई किसी से न जीत पाये और उसके दुर्बल सहायक से बदला ले ले, तब यह अलंकार होता है।

उदाहरण मे नेत्र नील कमलों के शत्रु है। वे अधिक बली है और विजेता सिद्ध हो चुके हैं। उनसे न जीत पाकर पराजय का बदला लेने के लिये उन (नील कमलों)-ने उन (नेत्रो)-के सहायक कानो को पराजित कर दिया है।

पहले कानो के ऊपर नील कमल अलंकार-रूप मे रखने की प्रथा थी। कानों के ऊपर पहुँचने का अर्थ उन्हे पराजित कर देना है। "प्रति" और "अनीक"

का अर्थ क्रमशः प्रतिनिधि (=सहायक) या तुल्य तथा सेना या शत्रु-पक्ष-तिरस्कार लेने से अलंकार-नाम लगभग सार्थक हो जाता है ।

यहाँ "अधः कृतौ" का एक (लाक्षणिक) अर्थ "तिरस्कृत किये गये" (है) और दूसरा (अभिधेय अर्थ) "नीचे किये गये" है ।

(कान तक फैली हुई) आँखे सामने रहती है और कान उनके पीछे, अतः कानो को नेत्रो का अनुगामी कहा गया है । "अनुग" का एक (लाक्षणिक) अर्थ "सहायक" और दूसरा (अभिधेय अर्थ) "पीछे चलने वाला" है ।

इसके उद्भावक रुद्रट है । भामह, दण्डी, उद्भट और वामन इसकी चर्चा नहीं करते । हेमचन्द्र इसे "प्रतीयमान उत्प्रेक्षा" और पण्डित-राज जगन्नाथ "हेतूत्प्रेक्षा" मे अन्तर्भूत करते है ॥९९॥]

प्रतीपमुपमानस्य हीनत्वमुपमेयतः ।
दृष्टं चेद्वदनं तस्याः किं पद्मेन किमिन्दुना ॥१००॥

प्रतीपमिति । उपमेयतः उपमेयात् । उपमानस्य । हीनत्वं न्यूनता, प्रतीपम् (नाम अर्थालङ्कारः भवति) ।

(उदाहरति यथा) तस्याः नायिकायाः इत्यर्थः । वदनम आननम् । दृष्टम् विलोकितम् । चेत् यदि (तदा) । पद्मेन कमलेन । किं किं प्रयोजनम् इति अर्थः । इन्दुना चन्द्रेण (अपि) । किं कि प्रयोजनम् इति अर्थः । न किमपि इति आशयः ॥१००॥

उपमेय की अपेक्षा उपमान की हीनता, "प्रतीप" (-नामक अर्थालंकार) है ।

(उदाहरणः–) यदि उस (नायिका)- का मुख दिख गया तो कमल से क्या मतलब और चन्द्रमा से (भी) क्या मतलब ॥१००॥

[उदाहरण में मुख, उपमेय तथा पद्म और इन्दु, उपमान है । "किम्" से उपमानों की व्यर्थता बताई गई है जिससे उपमेय की उत्कृष्टता सिद्ध होती है, अतः यहाँ "प्रतीप" अलंकार है ।

"प्रतीप" का अर्थ "उलटा" होता है । सामान्यतः उपमान, अपनी प्रसिद्धि के कारण, उपमेय की अपेक्षा श्रेष्ठ होता है । यहाँ उपमेय की श्रेष्ठता दिखाकर उलटी बात दिखाई जाती है अतः अर्थालंकार -नाम सार्थक है ।

रुद्रट इसके प्रवर्त्तक हैं। भामह, दण्डी, उद्भट और वामन इसकी चर्चा नहीं करते। जगन्नाथ इसे न मानकर अन्य अलंकारों मे अन्तर्भूत कर देते हैं।

मम्मट और अप्पय्य दीक्षित ने इसके क्रमशः ३ तथा ५ भेद बताये है। "व्यतिरेक" से इसका अन्तर ५।५६ मे देखा जा सकता है ॥ १०० ॥]

उल्लासोऽन्यमहिम्ना चेद्दोषो ह्यन्यत्र वर्ण्यते।
तद्भाग्यं धनस्यैव यन्नाश्रयति सज्जनम् ॥१०१॥

उल्लास इति। **अन्यस्य** परस्य कस्यापि वा। **महिम्ना** महत्त्वेन गुणेन वा। **अन्यत्र** परस्मिन् स्थले। **दोषः** दूषणम्। **हि** वै। **वर्ण्यते** कथ्यते। **चेत्** यदि (तदा) **उल्लासः** (नाम अर्थालङ्कारः भवति)।

(उदाहरति यथा) **यत्** यतः। (धनम्) **सज्जनं** सत्पुरुषम्। **न**। **आश्रयति** प्राप्नोति। **तत्**। (तस्य) **धनस्य** वित्तस्य। **एव**। **अभाग्यं** दौर्भाग्यम्। न तु सज्जनस्य अन्यस्य वा कस्यापि इत्यर्थः ॥ १०१ ॥

यदि किसी की महत्ता (या गुण) से बुराई दूसरी जगह बताई जाती है तो "उल्लास" (-नामक अर्थालंकार) होता है।

वह धन का ही दुर्भाग्य है (न कि सज्जन का) कि सज्जन का आश्रय नही लेता ॥१०१॥

[उदाहरण में सज्जन के गुण के कारण उसकी दरिद्रता का दोष उसका न मानकर अन्यत्र (धन पर) आरोपित किया गया है, अतः "उल्लास" अलंकार है।

गुणो या महत्ता के कारण करुणा, अनुराग या श्रद्धा होती है जिससे गुणी या महान् व्यक्ति दोषी नहीं ठहराये जाते; वैसी स्थिति में वे दोष दूसरे पर मढ़े जाते हैं।

जयदेव ने इस अलंकार की सर्व-प्रथम चर्चा की है। नागेश के अनुसार इसका अन्तर्भाव "काव्य-लिंग" या "विषम" में हो सकता है।

अप्पय्य दीक्षित और जगन्नाथ ने इसके ४ भेद माने है।

"अवज्ञा" तथा "तद्गुण" से इसका अन्तर क्रमशः ५।१०७ तथा ५।१०२ मे देखा जा सकता है ।।१०१।।]

तद्गुणः स्वगुणत्यागादन्यतः स्वगुणोदयः ।
पद्मरागारुणं नासामौक्तिकं तेऽधराश्रितम् ।।१०२।।

तद्गुण इति । **स्वस्य** निजस्य **गुणः स्वगुणः** तस्य त्यागः विसर्जनम् तस्मात् **स्वगुणत्यागात्** । **अन्यतः** अन्यस्मात् स्थानात् । **गुणस्य उदयः** आविर्भावः **गुणोदयः स्वस्मिन्** आत्मनि **गुणोदयः स्वगुणोदयः** । **तद्गुणः** (नाम अर्थालङ्कारः भवति) ।

(उदाहरति यथा) **नासायां** नासिकायाम् **मौक्तिकं** मुक्ताफलं **नासामौक्तिकम्** । **ते** तव । **अधरे** ओष्ठे **आश्रितं** स्थितम् **अधराश्रितम्** (सत्) । **पद्मराग** -(मणि-) वत् **अरुणं** रक्तं **पद्मरागारुणम्** (अस्ति) ।। १०२ ।।

अपने गुण के त्याग से दूसरी जगह से अपने मे गुण पैदा होना, "तद्गुण" (-नामक अर्थालंकार) है ।

(उदाहरणः-) तुम्हारी नाक का मोती, ओंठ पर स्थित होकर पद्मराग (चुन्नी) के समान लाल है ।।१०२।।

[उदाहरण मे मोती ने अपना गुण (श्वेत वर्ण) त्यागकर ओठ की ललाई ग्रहण कर ली है, अतः ' तद्गुण" अलंकार है ।

यह उक्ति, नायक के द्वारा नायिका के प्रति कही गई हो सकती है ।

"तस्य अप्रकृतस्य गुणः यत्र सः तद्गुणः" व्युत्पत्ति से "जिसमें अप्रस्तुत के गुण हों, वह तद्गुण है" अर्थ निकलता है जिससे अलंकार-नाम सार्थक हो जाता है ।

यहाँ "गुण" का अर्थ रूप है । जैसे गुड़हल के फूल को शीशे के पास रख दें तो ललाई, शीशे में चली जाती है, उसी प्रकार अप्रस्तुत का बाह्य रूप यदि प्रस्तुत में आ जाय तो यह अलंकार होता है ।

अप्रस्तुत का बाह्य रूप ऐसा होना चाहिये कि वह प्रस्तुत को प्रभावित कर सके ।

इस अलंकार की सर्व-प्रथम चर्चा रुद्रट ने की है। भामह, दण्डी, उद्भट और वामन इसका उल्लेख नहीं करते।

रुद्रट के अनुसार इस अलंकार के २ भेद है। "मीलित", "भ्रांति" तथा "सामान्य" से इस अलंकार का अन्तर क्रमशः ५।३५, ५।३२ तथा ५।३६ में देखा जा सकता है।

"उल्लास" में पावनता आदि आन्तरिक गुणों का ग्रहण होता है, जब कि "तद्गुण" मे बाह्य रूप का ग्रहण होता है। "अनुगुण"से इसका अन्तर ५।१०६ मे देखा जा सकता है ॥१०२॥]

पुनः स्वगुणसम्प्राप्तिर्विज्ञेया पूर्वरूपता।
हरकण्ठांशुलिप्तोऽपि शेषस्त्वद्यशसा सितः ॥१०३॥

पुनरिति। पुनः भूयः। स्वस्य निजस्य गुणः स्वगुणः तस्य सम्प्राप्तिः लाभः स्वगुणसम्प्राप्तिः। पूर्वरूपता (नाम अलङ्कारः)। विज्ञेया बोध्या।

(उदाहरति यथा) हरस्य शिवस्य। कण्ठः ग्रीवा। तस्य अंशुः किरणः। तेन लिप्तः युक्तः। अपि। शेषः अनन्तनामकः नागः। तव यशसा कीर्त्या त्वद्यशसा। सितः श्वेतः (एव अस्ति) ॥ १०३ ॥

फिर से अपने गुणो को पा लेना "पूर्व-रूपता" (-नामक अर्थालंकार) जाननी चाहिये।

(उदाहरण:–) शङ्कर के गले में लिपटा हुआ होकर भी शेष (नाग) तुम्हारे यश से सफेद (ही) है ॥१०३॥

[उदाहरण मे शंकर के गले मे लिपटने से श्वेत वर्ण के शेष नाग का वर्ण सफेद न रहकर नीला हो जाना चाहिये था पर शङ्कर के गले की नीलिमा के शेष नाग पर हावी होने के बाद आपके यश की सफेदी उस नीलिमा पर हावी होकर 'शेष' नाग को पुनः सफेद बना देती है। इस प्रकार पुनः अपने बाह्य रूप की प्राप्ति हो जाने से यहाँ "पूर्व-रूपता" अलंकार है।

उदाहरण राजा के प्रति किसी प्रशंसक की उक्ति हो सकता है।

"पूर्व-रूपता" में "तल्" प्रत्यय भाव या सत्ता अर्थ में मानकर अलङ्कार-नाम "पूर्व-रूप" कहा जा सकता है, पर कोई बाधा न होने से मूल "पूर्व-रूपता" नाम ही मानना युक्ति-सङ्गत है।

परिभाषा में आया "गुण" शब्द यहाँ भी बाह्य रूप के लिये आया है और उसी तरह प्रस्तुत मे परिवर्तन होता है। एक प्रस्तुत और दो अप्रस्तुत है तथा बाद वाला अप्रस्तुत, प्रस्तुत के रूप-रंग का और शेष दोनो पर हावी होता है।

"पूर्व-रूपता" के लिये यह आवश्यक है कि पहले "तद्गुण" हो, अन्यथा पहले का स्वरूप लाने की आवश्यकता हो न रहेगी।

समुद्र-मन्थन के समय निकले हालाहल से संसार को जलता देखकर करुणाकर भगवान् शिव ने उसे पीकर गले में ही रोक लिया था जिससे उसकी भयंकरता के कारण उनकी ग्रीवा नीली हो गई थी और उनके नाम नीलकण्ठ, शितिकण्ठ आदि पड गये थे।

कवियो मे यश तथा शेष का वर्ण श्वेत माना गया है।

इस अलङ्कार के प्रथम प्रवर्त्तक जयदेव हैं। भामह, दण्डी, उद्भट, वामन, रुद्रट, मम्मट और रुय्यक यह (अलङ्कार) नहीं मानते। जगन्नाथ, गोविन्द ठक्कुर और नागेश ने इसका अन्तर्भाव "द्वितीय तद्गुण", अलङ्कार मे कर दिया है।

"मीलित" में अप्रस्तुत का बाह्य रूप-रंग प्रस्तुत में विलीन हो जाता है जब कि इस अलङ्कार में प्रस्तुत के बाह्य रूप-रंग के हावी हो जाने पर दूसरा अप्रस्तुत पहले अप्रस्तुत के रूप-रंग पर हावी होकर पूर्व परिवर्तन को लक्षित नहीं होने देता। यदि "तद्गुण" अलङ्कार का प्रसङ्ग निकाल दिया जाय तो "मीलित" और "पूर्व-रूपता" मे कोई अन्तर न रह जायेगा।

"द्वितीय पूर्व-रूपता" से इसका अन्तर ५।१०४ में देखा जा सकता है ॥१०३॥]

यद्वस्तुनोऽन्यथारूपं तथा स्यात्पूर्वरूपता।
दीपे निर्वापिते ह्यासीत्काञ्चीरत्नैरहर्महः ॥१०४॥

यदिति । **यत्** । **वस्तुनः** पदार्थस्य । **रूपं** बाह्यः गुणः । **अन्यथा** उच्छिन्नं (सत्) । **तथा** पूर्ववत् स्वाभाविकम् इत्यर्थः । **स्यात्** भवेत् । (तत्) (द्वितीय-) **पूर्वरूपता** (नाम अर्थालङ्कारः भवति) ।

(उदाहरति यथा) **दीपे** दीपके । **निर्वापिते** शान्ति प्रापिते । (सति) **अह्-र्महः** **अह्नः** दिनस्य **महः** तेजः । **हि** वै । **काञ्च्याः** रशनायाः । **रत्नैः** मणिभिः । **आसीत्** अभूत् ॥ १०४ ॥

(किसी) पदार्थ के विपरीत रूप का वैसा (पूर्व-रूप-युक्त) (हो) हो जाना, "(द्वितीय-) पूर्व-रूपता" (-नामक अर्थालङ्कार) है ।

(उदाहरणः–) दीपक के बुझा दिये जाने पर करधनी के रत्नो से दिन का तेज हो गया ॥१०४॥

[उदाहरण मे करधनी को मणियो की कान्ति से बीच मे आये अंधकार की कालिमा नष्ट हो गई है, और वही दिवस-तेज स्थापित हो गया है । इस प्रकार विपरीत रूप के नष्ट होने और पूर्व रूप के आ जाने से "पूव-रूपता" अलङ्कार की परिभाषा चरितार्थ हो गई है ।

दूसरी बार अलङ्कार का लक्षण और उदाहरण देने से इसे "द्वितीय पूर्व-रूपता" कहा जाता है । दोनो का अन्तर टीका के अन्त मे देखा जा सकता है ।

पहले वाले "तद्गुण" और इस अलङ्कार मे यह अन्तर है कि पहले अलङ्कार में रूप का नाश न होकर, उसके ढक जाने से भिन्नता और पूर्व-रूपता की प्रतोति होती थी, उसके विपरीत इस अलङ्कार मे वस्तु बिलकुल बदल जाती है, उसका पहले का रूप ढकने के स्थान पर नष्ट हो जाता है । व्याकरण की भाषा मे कह सकते हैं कि पहले वाले मे "आगम" की तरह परिवर्धन हुये थे और इस वाले मे "आदेश" की तरह परिवर्त्तन हुये है ॥१०४॥]

सङ्गतान्यगुणानङ्गीकारमाहुरतद्गुणम् ।
विशन्नपि रवेर्मध्यं शीत एव सदा शशी ॥१०५॥

सङ्गतेति । **अन्यस्य** परस्य पदार्थस्य **गुणाः** **अन्यगुणाः** । **सङ्गताः** प्रसक्ताः च ते **अन्यगुणाः** च **सङ्गतान्यगुणाः** । न **अङ्गीकारः** ग्रहणम्

अनङ्गीकारः। तम्। **अतद्गुणम्** (तदाख्यम् अर्थालङ्कारम्)। **आहुः** कथयन्ति। विद्वांसः इति शेषः।

(उदाहरति यथा) **रवेः** सूर्यस्य। **मध्यं** मध्यभागम्। **विशन्** प्रविशन्। **अपि**। **शशी** चन्द्रः। **सदा** सततम्। **शीतः** शीतलः ॥१०५॥

अन्य से सम्बद्ध गुण के ग्रहण न करने को "अतद्गुण" (-नामक अर्थालङ्कार) कहा गया है।

(उदाहरण:-) सूर्य के मध्य भाग में प्रवेश करता हुआ भी चन्द्रमा हमेशा शीतल ही रहता है ॥ १०५ ॥

[उदाहरण में सूर्य की उष्णता के सम्पर्क में आकर भी चन्द्रमा उस (उष्णता)- को नहीं लेता, अतः "अतद्गुण" अलङ्कार है।

शीतल वस्तु पर उष्ण वस्तु की उष्णता का असर होना ही स्वाभाविक है। यहाँ चन्द्रमा पर कोई असर न होने से उलटी बात हुई है।

एक राशि में स्थित चन्द्रमा सूर्य में प्रवेश करता है; ऐसा ज्योतिष में बताया गया है।

यह अलङ्कार "तद्गुण" का विलोम (उलटा) है। इसमें "विशेषोक्ति" का कुछ पुट है।

मम्मट ने सर्व-प्रथम इस अलङ्कार का उल्लेख किया है। भामह, दण्डी, उद्भट, वामन और रुद्रट ने इसकी चर्चा नहीं की है।

"तस्य अन्यस्य गुणः बाह्यं रूपं तद्गुणः। न भवति तद्गुणः यस्मिन् सः अतद्गुणः" व्युत्पत्ति से "तद्गुण" का अर्थ "दूसरे के गुण जिसमें उत्पन्न न हों" लेने से यह अलङ्कार-नाम सार्थक हो जायेगा।

मम्मट, रुय्यक और विश्व-नाथ के अनुसार प्रकृत और अप्रकृत, इस अर्थालङ्कार में क्रमशः श्रेष्ठ और निकृष्ट होते हैं।

"विशेषोक्ति" में कारण के रहने पर भी कार्य नहीं होता। यह बड़ा भाग है और इसमें "तद्गुण" की परिभाषा उपभाग है, जिस तरह उत्सर्ग (नियम) में

अपवाद की स्थिति होती है। जिस गुण के सम्पर्क मे आते है, वह कारण और गुणग्रहण न करना कार्य-अभाव है। दोनो मे अन्तर यही है कि "विशेषोक्ति" मे कारण-जैसे व्यापक तत्त्व के रहते कार्य नही होता और इस अलङ्कार मे केवल गुण-रूपी कारण रहते कार्य नही होता। गुण-रूपा कारण होने पर कार्य का अभाव होने पर "विशेषोक्ति" नही होती ॥१०५॥]

प्राक्सिद्धस्वगुणोत्कर्षोऽनुगुणः परसन्निधेः।
कर्णोत्पलानि दधते कटाक्षैरपि नीलताम् ॥ १०६ ॥

प्रागिति। परस्य अन्यस्य। सन्निधेः सामीप्यात्। स्वस्य आत्मनः गुणः स्वगुणः तस्य उत्कर्षः उन्नतिः स्वगुणोत्कर्षः। प्राक् पूर्वम् सिद्धः स्थितः च सः स्वगुणोत्कर्षः च प्राक्सिद्धस्वगुणोत्कर्षः। अनुगुणः (नाम अर्थालङ्कार. भवति)।

(उदाहरति यथा) कर्णयोः श्रवणयोः। उत्पलानि नीलकमलानि। कटाक्षैः अपाङ्गैः। अपि। नीलताम् श्यामता नीलतरताम् इति यावत्। दधते धारयन्ति ॥ १०६ ॥

दूसरे का सामीप्य होने पर पहले से ही स्थित अपने गुणो मे उत्कर्ष आना, "अनुगुण" (-नामक अर्थालङ्कार) होता है।

(उदाहरण —) कान पर रखे नील कमल कटाक्षो से और नोलापन (अधिक नीलता) धारण करते है ॥१०६॥

[उदाहरण मे पहले से ही (नील कमलों म) विद्यमान वस्तु (नीलिमा), दूसरी वस्तु (कटाक्ष) के सम्पर्क से अधिक गुण वाली (नील) हो गई है, अतः "अनुगुण" अलंकार है।

"अनु" का अर्थ अनुसार और "गुण" का अर्थ "गुण मे वृद्धि होना" लेने से किसी तरह अलंकार-नाम सार्थक कहा जा सकता है।

परिभाषा में कोई तात्त्विक अन्तर न होने से नागेश ने इसे "तद्गुण" में अन्तर्भूत किया है।

"तद्गुण" और इसके बीच यह अन्तर है कि "तद्गुण" में विषम रूप-रंग का प्रभाव पडता है और इसमे सम रूप-रंग का ॥१०६॥]

अवज्ञा वर्ण्यते वस्तु गुण दोपाक्षमं यदि ।
म्लायन्ति यदि पद्मानि का हानिरमृतद्युतेः ॥ १०७ ॥

अवज्ञेति । यदि चेत् । गुणः च दोपः दूषणं च गुणदोषौ । तयोः (लाभे) अक्षमम् अयोग्यम् । वस्तु पदार्थः । वर्ण्यते कथ्यते । (तदा) अवज्ञा (नाम अर्थालङ्कारः भवति)।

(उदाहरति यथा) यदि चेत् । पद्मानि कमलानि । म्लायन्ति सङ्कुचन्ति । (तदा) अमृतद्युतेः सुधाशोः चन्द्रस्य । का । हानिः क्षतिः । न कापि इत्यर्थः । स तु अमृतद्युति : एव न तु गरलद्युतिः ॥ १०७ ॥

अगर गुण तथा दोष (पाने) मे असमर्थ वस्तु का वर्णन किया जाय तो "अवज्ञा" (-नामक अर्थालङ्कार) होतो है ।

यदि कमल मुरझाते है तो चन्द्रमा (जिसकी चमक मे अमृत है) की क्या क्षति है (कुछ भी नहीं; वह तो अमृत-द्युति ही रहेगा, विप-द्युति नही हो जायेगा ।।१०७।।

[उदाहरण मे पद्म के म्लान होने या उसको म्लान करने का दोष,अमृत-द्युति चन्द्रमा का दोष नही हो पाता; चन्द्रमा दोष-रहित ही रहता है; इस प्रकार गुण-दोष पाने मे अयोग्य चन्द्र-रूपी वस्तु का वर्णन होने से "अवज्ञा" नामक अलङ्कार है ।

"अवज्ञा" का अर्थ अवहेलना है । इस अलंकार मे एक पदार्थ दूसरे के गुण-दोष की अवहेलना करता है; उससे निश्चिन्त रहता है । इस प्रकार अलकार-नाम सार्थक कहा जा सकता है ।

इस अलंकार का प्रथम बार निरूपण करने वाले जयदेव हैं ।

कारण के रहने पर कार्य न होना "विशेषोक्ति" अलकार है जिसमे यह अलंकार गतार्थ हो सकता है, ऐसा पण्डित-राज जगन्नाथ और नागेश का कहना है । इस उदाहरण मे कारण पद्म-संकोच है पर उसका कार्य अमृत-द्युति के यश की हानि का कार्य सम्पन्न नहीं हो रहा है । "विशेषोक्ति" के अपवाद के रूप में यह अलंकार माना जा सकता है अर्थात् जहाँ-जहाँ "अवज्ञा" अलंकार होगा, उसे-उसे छोड़कर शेष स्थलों में "विशेषोक्ति" अलंकार होगा ।

"उल्लास" अलंकार का यह विलोम है। "उल्लास" मे एक के गुण-दोष दूसरे को व्यापते है। इस अलङ्कार ("अवज्ञा") मे एक (पद्म) के गुण-दोष दूसरे (चन्द्रमा) को नही व्यापते ॥१०७॥]

प्रश्नोत्तरं क्रमेणोक्तौ स्यूतमुत्तरमुत्तरम्।
यत्रासौ वेतसी पान्थ तत्रासौ सुतरा सरित् ॥१०८॥

प्रश्नोत्तरमिति। उक्तौ कथने सति प्रश्नोत्तरयोः इत्यर्थः। **क्रमेण** क्रमशः। **स्यूतं** लग्नम्। उत्तरम् उत्तरम् प्रश्नरूपम् उत्तररूपं वा। प्रश्नोत्तरम् (नाम अर्थालङ्कारः भवति)।

(उदाहरति यथा) **पान्थ** यात्रिक। **यत्र** यस्मिन् स्थले। **असौ** दूरे दृश्यमाना। **वेतसी** वानीरवृक्षः। **तत्र** तस्मिन् स्थले। **असौ** दृश्या। **सरित** नदी। **सुतरा** सुखेन तर्तुं शक्या ॥ १०८ ॥

(प्रश्न और उत्तर के) कथन के पश्चात् क्रमशः आगे सलग्न उत्तर (प्रश्न-रूप या उत्तर-रूप), "प्रश्नोत्तर" (-नामक अर्थालंकार) है।

(उदाहरण:-) बटोही, जहाँ वह वेत है, वहाँ वह नदी आसानी से पार होने योग्य है ॥१०८॥

[उदाहरण मे प्रश्न न देकर केवल उत्तर दिया गया है, पर उत्तर ऐसा है जिससे स्पष्ट है कि पहले बटोही ने प्रश्न किया है और उस पर उसे उत्तर मिला है।

यह स्वयं दूत बनी नायिका का कथन हो सकता है जो बटोही को बेत से घिरे गुप्त स्थान मे चलने का संकेत कर रही है।

परिभाषा बहुत स्पष्ट नहीं दी गई है। व्याख्या मे बहुत सी बाते जोड़ने पर ही अर्थ निकल पाता है। उत्तर से प्रश्न का और प्रश्न से उत्तर का जहाँ अनुमान लगाया जाय, वहाँ "प्रश्नोत्तर" अलंकार होता है।

इसमें प्रायः गुप्त अर्थ-युक्त अथवा शृंगार-परक वर्णन होता है।

रुद्रट इसके प्रवर्त्तक है। भामह, दण्डी, उद्भट और वामन ने इसकी चर्चा नही की है।

अन्य आचार्यों ने इस अलङ्कार को "उत्तर" कहा है ।

मम्मट और जगन्नाथ इसके क्रमशः २ और ८ भेद करते है ।

"काव्य-लिङ्ग" से इसका अंतर ५।३८ मे देखा जा सकता है ।

"अनुमान" मे साध्य और साधन एक साथ (होते है) और एक ही जगह होते है । इसके विपरीत इस ("उत्तर") अलङ्कार में साध्य (उत्तर) और साधन (प्रश्न) मे से एक हो रहता है और वह भी साध्य (उत्तर)-परक हो तथा साध्य (उत्तर) एक मे और साधन (प्रश्न) दूसरे मे स्थित होता है ॥१०८॥]

पिहितं परवृत्तान्तज्ञातुरन्यस्य चेष्टितम् ।
प्रिये गृहागते प्रातः कान्ता तल्पमकल्पयत् ॥ १०९ ॥

पिहितमिति । परस्य (अन्यस्य) कस्यापि (गुप्तस्य) वृत्तान्तस्य वृत्तस्य ज्ञातु. वेत्तुः । अन्यस्य परस्य परवृत्तान्तज्ञातुः इत्यर्थः । चेष्टितं गुप्तपर-वृत्तान्तव्यञ्जकं कार्यम् । पिहितम् (नाम अर्थालङ्कारः भवति) ।

(उदाहरति यथा) प्रातः प्रभाते । प्रिये कान्ते । गृहम् आलयम् । आगते परावृत्ते । कान्ता प्रिया । तल्प शयनम् । अकल्पयत् अर-चयत् ॥ १०९ ॥

किसी (दूसरे) का (छिपा) हाल जानने वाले दूसरे व्यक्ति की गुप्त-वृत्तान्त-व्यञ्जक चेष्टा, "पिहित" (-नामक अर्थालङ्कार) होता है ।

(उदाहरणः—) सबेरे प्रिय के घर आने पर प्रिया ने शय्या सजा दो ॥१०९॥

[उदाहरण का अभिप्राय गुप्त है । पर नायिका से सम्बन्ध रखने वाला प्रिय जब उसके पास रात भर रहकर सबेरे वापस आया तब सारी बातें समझने वाली उसकी पत्नी ने शय्या सजा दी । यह शय्या सजाना इस बात को द्योतित करता है कि मुझे सब विदित है; तुम थक गये होगे; आराम करो । यहाँ पुरुष का रहस्य जानने वाली उससे भिन्न, पत्नी है और वह शय्या सजाने को चेष्टा से रहस्य का उद्घाटन करती है, अतः "पिहित" अलङ्कार है ।

"पिहित" का अर्थ "ढका हुआ" होता है । गुप्त वृतान्त को शब्दों से न प्रगट कर चेष्टा से व्यक्त करने के कारण वह (वृत्तान्त) ढका ही रहता है;

केवल सम्बद्ध व्यक्ति समझ जाता है। इस प्रकार अलङ्कार-नाम सार्थक है।

इसके प्रवर्त्तक जयदेव है। भामह, दण्डी, उद्भट, वामन और रुद्रट ने इस अलङ्कार की चर्चा नहीं की है। रुद्रट ने "पिहित" नाम का उल्लेख किया है पर परिभाषा भिन्न होने से उसे मत-भेद न मानकर दूसरा अलंकार मानना उचित है ॥ १०९ ॥]

व्याजोक्तिः शङ्कमानस्य छद्मना वस्तुगोपनम्।
सखि पश्य गृहारामपरागैरस्मि धूसरा ॥ ११० ॥

व्याजोक्तिरिति। **शङ्कमानस्य** गुप्तं वृत्तं वितर्कयन्तम् जनं प्रति। **छद्मना** व्याजेन। **वस्तुनः** पदार्थस्य गुप्तवृत्तस्य इति अर्थः। **गोपनम्** आवरणम्। **व्याजोक्तिः** (नाम अर्थालङ्कारः भवति)।

(उदाहरति यथा) **सखि** आलि। **पश्य** विलोकय। **गृहे** आलये यः **आरामः** उद्यानम् तत्र ये **परागाः** धूलयः पुष्परजांसि वा तैः। **धूसराः** ईषत् पाण्डुः **अस्मि** जाता ॥ ११० ॥

(गुप्त वृत्तान्त की) आशंका करने वाले व्यक्ति से, बहाना बनाकर बात छिपा जाना "व्याजोक्ति" (-नामक अर्थालङ्कार) है।

(उदाहरणः–) हे सखी, देखो, घर की वाटिका की धूल (या पुष्प रजा) से धूसर हो गई हूँ ॥११०॥

[उदाहरण मे कहने वाली स्त्री, शरीर पर लगी धूल संकेत-स्थान पर लगी होने की बात ताड लेने वाली अपनी सहेली से रहस्य छिपाने के लिये बहाना बना रही है। बहाने से बात छिपाई गई है, अत: "व्याजोक्ति" अलङ्कार है।

"व्याज" का अर्थ "बहाना" और "उक्ति" का अर्थ "कथन" है। जहाँ बहाने की बात कही जाय या बहाना बनाया जाय, वहाँ यह अलंकार होता है। इस प्रकार अलंकार-नाम सार्थक है।

इस अलंकार के लिये शंका प्रगट करने वाला, उस शंका को दूर करने के लिये बहाना बनाने वाला, असावधानी से असली कारण का आधार और

आधार को, बहाने से, दूसरे कारण का आधार बनाना–ये बातें–आवश्यक हैं।

वामन ने सर्व-प्रथम इसकी चर्चा की है। भामह, दण्डी और उद्भट इस (अलंकार)-का उल्लेख नहीं करते। बाद के जगन्नाथ भी इसका वर्णन नहीं करते।

इसका दूसरा नाम "मायोक्ति" होने का भी उल्लेख मिलता है।

इसके आगे कुवलयानन्द में "गूढोक्ति", "विवृतोक्ति", "युक्ति", "लोकोक्ति" और "छेकोक्ति" अलंकार आये हैं।

"अपह्नुति" से इस अलंकार का अन्तर ५।२४ में देखा जा सकता है।

"छेकापह्नुति" में जिसे छिपाना है, उसका कथन होने पर खण्डन किया जाता है। इसके विपरीत "व्याजोक्ति" में कथन नहीं किया जाता; केवल दूसरा (झूठा) कारण बताया जाता है जिससे शंका दूर हो जाय या होने ही न पाये ॥११०॥]

वक्रोक्तिः श्लेषकाकुभ्यां वाच्यार्थान्तरकल्पनम् ।
मुञ्च मानन्दिनं प्राप्तं मन्द नन्दी हरान्तिके ॥१११॥

वक्रोक्तिरिति। श्लेषः च काकुः च श्लेषकाकू। ताभ्याम्। **वाच्यः** च असौ **अर्थः** वाच्यार्थः। अन्यः **वाच्यार्थः** **वाच्यार्थान्तरम्**। तस्य **कल्पनं** संयोजनम् **वाच्यार्थान्तरकल्पनम्**। वक्रोक्तिः (नाम अर्थालङ्कारः भवति)।

(उदाहरति यथा) **मानं** कोपम्। **मुञ्च** त्यज। **दिनं** दिवसः। **प्राप्तं** जातम्। रात्रिः याता बहुः च कालः अतिक्रान्तः इति भावः। नायिका प्रति नायकस्य विनयोक्तिः माननिवारणार्थम् (श्लेषमहिम्ना)। **प्राप्तं** लब्धम्। **नन्दिनं** शिववाहनम्। **मा न**। **मुञ्च** त्यज। इमम् अपरम् अर्थं संयोज्य नायिका उत्तरयति। **मन्द** मूर्ख। **नन्दी** शिववाहभूतः वृषभः (तु)। **हरस्य** शिवस्य। **अन्तिके** समीपे।। वर्त्तते इति शेषः। कुतः तद्मोचननिषेधप्रसङ्गः ॥१११॥

"श्लेष" और "काकु" से अन्य वाच्य अर्थ लेना, वक्रोक्ति (-नामक अर्थालङ्कार) है।

(उदाहरणः—) "मान छोड़ो; दिन हो गया है।" "मूर्ख, नन्दी (तो) शंकर के पास है।"

[उदाहरण मे मानवती नायिका को मनाते हुये नायक कहता है कि मान किये हुये बहुत देर हो गई । रात बीत गई और दिन आ गया है; मान छोड दो । इस पर उक्त कथन का शब्द-श्लेष से दूसरा अर्थ, "आ पहुँचे नन्दी को मत छोडो" लेकर नायिका कहती है कि "नन्दी तो शंकर के पास है; उसे छोड़ने न छोड़ने का प्रश्न ही नही उठता ।" इस प्रकार अन्य अर्थ की उद्भावना कर लेने के कारण यहाँ "वक्रोक्ति" अलंकार है ।

इस अलङ्कार के आधार पर कुन्तक ने "वक्रोक्ति" नामक सम्प्रदाय ही विकसित किया है जिसमे सभी अलङ्कारो का समावेश वक्रोक्ति मे दिखाया है; जिस प्रकार काव्य का प्राण रस मानकर रस-सम्प्रदाय और अलंकार मानकर अलंकार-संप्रदाय प्रचलित किये गये, उसी प्रकार वक्रोक्ति मानकर वक्रोक्ति-सम्प्रदाय प्रचलित किया गया ।

"काकु" से "वक्रोक्ति" का उदाहरण यहाँ नही दिया गया है । काकु-मूलक का उदाहरण निम्न-लिखित है:—

काले कोकिलवाचाले सहकारमनोहरे ।
कृतागस· परित्यागात् तस्याश्चेतो न दूयते ॥

[कोयल के कारण मुखर और आम्र के कारण मनोरम समय मे अपराधी (पर स्त्री-संबंध से अपराधी नायक) के परित्याग से उस (नायिका)-का चित्त दुखी नही है ?]

उक्त उदाहरण मे "चेतो न दूयते" वाक्य का उच्चारण प्रश्नात्मक रीति से करने पर "कि चेतो न दूयते" अर्थ निकलेगा, और "काकु" अर्थात् ध्वनि-परिवर्त्तन से (विपरीत) अर्थ का ग्रहण हो जायेगा ।

"वक्र" का अर्थ "कुटिल" और "उक्ति" का अर्थ "कथन" है । जहाँ बात सीधे-सीधे न कहकर भङ्गिमा के साथ कही जाय, वहाँ "वक्रोक्ति" होती है । उदाहरण मे बात का उत्तर सीधा अर्थ न लेकर उलटे अर्थ के आधार पर दिया जाने से उत्तर की उक्ति "वक्रोक्ति" हो गई है ।

रुद्रट ने सर्व-प्रथम इस "वक्रोक्ति" की चर्चा की है। भामह और वामनने इस नाम का प्रयोग अन्य परिभाषायें देकर किया है।

मम्मट, रुय्यक और विश्व-नाथ ने इस अलंकार के २ भेद किये हैं।

"अपह्नुति" में अपना ही कथन को छिपाकर दूसरा कथन किया जाता है जब कि इस ("वक्रोक्ति") अलङ्कार में दूसरे का कथन छिपाकर दूसरा कथन किया जाता है ॥१११॥]

स्वभावोक्तिः स्वभावस्य जात्यादिषु च वर्णनम् ।
कुरङ्गैरुत्तरङ्गाक्षि स्तब्धकर्णैरुदीक्ष्यते ॥११२॥

स्वभावोक्तिरिति । जातिः आदौ येषां तेषु जात्यादिषु हरिणत्वादिषु । विषये सप्तमी । आदिपदेन गुणस्य क्रियायाः च ग्रहणम् । च । **स्वभावस्य** चेष्टायाः । **वर्णनं** कथनम् । **स्वभावोक्तिः** (नाम अर्थालङ्कारः भवति) ।

(उदाहरति यथा) उत्तरङ्गे तरङ्गायमाणे अक्षिणी नेत्रे यस्याः सा तत्सम्बुद्धौ हे **उत्तरङ्गाक्षि** । **कुरङ्गैः** हरिणैः । **स्तब्धौ** निश्चलौ **कर्णौ** श्रवणौ येषां तैः **स्तब्धकर्णैः** (सद्भिः) **उदीक्ष्यते** दृश्यते ॥ ११२ ॥

(और) जाति इत्यादि (= क्रिया तथा गुण) के विषय में स्वभाव का वर्णन, स्वभावोक्ति (-नामक अर्थालङ्कार) है।

(उदाहरण :–) हे तरङ्गित हो रहे नेत्रों वाली (सुन्दरी), हिरन कान स्थिर कर देख रहे हैं ॥ ११२ ॥

[हिरन का स्वभाव है कि नई चीज देखते समय कान स्थिर कर लेते हैं। इस प्रकार हरिणत्व जाति के स्वभाव का वर्णन होने से यहाँ "स्वभावोक्ति" अलङ्कार है।

"स्वभावस्य उक्तिः स्वभावोक्तिः" व्युत्पत्ति के अनुसार स्वभाव की उक्ति या वर्णन स्वभावोक्ति है। इस तरह अलङ्कार-नाम बहुत सार्थक है।

साधारण व्यक्ति का ध्यान स्वाभाविक बात की ओर नहीं जाता; कवि को उसमें भी सौन्दर्य के दर्शन होते हैं और उसके द्वारा वर्णित होने पर वही सामान्य स्वभाव जो देखने पर उतना आनन्द नहीं देता पढ़ने और सुनने भर

से आनन्द प्रदान करता है।

अग्नि-पुराण ने इसे "स्वरूप" नाम दिया है तथा दण्डी, रुद्रट, भोज, हेमचन्द्र और वाग्भट ने "जाति"। दण्डी इसे इस ("स्वभावोक्ति") नाम से भी पुकारते है। भामह और केशव मिश्र ने इसे "स्वभाव" नाम से उल्लिखित किया है।

भामह ने अन्यों के मत से इस अलंकार के "स्वभावोक्ति" नाम की भी चर्चा की है। बाण ने "कादम्बरी" और "हर्ष-चरित" मे इस अलंकार का उल्लेख किया है।

"वक्रोक्ति" को काव्य-जीवित मानने वाले कुन्तक "स्वभावोक्ति" को अलंकार मानने वालो का उपहास करते है। इसके विपरीत दण्डी ने इस अलकार को भूरि-भूरि प्रशसा की है :—

शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्य काव्येष्वप्येतदीप्सितम् (काव्यादर्श २।१३)।

(शास्त्रो मे इसी का साम्राज्य है और काव्यो मे भी यह ईप्सित है।)

रुद्रट ने "स्वभावोक्ति" की विशेष रमणीयता के स्थल निम्न-लिखित बताये है :—

शिशुमुग्धयुवतिकातरतिर्यक्संभ्रान्तहीनपात्राणाम् ।
सा कालावस्थोचितचेष्टासु विशेषतो रम्या ॥ (काव्यालकार ७।३१)

बच्चे, भोली बाला, विह्वल, पक्षी, घबडाये हुये प्राणी तथा हीन पात्रों की काल और अवस्था के अनुरूप चेष्टाओ मे यह अलङ्कार विशेष रूप से रमणीय होता है ॥ ११२ ॥]

भाविकं भूतभाव्यर्थसाक्षाद्दर्शनवर्णनम् ।
अलं विलोकयाद्यापि युध्यन्तेऽत्र सुरासुराः ॥ ११३ ॥

भाविकमिति। भूताः अतीताः च भाविन अनागताः च भूतभाविनः। भूतभाविनः च ते अर्थाः च भूतभाव्यर्थाः। तेषा साक्षाद्दर्शनं साक्षात्कारः। तस्य वर्णनं कथनम्। भाविकम् (नाम अर्थालङ्कारः भवति)।

(उदाहरति यथा) **अलं** सुष्ठ ह्रस्व को ३ मात्रा। **विलोकय** पश्य। **अद्य** अधुना अस्मिन् दिने वा। **अपि**। **अत्र** अस्मिन् स्थाने। **सुराः** देवाः च **असुराः** दानवाः च। **युध्यन्ते** युद्धं कुर्वन्ति (इति) ॥ ११३ ॥

बीते हुये तथा आने वाले पदार्थों के साक्षात्कार का वर्णन, "भाविक" (-नामक अर्थालङ्कार) होता है।

खूब देखो; आज (अब) भी यहाँ देव और दानव लड़ रहे है॥ ११३ ॥

[उदाहरण मे भूत-कालीन (अप्रस्तुत) देवासुर-संग्राम के साक्षात्कार का वर्णन होने से "भाविक" अलङ्कार है।

रण की भीषणता बताने के लिये प्रस्तुत युद्ध के रूप मे देवासुर-संग्राम के ही चलने का वर्णन किया गया है।

प्रसंग न होने से "अद्यापि" उस काल के लिये भी कहा जा सकता है जब देवासुर संग्राम ही चल रहा था, पर तब कोई विशेष चमत्कार न होता, अतः "प्रस्तुत युद्ध मे देवासुर-युद्ध का आरोप कर चमत्कार पैदा किया गया है" ही मानना होगा।

भाविक का अर्थ भाव वाला है। सामान्यतः भाव का अर्थ विचार है जिसे लेने पर अलङ्कार-नाम उतना सार्थक नहीं होगा, क्योकि प्रत्येक अलङ्कार पर यह अर्थ लागू होगा। आनन्द-कवि श्री-कण्ठ ने "भाव" का अर्थ "भावना" (= समाधि) लेकर व्याख्या की है कि जैसे योगी समाधि से भूत-भविष्य प्रत्यक्ष की भाँति देखते है उसी प्रकार भूत और भविष्य को कवि प्रत्यक्ष कर, वर्णित करते है, तब यह अलंकार होता है।

भामह और दण्डी इसे प्रबन्ध-गत अलंकार मानते हैं; भामह इसे अभिनय में भी संभव मानते है और हेमचन्द्र इस मत का अनुसरण करते हैं। रुद्रट और वामन इस अलंकार की चर्चा नहीं करते। हेम चन्द्र ने "मुक्तक मे इस अलं-कार की सत्ता आनन्द-दायक नहीं होती", कहा है।

इसे वर्त्तमान रूप में मानने वाले सर्व-प्रथम उद्भट हैं।

शोभाकर मित्र एवं जय-रथ इसके ४ भेद करते है ।

भूत और भावी से प्रत्यक्ष का सम्बन्ध न होने पर भी संबध बताने पर "भाविक" और अन्य संबध के न होने पर भी, दिखाना "सम्बन्धातिशयोक्ति" है। इस प्रकार "भाविक" "अतिशयोक्ति" का अपवाद है।

वर्त्तमान के साथ भूत या भविष्य मे से उपमेय या उपमान लेने पर "भाविक" और शेष दशाओं मे "अतिशयोक्ति" होती है ।

"भाविक" मे भूत और भविष्य की घटनाओं को तत्काल प्रतीति कराई जाती है तथा प्रसाद-गुण मे ऐसा बन्धन नही है । प्रसाद गुण का सम्बन्ध अर्थ की स्पष्ट प्रतीति से है न कि अप्रत्यक्ष का प्रत्यक्ष करने से ।

"स्वभावोक्ति" मे वस्तु का सूक्ष्म चित्रण होता है जब कि "भाविक" मे अप्रत्यक्ष का प्रत्यक्ष की भाँति वर्णन किया जाता है ।

"भ्रान्ति" मे मिथ्या ज्ञान होता है और वह सादृश्य पर आधृत है जब कि "भाविक" मे भूत काल या भविष्य काल के ज्ञान के समान ही प्रत्यक्ष का ज्ञान होता है, तथा वस्तु का अत्यन्त सादृश्य अपेक्षित नही है । "भ्रान्ति" मे विपरीत प्रतीति कराई जाती है जब कि "भाविक" मे अप्रत्यक्ष भूत और भविष्य का विपरीत रूप में वर्णन नही होता ।

"उत्प्रेक्षा" मे संभावना की जाती है और उसके लिये "इव" या उसका पर्याय या तो दिया रहता है या अपने से बैठाया जा सकता है जब कि "भाविक" मे संभावना नही होती, अप्रत्यक्ष प्रत्यक्ष के समान दिखता है तथा अर्थ लगाने के लिये "इव" या उसके पर्याय-वाची शब्द की आवश्यकता नहीं पडती ।

"भाविक" मे योगी की तरह कवि अप्रत्यक्ष भूत काल और भविष्य काल का दर्शन करता है; प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष का कारण नही होता । इसके विपरीत "काव्य-लिङ्ग" मे कारण-कार्य सम्बन्ध होता है ।

"भाविक" और "भाविक-च्छवि" का अन्तर ५।११४ मे देखा जा सकता है ।

"भाविक" मे अप्रत्यक्ष का प्रत्यक्ष की भाँति वर्णन होने पर भी कवि के

लिये वह ऐसी सामान्य बात होती है कि विस्मय उत्पन्न नहीं होता; चमत्कार-मात्र उत्पन्न होता है जब कि "अद्भुत" रस मे विस्मय उत्पन्न होता है ॥१११॥]

देशात्मविप्रकृष्टस्य दर्शनं भाविकच्छविः ।
त्वं वसन् हृदये तस्याः साक्षात्पञ्चेपुरीक्ष्यसे ॥११४॥

देशात्मेति। देशः स्थानं च आत्मा शरीरं (हृदय वा) च देशात्मानौ। ताभ्या **विप्रकृष्टस्य** दूरवर्त्तिनः पदार्थस्य। **दर्शनं** प्रत्यक्षीकरणम्। **भाविकच्छविः** (नाम अर्थालङ्कारः भवति)।

(उदाहरति यथा) **त्वं** भवान् नायकः इत्यर्थः। **तस्याः** नायिकायाः। इत्यर्थः। **हृदये** मानसे। **वसन्** विद्यमानः। **साक्षात्**। पञ्चेषुः कामदेवः। **ईक्ष्यसे** दृश्यसे ॥ ११४ ॥

(किसी) स्थान और अपने से दूर (अप्रत्यक्ष) को देखना, "भाविकच्छवि" (-नामक अर्थालङ्कार) है।

तुम उसके हृदय मे रहते हुये साक्षात् कामदेव दिखते हो ॥११४॥

[यहाँ उदाहरण मे नायक, नायिका के स्थान—शरीर या हृदय—मे वास्तविक रूप से नही है; फिर भी उसे कामदेव के रूप मे विद्यमान बताया गया है, अतः "भाविक-च्छवि" अलंकार है।

उदाहरण नायक के प्रति नायिका के विषय मे दूती का वचन हो सकता है।

"भाविकस्य च्छविः इव च्छविः यस्य स भाविकच्छविः" व्युत्पत्ति से "भाविक की शोभा के समान शोभा वाला" अर्थ होने से यह अलकार परिभाषा का बोध कराता है। "भाविक" मे अप्रत्यक्ष, प्रत्यक्ष होता है और इसमे भी। इस आधार पर मोटे रूप मे दोनो समान है।

यह अलंकार "भाविक" मे अन्तर्भूत किया जा सकता है; इसे न तो किसी पूर्व-वर्त्ती ने माना है और न पश्चाद्वर्त्ती ने।

"भाविक" में केवल भूत और भविष्य का ही प्रत्यक्ष होता है; वर्तमान का नहीं जब कि "भाविक-च्छवि" मे वर्तमान का; यही दोनो का अन्तर है ॥११४॥]

उदात्तमृद्धिश्चरितं श्लाघ्यं चान्योपलक्षणम् ।
सानौ यस्याभवद् युद्धं तद्धूर्जटिकिरीटिनोः ॥११५॥

उदात्तमिति । श्लाघ्यं प्रशंसनीयम् । अन्यस्य अपरस्य उपलक्षणम् अङ्गम् अङ्गभूतं वर्णनम् इति यावत् यत्र तादृशम् । चरितं जीवनं वस्तु-वर्णनं वा । तादृशी श्लाघ्या अन्योपलक्षणा च ऋद्धिः समृद्धिः । उदात्तम् (नाम अर्थालङ्कारः भवति) ।

(उदाहरति यथा) यस्य हिमालयस्य इत्यर्थः । सानौ शिखरे । तत् प्रसिद्धम् । धूर्जटिः शिवः किरीटी अर्जुनः च धूर्जटिकिरीटिनौ । तयोः युद्धं रणम् । अभवत् जातम् । सोऽयं हिमालय' इति शेषः ॥ ११५ ॥

जिसमे अन्य (का वर्णन) गौण रूप मे हो, वह प्रशसनीय जीवन (या वस्तु का वर्णन) तथा समृद्धि (का वर्णन), "उदात्त" (नामक अर्थालंकार) है ।

(उदाहरणः—) जिसकी चोटी पर शंकर और अर्जुन को वह (प्रसिद्ध) लड़ाई हुई थी ॥ ११५ ॥

[यहाँ उदाहरण मे युद्ध, चरित-वर्णन है जिसमे शकर और अर्जुन को गौण रूप म वर्णित कर हिमालय का प्रधान रूप से वर्णन किया गया है, अतः "उदात्त" अलकार है ।

"उच्चै. उत्कर्षेण आत्तं गृहीतम् स्म इति उदात्तम्" व्युत्पत्ति से उत्कृष्ट रूप में जिसका वणन किया गया" अर्थ निकलने से, तथा इसका अर्थ ऐश्वर्य या उच्चता होने से परिभाषा का आभास मिल सकता है । किसी पदार्थ का उत्कृष्ट रूप मे वर्णन उसकी समृद्धि तथा उसके महापुरुषो के सम्पर्क मे होने के आधार पर ही होता है ।

नागेश भट्ट के अनुसार इस अलकार म रस का वर्णन भी गौण रूप से हो सकता है तथा यह "अतिशयोक्ति"-मूलक है ।

मल्लि-नाथ के अनुसार समृद्धि का अर्थ असभव समृद्धि है, संभव समृद्धि मे सामान्य अर्थ निकलने से चमत्कार न आ सकने के आधार पर ऐसा कहा गया प्रतीत होता है ।

भामह, दण्डी और उद्भट ने इस अलङ्कार का वर्णन किया है।

भामह, दण्डी, उद्भट और मल्लिनाथ ने इसके २ भेद किये है।

भट्टि और रुद्रट ने इस अलङ्कार का वर्णन क्रमश: "उदार" तथा "अवसर" नाम से किया है।

हेमचन्द्र "उदात्त" का अन्तर्भाव "जाति" (अलङ्कार), "अतिशयोक्ति" (अलङ्कार) तथा "ध्वनि" मे करते है।

"स्वभावोक्ति" और "भाविक" मे स्वाभाविक वर्णन होता है, किसी का उत्कृष्ट वर्णन करना अभिप्रेत नही होता जब कि "उदात्त" मे वर्णनीय वस्तु की श्रेष्ठता दिखाने के लिये उसका सम्बन्ध अपूर्व समृद्धि या महिमशाली घटना से जोडा जाता है।

"सम्बन्धातिशयोक्ति" मे असंबंध मे भी संबन्ध की कल्पना की जाती है पर समृद्धि के असंबन्ध को छोड दिया जाता है। इसके विपरीत "उदात्त" मे समृद्धि के असम्बन्ध के होने पर भी उससे संबन्ध दिखाया जाता है। इस तरह "उदात्त" को "सम्बन्धातिशयोक्ति" का अपवाद कह सकते है ॥ ११५ ॥]

अत्युक्तिरद्भुतातथ्यशौर्यौदार्यादिवर्णनम्।
त्वयि दातरि राजेन्द्र याचकाः कल्पशाखिनः ॥ ११६ ॥

अत्युक्तिरिति। न तथ्यं सत्यता यत्र अतथ्यम्। अद्भुत विस्मयजनकम् च अतथ्यं च अद्भुतातथ्यम्। शौर्यं वीरता च औदार्यं महत्ता (दानशीलता वा) च शौर्यौदार्ये। ते आदौ येषा ते शौर्यौदार्यादयः पदार्थाः। तेषां वर्णनं निरूपणम्। अद्भुतातथ्यं च तत् शौर्यौदार्यादिवर्णनम् च अद्भुतातथ्य-शौर्यौदार्यादिवर्णनम्। अत्युक्तिः (नाम अर्थालङ्कारः भवति)।

(उदाहरति यथा) राजेन्द्र नृपश्रेष्ठ। त्वयि भवति। दातरि वदान्ये (सति)। याचकः तव अर्थिजनाः। कल्पशाखिनः कल्पवृक्षाः (जाताः)। यद्वा कल्पशाखिनः एव याचकाः प्रार्थयितारः जाताः ॥ ११६ ॥

शूरता, उदारता आदि का विस्मयोपादक तथा तथ्य-हीन वर्णन, "अत्युक्ति" (-नामक अर्थालङ्कार) है।

(उदाहरण :–) हे महाराज, आप के दानी रहते (आपके) याचक, कल्प-वृक्ष हो गये या कल्प-वृक्ष, (आपके) याचक हो गये ॥ ११६ ॥

[उदाहरण मे राजा की उदारता के वर्णन मे याचको का कल्प-वृक्ष होना या कल्प वृक्ष का याचक बनना अद्भुत और तथ्य-रहित है, अतः "अत्युक्ति" (अलङ्कार) है।

कल्प-तरु स्वर्गलोक के वृक्ष है जो याचको की कामनाये पूर्ण करते है।

'याचक, कल्प-तरु हो गये" का भाव है कि आपने याचकों को इतना दे दिया है कि वे स्वयं दूसरो की सभी इच्छाये पूर्ण करने मे समर्थ हो गये है।

"कल्प-तरु, याचक हो गये" का अर्थ है कि आपके पास असीम और अलभ्य सम्पत्ति इतनी है जो कल्प-तरुओ की सीमित और सामान्य समृद्धि से भी अधिक है जिससे वे (कल्प-तरु) याचक होकर उन सम्पत्तियो का संग्रह करना चाहते है।

उदाहरण राजा के प्रति चारण या याचक की उक्ति हो सकता है।

यह अलङ्कार "अतिशयोक्ति" से बहुत मिलता-जुलता है। अद्भुत मिथ्या बात की प्रधानता होने से इसे अलग अलङ्कार माना गया है।

नागेश इसका अन्तर्भाव "उदात्त" अलङ्कार मे करते है किन्तु अद्भुत मिथ्या बात की ही प्रधानता इसे उक्त अलङ्कार से अलग करती है ॥ ११६ ॥

रसभावतदाभासभावशान्तिनिबन्धनाः ।
रसवत्प्रेयऊर्जस्वित्समाहितमयाभिधाः ॥ ११७ ॥
भावानामुदयः सन्धिः शबलत्वमिति त्रयः ।
अलङ्कारानिमान् सप्त केचिदाहुर्मनीषिणः ॥ ११८ ॥

रसेति । रसाः च भावाः च तदाभासाः (रसाभासाः भावाभासाः) च भावशान्तिः च निबन्धनानि कारणानि (गौणानि) येषा ते । रसवान् च प्रेयान् च ऊर्जस्वी च समाहितः च रसवत्प्रेयऊर्जस्वित्समाहिताः ।

तन्मयाः तद्रूपाः **अभिधाः** नामानि येषा ते। रसवदलङ्कारः प्रेयोऽलङ्कारः **ऊर्जस्विदलङ्कारः** समाहितालङ्कारः च। **भावानाम् उदयः भावोदयः** भावोदयालङ्कारः इति वा। **भावानां सन्धिः भावसन्धिः** भावसन्ध्यलङ्कारः इति वा। **भावाना शबलत्व भावशबलत्वं** भावशबलत्वालङ्कारः इति वा। **इति** एवम् त्रयः अलङ्काराः इत्यर्थः। **केचित्** एके न तु सर्वे। **मनीषिणः** विद्वासः। **एतान्**। **सप्त**। **अलङ्कारान्**। **आहुः** कथयन्ति ॥११७॥११८॥

कुछ विद्वान् निम्न-लिखित ७ अलङ्कार मानते है :—

(१) रसवान् (अलङ्कार), (२) प्रेयान् (अलङ्कार), (३) **ऊर्जस्वी** (अलंकार) तथा (४) समाहित (अलङ्कार) -स्वरूप नाम वाले **जिनके** (गौण) कारण रस, भाव, तदाभास (रसाभास तथा भावाभास) और भाव-शान्ति होते है तथा (५) भावो का उदय ("भावोदय" अलङ्कार), (६) भावों की सन्धि ("भाव-सन्धि,,-अलङ्कार) और (७) भावों का **शबलत्व** ("भावशबलत्व" अलंकार) — ये तीन ॥ ११७ ॥

[इस तरह कुल ७ अलङ्कार अन्य आचार्यों के मत से बताये गये हैं। इसका अर्थ हुआ कि ग्रंथकार जयदेव इन्हे नही मानते; केवल आचार्यो के मतो के प्रति आदर के कारण (मतों का) उल्लेख कर रहे है।

किसी अन्य रस या भाव के प्रधान होने पर उसके अङ्ग (गौण) रूप मे किसी रस का वर्णन होने पर "रसवान्" अलङ्कार होता है। "रसः अस्यास्तीति "रसवान्" व्युत्पत्ति के अनुसार परिभाषा का थोड़ा बहुत बोध अलङ्कार नाम से ही हो जाता है। इसके लिये निम्न-लिखित उदाहरण अत्यन्त प्रचलित है :—

अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः।
नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः॥ (महाभारत स्त्री-पर्व ।अध्याय २४)

[युद्ध मे अर्जुन के द्वारा कटा हुई मृत भूरिश्रवा की भुजा देखकर उसकी **रानी** विलाप करती हुई उस (भुजा) की अनुभूत शृङ्गारिक चेष्टाओ का **स्मरण** कर रही है। यहाँ शृंगार रस, करुण रस का अङ्ग हो गया है जिससे **"रसवान्" अलङ्कार** है।

जब निर्वेद आदि ३३ प्रकार के व्यभिचारी भाव और देवता, गुरु, ऋषि या राजा के प्रति रति-भाव अङ्ग-रूप मे आते है, तब "प्रेयान्" अलङ्कार होता है । "प्रेयान्" का अर्थ विशेष प्रिय है ।

इसका उदाहरण निम्न-लिखित है :—

कदा वाराणस्याममरतटिनोरोधसि वसन्
वसान: कौपीनं शिरसि निदधानोञ्जलिपुटम् ।
अये गौरीनाथ त्रिपुरहर शम्भो त्रिनयन
प्रसीदेत्याक्रोशन् निमिषमिव नेष्यामि दिवसान् ॥

यहाँ शान्त रस प्रधान है और व्यभिचारी भाव चिन्ता है जो अङ्ग बनकर आई है । "कदा" से चिन्ता - भाव व्यक्त किया गया है । ऐसी स्थिति में इसमे "भाव" रस का अङ्ग होने से के "प्रयोग अलङ्कार है ।

रसाभास या भावाभास के अङ्ग हो जाने पर "ऊर्जस्वी" अलङ्कार होता है । रस और भाव का प्रयोग जब अनुचित रूप से किया जाता है तब वे अपनी सबलता के कारण उतने श्रेष्ठ भले ही न रहे; निकृष्ट नही हो जाते; चमत्कार, फिर भी उत्पन्न करते है, इसलिये अलङ्कार रूप मे परिगणित है । "ऊर्जः अस्यास्तीति" व्युत्पत्ति से "ऊर्जम् (बल) वाला" ऊर्जस्वी का अर्थ है । रसाभास के अङ्ग होने पर "ऊर्जस्वी" का उदाहरण निम्नाकित है :—

वनेऽखिलकलासक्ताः परिहृत्य निजस्त्रियः ।
त्वद्वैरिवनितावृन्दे पुलिन्दाः कुर्वते रतिम् ॥

यहाँ नृप-विषयक रति-भाव के अङ्ग के रूप मे शृंगार रस है जो पर-स्त्री-विषयक होने से अनुचित अत रसाभास है । ऐसी स्थिति मे रसाभास के अङ्ग हो जाने से "ऊर्जस्वी" अलङ्कार है ।

भावाभास के अङ्ग होने पर "ऊर्जस्वी" का उदाहरण निम्न-लिखित है :—

त्वयि लोचनगोचरं गते सफलं जन्म नृसिंह भूपते ।
अजनिष्ट ममेति सादरं युधि विज्ञापयति द्विषां गणः ॥

यहाँ नृप-विषयक रति-भाव का अङ्ग शत्रुओ के मन में उन नृप के प्रति उत्पन्न रति है। यह शत्रु-गत रति अनुचित है अतः भावाभास है। भावाभास के भाव का अङ्ग बनने के कारण यहाँ "ऊर्जस्वी" अलङ्कार है।

भाव-शान्ति के अङ्ग हो जाने पर "समाहित" अलङ्कार होता है। भाव की शान्त होती हुई स्थिति अर्थात् कमी, भाव-शान्ति कहलाती है। "समाहित" का अर्थ समाप्ति है। इस नाम से भाव-शान्ति का थोडा बोध हो जाता है। उदाहरण निम्न-लिखित है :—

अविरलकरवालकम्पनैर्भ्रुकुटीतर्जनगर्जनैर्मुहुः

ददृशे तव वैरिणा मदः स गतः क्वापि तवेक्षणेक्षणात् ॥

यहाँ नृप-विषयक रति है। "नृप को देखते ही शत्रुओ का मद शान्त हो गया" वर्णन मे मद-नामक भाव की शान्ति होने से "भाव-शान्ति" की स्थिति है। यह "भाव-शान्ति" नृप-विषयक रति का अङ्ग है अत यहाँ "समाहित" अलङ्कार है।

भाव के उदय के किसी के अङ्ग हो जाने पर "भावोदय" अलङ्कार होता है। "भावस्य उदयः भावोदयः" व्युत्पत्ति के अनुसार "भाव का उदय" अर्थ इस अलङ्कार का आभास-मात्र देता है। उदाहरण निम्नांकित है :—

एकस्मिन् शयने विपक्षरमणीनामग्रहे मुग्धया

सद्यः कोपपरिग्रहग्लपितया चाटूनि कुर्वन्नपि।

आवेगादवधीरितः प्रियतमस्तूष्णीं स्थितस्तत्क्षणा-

न्माभूत्सुप्त इवेत्यमन्दवलितग्रीवं पुनर्वीक्षितः ॥

यहाँ "शृंगार" रस प्रधान है और "औत्सुक्य" भाव उसका अङ्ग हो गया है जिससे "भावोदय" अलङ्कार है।

दो भाव जहाँ एक साथ आयें और दोनो का वर्णन किसी के अङ्ग-रूप मे हो, वहाँ "भाव-सन्धि" होती है। उदाहरण निम्न-लिखित है :—

जन्मान्तरीणरमणस्याङ्ग - सङ्ग - समुत्सुका।

सलज्जा चान्तिके सख्याः पातु नः पार्वती सदा ॥

यहाँ देव-विषयक रति-भाव है और औत्सुक्य तथा लज्जा—ये दो—भाव इस रति के अङ्ग हैं अत "भाव-सन्धि" अलङ्कार है।

जहाँ अनेक भाव आकर अपने-अपने पूर्व-वर्त्ती भावो को दबा दे तथा अङ्ग बनें, वहाँ "भाव-शबलत्व" अलङ्कार होता है। इसका नाम अन्यत्र "भाव-शबलता" मिलता है। "भावाना शबलत्वम्" व्युत्पत्ति के अनुसार "भावो के अनेक रंगो का मिश्रण" अर्थ निकलेगा जो नाम की सार्थकता बताता है। उदाहरण निम्न-लिखित है :—

क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलं भूयोऽपि दृश्येत सा
दोषाणा प्रशमाय न श्रुतमहो कोपेऽपि कान्तं मुखम्।
किं वक्ष्यत्यपकल्मषा कृतधियः स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा
चेतः स्वास्थ्यमुपेहि कः खलु युवा धन्योऽधरं धास्यति॥

यहाँ "वितर्क" "औत्सुक्य", "मति", "स्मरण", "शङ्का", "दैन्य" "धृति" तथा "चिन्ता"—इन ८ भावो को विप्रलम्भ शृंगार का अङ्ग बनाया गया है जिससे "भाव-शबलत्व" अलङ्कार है।

"राकागम" टीका के लेखक गागाभट्ट और "रमा" टीका के लेखक वैद्य-नाथ ने यह माना है कि जयदेव इन ७ अलंकारो को भी मानते हैं, "अन्यो के मत से" कहने का अभिप्राय केवल उनके प्रति आदर दिखाना है, निषेध करना नहीं। परिभाषा और उदाहरण न देने से इस बात की पुष्टि होती है कि स्वयं न मानते हुए जयदेव ने केवल दूसरे आचार्यो के मत का आदर करते हुए इन आचार्यो की चर्चा कर दी है, जैसे पाणिनि ने शाकल्य आदि ऋषियों के मतों का उल्लेख कर दिया है। वास्तव मे जयदेव इस विषय मे मम्मट आदि के मत का अनुसरण करते हुये इन उदाहरणो मे अपराग गुणीभूत व्यङ्ग्य मानते हैं (देखें ८।४)।

भामह, दण्डी, उद्भट, आनन्द-वर्धन, रुय्यक और विश्व-नाथ ने इन्हे अलंकार माना है। विश्व-नाथ इन्हे गुणीभूत व्यङ्ग्य भी मानते है। मम्मट, हेमचन्द्र

और जयदेव इन्हे गुणीभूत व्यङ्ग्य ही मानते है ।

अलङ्कार अन्य (रस आदि) के शोभा-वर्द्धक होते है । रस आदि, अलङ्कार्य, व्यङ्ग्य, अंगी या प्रधान कहलाते है और अलङ्कार उनके अंग । जब ये रस आदि, अप्रधान होकर वैसे उत्तम नही रह जाते तब इन्हे गुणीभूत व्यङ्ग्य कहते है । वैसी स्थिति मे इन्हे अलङ्कार नही माना जा सकता । जब अङ्गी-न होकर ये अङ्ग बनते है तब भी ये अलङ्कार नही बन सकते । रस अलङ्कार और गुणीभूत व्यग्य की स्थिति क्रमशः आत्मा, कुण्डलादि अलङ्कार और हाथ आदि अङ्गो का तरह है । जैसे हाथ आदि अङ्ग कभी कुण्डलादि अलङ्कार नही बन सकते, उसी तरह गुणीभूत व्यङ्ग्य अलङ्कार नही बन सकते ।

जब अलङ्कारो का प्राधान्य था, उस युग मे उक्त ७ स्थितियो मे अलङ्कार माने गये, तब किसी नई स्थिति मे नया अलङ्कार माना जाना स्वाभाविक था । आनन्द-वर्धन ने ध्वनि-वादी होकर भी उक्त मत का समर्थन किया है । अलङ्कार शब्द और अर्थ से रस के उपकारक को कहते है । रस और भाव, ऐसी स्थिति मे, अलङ्कार कभी नही बन सकते, क्योकि वे व्यञ्जना-वृत्ति से प्रगट होते है, शब्द और अर्थ से सीधे नही । इन्हे गुणीभूत व्यङ्ग्य मे रखना ही सबसे अधिक उचित प्रतीत होता है ।

कुवलयानन्द मे प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, सम्भव और ऐतिह्य ये आठ प्रमाणालङ्कार माने गये हैं ॥ ११७॥११८ ॥]

शुद्धिरेकप्रधानत्वं तथा संसृष्टिसंकरौ ।
एतेषामेव विन्यासान्तालङ्कारान्तराण्यमी ॥११९॥

शुद्धिरिति । शुद्धिः । एकप्रधानत्वम । तथा एवम् । संसृष्टिः संकरः च । एतेषां पूर्वोक्तानाम् अलङ्काराणाम् इत्यर्थः । एव । विन्यासात् रचना-विशेषात् । अमी चत्वारः अलङ्काराः इत्यर्थ । अन्ये अलङ्काराः अलङ्कारा-न्तराणि । न ॥ ११९ ॥

शुद्धि, एक-प्रधानत्व, संसृष्टि और संकर के उपर्युक्त (अलङ्कारों) की ही विशेष रचना से बन जाने से ये भिन्न अलङ्कार नहीं है ॥ ११९ ॥

[प्रस्तुत करने में थोड़ा भेद (विन्यास-भेद) होने से कोई अलङ्कार दूसरे नाम से अभिहित नहीं किया जा सकता, अतः ग्रन्थकार ने उक्त चारों को पूर्वोक्त अलङ्कारों में ही अन्तर्भूत कर दिया है। अन्य आचार्यों के मत से ये अलङ्कार है।

शुद्धि—एक ही अलंकार होने पर "शुद्धि" होती है।

एक-प्रधानत्व—जहाँ एक अलंकार दूसरे अलंकार की अपेक्षा प्रमुख हो, वहाँ एक प्रधानत्व की स्थिति होती है।

संसृष्टि—जहाँ दो अलंकार अलग-अलग प्रगट होते है; आपस में मिल नहीं जाते, वहाँ संसृष्टि होती है। इसे समझाने के लिये संयोग-न्याय और तिलतण्डुल-न्याय का प्रयोग किया जाता है। जिस प्रकार तिल और चावल मिला देने पर भी अलग-अलग दिखाई पड़ते है, उसी प्रकार दो अलंकारों के एक साथ आने पर भी उनकी स्वतंत्र सत्ता स्पष्ट होने पर संसृष्टि की स्थिति होती है। इसका एक प्रसिद्ध उदाहरण निम्न-लिखित है:—

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्निष्फलता गता ॥

इस उदाहरण में पूर्वार्ध में "उत्प्रेक्षा" और तृतीय चरण में "उपमा" है, और दोनों की अलग-अलग सत्ता स्पष्ट है, अत. संसृष्टि है। यह दो अर्थालंकारों की संसृष्टि है। इसी प्रकार शब्दालङ्कारों तथा एक शब्दालङ्कार और एक अर्थालङ्कार की संसृष्टि होने से ३ भेद होंगे।

संकर—जहाँ दो अलंकार एक दूसरे में विलीन हो जायँ, वहाँ संकर की स्थिति होती है। इसे समझाने के लिये समवाय-न्याय तथा नीर-क्षीर-न्याय का प्रयोग किया जाता है। नीर (पानी) और क्षीर (दूध) के आपस में मिल जाने पर उन्हें अलग-अलग देख पाना संभव नहीं है; उसी प्रकार जहाँ मिले हुये दो अलङ्कार अलग-अलग नहीं पहचाने जाते, वहाँ संकर होता है। इसका उदाहरण अधोलिखित है:—

अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत्पुरःसरः ।
अहो दैवगतिश्चित्रा तथापि न समागमः ॥

सन्ध्या और दिवस से नायक और नायिका की प्रतीति होने से यहाँ "समासोक्ति" है । कारण (अनुराग तथा सम्मुख होना) होने पर भी कार्य (समागम) न होने के कारण यहाँ "विशेषोक्ति" भी है । वही शब्द और अर्थ दोनों के आधार है, अतः इन मिले-जुले अर्थालङ्कारों की स्थिति होने पर यहां संकर है । पूरे में "विशेषोक्ति" और एक अंश में "समासोक्ति" होने से दोनों की स्थिति क्रमशः अंगी और अंग की है । इस आधार पर इस भेद का नाम अंगागि-भाव (संकर) है । साहित्य-दर्पण और कुवलयानन्द मे इसके क्रमशः ३ और ५ भेद आये है ।

जहाँ भी दो अलङ्कार होगे, वहाँ या तो संसृष्टि होगी या संकर । इस दृष्टि से ये अलङ्कार महत्त्व-पूर्ण है । काव्य मे अकसर एक से अधिक अलङ्कार होते है ।

जब अलकार शोभाधायक होते है और दो अलकार अपनी-अपनी शोभा प्रगट करते है तब उनके बीच में संसृष्टि या संकर को अलग से क्यों माना जाता है, इस पर आचार्यों ने अच्छा विचार किया है । अलग-अलग अलंकार जब एक-साथ पहने जाते है, तब विशेष सौन्दर्य लाते है; उसी प्रकार दो अलंकारों के आने से उनकी पृथक्-पृथक् शोभा तो होती ही है, दोनो के साथ-साथ होने से एक नई शोभा भी प्रगट होती है जो संसृष्टि या संकर के रूप में अलकार-शास्त्र मे आती है ।

उद्भट ने सर्व-प्रथम "संसृष्टि" और "संकर" को इस रूप मे अलग-अलग उल्लिखित किया । भामह, दण्डी और भोज की संसृष्टि में संकर और संसृष्टि का मिश्रित रूप है । वामन ने "संसृष्टि" का प्रयोग भिन्न अर्थ में किया है ।

रुय्यक, अप्पय्य दीक्षित तथा मम्मट के अनुसार "संकर" के क्रमशः ३, ५ तथा अगणित भेद हैं ॥११९॥]

सर्वेषां च प्रतिद्वन्द्वप्रतिच्छन्दभिदाभृताम् ।
उपाधिः क्वचिदुद्भिन्नः स्यादन्यत्रापि सम्भवात् ॥१२०॥

सर्वेषामिति । **प्रतिद्वन्द्वः** विरोधित्वं (तस्मात् विरोधित्वात् न्यूनत्वम्) च **प्रतिच्छन्दः** आधिक्यं च । ताभ्या भिदां भेदं बिभ्रति इति प्रतिद्वन्द्व-प्रतिच्छन्दभिदाभृतः तेषां **प्रतिद्वन्द्वप्रतिच्छन्दभिदाभृताम्** यद्वा **प्रतिद्वन्द्वः** असदृशता **प्रतिच्छन्दः** सदृशता च । **सर्वेषां** समेषाम् अलङ्काराणाम् इत्यर्थः । **उद्भिन्नः** कथितः । **उपाधिः** प्रकारः । **क्वचित्** कुत्रापि । **अन्यत्र** अन्येषु स्थलेषु । **अपि** । **सम्भवात्** उत्पन्नत्वात् । **स्यात्** भवेत् ।। १२० ।।

(विरोध के कारण) न्यूनता तथा अधिकता या असादृश्य और सादृश्य से भिन्नता धारण करने वाले समस्त (अलङ्कारो) के कहे हुये प्रकार उत्पन्न होने से कही दूसरी जगहों मे भी हो सकते है ।। १२० ।।

[भाव यह है कि शुद्धि आदि (५।११९) को अलङ्कार मानने पर अनंत अलङ्कार मानने पडेगे । जिस आधार पर "शुद्धि" को अलङ्कार माना गया है, उसी आधार पर हर अलङ्कार के न्यून, अधिक, सदृश और असदृश रूप देखकर, कई भेद करने पड़ेगे । सदृशता के आधार पर "सादृश्य-रूपक" (५।२०) को "रूपक" (५।१८) के अतिरिक्त अलङ्कार माना गया है । इसी तरह अन्य अलङ्कारो मे भी भेद किये जा सकते है । "उपमा" (५।११) के अतिरिक्त "लुप्तोपमा" अलङ्कार "इव" या अन्य उपमा-वाचक शब्द की न्यूनता कर मानी जा सकती है । इससे व्यर्थ बहुत विस्तार होगा, अतः ग्रन्थकार ने ये भेद नही माने हैं; विशेष चमत्कार और विशेष अन्तर होने पर ही अलङ्कार माने हैं ।

५।११९ मे "शुद्धि" आदि को अलङ्कार न मानने का कारण ग्रन्थकार ने दे दिया है । यहाँ अन्य कारण देते हुये अपनी बात की और पुष्टि की है ।

ग्रन्थकार ने स्वयं "सादृश्य-रूपक" को अलङ्कार माना है; उसे "रूपक" का भेद-मात्र माना है, कहकर समाधान नहीं किया जा सकता । वैसे भेद मानना भी अलङ्कारता स्वीकार करना ही है । ग्रन्थकार के कथन का आशय यह है कि विशेष चमत्कार सर्वत्र सादृश्य-असादृश्य तथा न्यूनता-अधिकता के आधार

पर नहीं पैदा हो सकता, अतः इन आधारों पर अलंकार प्रायः स्वीकार नही किये जा सकते, केवल वही स्वीकार किये जा सकते है जहाँ विशेष चमत्कार हो ॥ १२० ॥]

माला परम्परा चैषां भूयसामनुकूलके ।
मनुष्ये भवतः क्वापि ह्यलङ्काराङ्गतां गते ॥ १२१ ॥

मालेति । भूयसां बहूनाम् । **च** । एषाम् एतेषाम् । **माला** मालारूपः विन्यासः । **परम्परा** रशनाप्रभृतिरूपः विन्यासः । **क्वापि** कुत्रापि । **मनुष्ये** मानवे । **अलङ्कारस्य** भूषणस्य । **अङ्गम्** उपकारिका । तत्ताम् **अलङ्काराङ्गताम्** । **गते** गामिन्यौ । **अनुकूलके** शोभाकारिण्यौ च **भवतः** ॥ १२१ ॥

और जब ये (=अलंकार) (एक ही जगह) बहुत (संख्या में) होते है तब इनकी माला (माला की तरह विन्यास) या परम्परा (शृंखला की तरह विन्यास) कही-कही मनुष्य मे अलंकार-उपकारी तथा शोभा-जनक होती है ॥ १२१ ॥

[यह श्लोक अधूरा-अधूरा प्रतीत होता है । "मनुष्य की तरह काव्य मे भी ये अलंकार-उपकारी होने के कारण अलंकार हो सकते है पर इस आधार पर भेद बढाने से अनन्तता आयेगी, अतः हमे ऐसा करना अभीष्ट नहीं है"— जैसा कथन स्पष्ट रूप से अपेक्षित है । "क्वापि च" का अर्थ "और कहीं-कही काव्य मे" लगाकर इसे "मनुष्य" के पीछे जोड़कर अर्थ लगाना अच्छा नहीं है । पहले बताया जा चुका है कि माला और परम्परा मे भेद है । माला मे कई समान फूल एक डोरे की शोभा बढ़ाते हैं और परम्परा मे करधनी या जजीर की तरह एक कड़ी दूसरी (कड़ी) से जुटी होती है और आपस में मिलकर कड़ियाँ शोभा वृद्धि करती हैं ।

यहाँ "अनुकूलके" और "गते" स्त्री-लिंग व द्वि-वचन विशेषण हैं तथा माला और परम्परा को विशेषता बताते है ।

दो अलङ्कारों की अलग-अलग शोभायें होते हैं पर एक साथ होने से एक तीसरी शोभा भी आ जाती है जो माला या परम्परा के रूप मे होती है। "मालोपमा", "माला-रूपक", "माला-दीपक", "कारणमाला", "रशनोपमा", "रशना-रूपक" आदि अलङ्कार इसी आधार पर माने गये है। "एकावली" का स्वरूप भी इससे मिलता-जुलता है।

ग्रन्थकार ने संक्षेप मे ऐसे अलङ्कार स्वीकार किये है। लगता है, इस तरह बहुत विस्तार देखकर यहाँ संक्षेप मे कहा गया है। कुछ के मत से ग्रन्थकार को ये भेद अभीष्ट नही है, अतः विस्तार से नहीं कहा गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि विशेष चमत्कार देखकर उन्होने "माला-दीपक" को तो अलङ्कार के रूप मे वर्णित कर दिया तथा शेष को उतना महत्त्व-पूर्ण न देखकर संक्षेप मे स्वीकार कर लिया।

कभी-कभी यह माला या परम्परा अत्यन्त शोभा-जनक होती है, अत. इसके उदाहरणादि विशेष रूप से प्रस्तुत किये जा रहे हैं। "एकावली", "कारण-माला" तथा "माला-दीपक" का विवरण क्रमशः ५।८८, ५।८७ और ५।१३० में देखा जा सकता है।

मालोपमा—जिस उपमा मे एक उपमेय के कई उपमान होते हैं, वह "मालोपमा" होती है; उदाहरण :—

श्यामा लतेव तन्वी चन्द्रकलेवातिनिर्मला सा मे।
हंसीव कलालापा चैतन्यं हरति निद्रेव ॥ (रुद्रट का काव्यालंकार)

(श्यामा लता की भाँति पतली, चाँदनी की भाँति अत्यन्त स्वच्छ और हंसिनी की भाँति कल आलाप वाली वह प्रिया निद्रा की भाँति मेरा चैतन्य हर लेती है।)

इस "उपमा" में एक उपमेय (तन्वी) के कई उपमान (श्यामा, चन्द्र-कला, हंसी तथा निद्रा) होने से "मालोपमा" है।

माला-रूपक—जिस "रूपक" मे एक उपमेय के कई उपमान होते है, वहाँ "माला-रूपक" होता है; उदाहरण :—

मनोजराजस्य सितातपत्रं श्रीखण्डचित्रं हरिदङ्गनायाः ।
विराजते व्योमसरःसरोजं कर्पूरपूरप्रभमिन्दुबिम्बम् ॥ (साहित्य-दर्पण)

(राजा कामदेव का श्वेत छत्र, दिशा सुन्दरी का चन्दन से अङ्कित चित्र और आकाश-सरोवर का कमल चन्द्र-मण्डल कपूर के प्रवाह की भाँति शोभित हो रहा है।)

इस "रूपक" में एक उपमेय (चन्द्र-मण्डल) के कई (उपमान) आतपत्र, श्रीखण्ड-चित्र तथा व्योम-सरः-सरोज) होने से "माला रूपक" है।

रशनोपमा—जिस "उपमा" में हर उपमेय आगे उपमान हो जाय और नये-नये उपमेय आते जायँ, वह "रशनोपमा" है; उदाहरण :—

चन्द्रायते शुक्लरुचापि हंसो हंसायते चारुगतेन कान्ता ।
कान्तायते स्पर्शसुखेन वारि वारीयते स्वच्छतया विहायः ॥

(सरस्वती-कण्ठाभरण)

(हंसी श्वेत कान्ति से चन्द्र-सी, सुन्दरी सुन्दर गति से हंसी-सी, जल स्पर्श-आनन्द से सुन्दरी-सा और आकाश स्वच्छता से जल-सा हो रहा है।)

इस "उपमा" में हंसी, सुन्दरी और जल पहले उपमेय और बाद में उपमान की तरह तथा सुन्दरी, जल और आकाश नये-नये रूप में आये हैं, अतः "रशनोपमा" है।

रशना-रूपक—जिस "रूपक" में हर उपमान आगे उपमेय हो जाय और नये उपमान आते जायँ, वह "रशना-रूपक" है; उदाहरण :—

किसलयकरैर्लतानां करकमलैः कामिनां जगज्जयति ।
नलिनीनां कमलमुखैर्मुखेन्दुभिर्योषितां मदनः ॥

(रुद्रट-कृत काव्यालङ्कार)

(कामदेव लताओं के किसलय-करों, कामियों के कर-कमलों, कमलिनियों के कमल-मुखों और स्त्रियों के मुख-चन्द्रों से संसार को जीतता है।)

यहाँ कई उपमान (कर, कमल, मुख और इन्दु) पहले उपमान और बाद में उपमेय की तरह आये हैं तथा उपमान नये-नये (कमल, मुख और इन्दु) आते गये हैं, अतः "रशना-रूपक" है ॥ १२१ ॥]

शब्दे पदार्थे वाक्यार्थे वाक्यार्थस्तबके तथा।
एते भवन्ति विन्यासा स्वभावातिशयात्मकाः ॥ १२२ ॥

शब्द इति। एते इमे उपर्युक्ताः। **विन्यासाः** रचनाविशेषाः। **शब्दे** शब्दालङ्कारे अनुप्रासादयः। **पदार्थे** उपमादयः। **वाक्यार्थे** दृष्टान्तादयः। तथा एवम्। **वाक्यार्थस्तबके** वाक्यार्थस्य समूहे निदर्शनादयः। **स्वभावात्** निसर्गात्। **अतिशयः** अतिशयोक्तिः **आत्मनि** येषा तथाभूताः अतिशयोक्तिरूपाः। **भवन्ति** ॥ १२२ ॥

ये विशेष रचनाये शब्द (शब्दालङ्कार मे अनुप्रास आदि के रूप मे), पदार्थ (अर्थालङ्कार मे "उपमा" आदि के रूप मे), वाक्यार्थ (अर्थालङ्कार मे "दृष्टान्त" आदि के रूप में) और वाक्यार्थ-स्तबक (समूह) (अर्थालङ्कार मे "निदर्शना" आदि के रूप) में स्वभाव से "अतिशयोक्ति" के रूप मे होती है ॥१२२॥

[अलङ्कार शब्द, पद, वाक्य और वाक्य-स्तबक मे होते हैं, अतः शब्द, पदार्थ, वाक्यार्थ और वाक्यार्थ-स्तबक मे अलङ्कार-विन्यासों का होना ऊपर कहा गया है।

सामान्य बात कहने पर अलङ्कार नहीं होता; कुछ न कुछ विशेषता लाने पर ही अलङ्कार होता है। यह विशेषता "अतिशय" कहलाती है और इसी अतिशय की उक्ति "अतिशयोक्ति"। अलङ्कारो का आधार ही अतिशय होने से स्वभाव (जन्म) से ही उन (अलङ्कारो) का अतिशयात्मक होना ऊपर बताया गया है ॥ १२२ ॥]

कस्याप्यतिशयस्योक्तेरित्यन्वर्थविचारणात्।
प्रायेणामी ह्यलङ्कारा भिन्ना नातिशयोक्तितः ॥ १२३ ॥

कस्यापीति। **कस्यापि** कस्यचन। **अतिशयस्य** विशेषस्य आधिक्यस्य वा। **उक्तेः** कथनात्। अतिशयोक्तिः इति शेषः। **इति** एवम्। **अन्वर्थं** सार्थकं च तत् विचारणं विचारः च **अन्वर्थविचारणं** तस्मात् **अन्वर्थविचारणात्**। **प्रायेण** प्रायः। **अमी** इमे। **अलङ्काराः**। **हि** खलु। **अतिशयोक्तितः** अतिशयोक्तिनामकात् अलङ्कारात्। **भिन्नाः** पृथक्। **न**। अतिशयोक्त्यात्मकः एव इत्यर्थः ॥ १२३ ॥

"किसी अतिशय (आधिक्य) की उक्ति (कथन) से ("अतिशयोक्ति" होती है)" इस सार्थक विचार (व्युत्पत्ति) से साधारणतः ये अलङ्कार (निश्चय ही) "अतिशयोक्ति" (अलंकार) से अलग नहीं हैं ("अतिशयोक्ति" के अन्तर्गत ही आते हैं) ॥ १२३ ॥

[यहाँ सभी अलंकारो का "अतिशयोक्ति"-मूलक होना पूर्व श्लोक के सातत्य मे स्वीकार किया गया है और "अतिशयोक्ति" की व्युत्पत्ति की व्यापकता के कारण सभी अलंकारों का उसमे समा जाना सभव बताया गया है ॥ १२३ ॥]

अलङ्कारप्रधानेषु दधानेष्वपि साम्यताम् ।
वैलक्षण्यं प्रतिव्यक्ति प्रतिभाति मुखेष्विव ॥ १२४ ॥

अलङ्कारेति । अलङ्काराः उपमादयः **प्रधानाः** मुख्याः येषु तेषु **अलङ्कारप्रधानेषु** वाक्येषु । **साम्यतां** समताम् **दधानेषु** धारयत्सु । **अपि** । व्यक्तौ **प्रतिव्यक्ति** प्रत्यलङ्कारभेदं प्रतिशरीरं वा । **वैलक्षण्यं** विलक्षणता भेदः वा । **मुखेषु** वदनेषु । **इव** । **प्रतिभाति** प्रतीयते ॥ १२४ ॥

जहाँ अलंकार मुख्य हैं, उन स्थलों (वाक्यों) के तुल्यता धारण करने (तुल्य होने) पर भी हर एक (स्थल) मे विलक्षणता (विशेषता या अन्तर) प्रतीत होती है जैसे मुखों के तुल्यता धारण करने (तुल्य होने) पर भी हर एक (मुख) मे विलक्षणता (विशेषता या अंतर) प्रतीत होती है ॥१२४॥]

[ऊपर ५।१२२ तथा ५।१२३ में यह बताया जा चुका है कि "अतिशयोक्ति" में सभी अलंकारों का अन्तर्भाव हो सकता है। फिर प्रश्न यह उठता है कि फिर इतने अलंकारों की चर्चा क्यों की गई। उसका समाधान करते हुये ग्रन्थकार का कहना है कि मुखत्व (मुख-जाति) के सभी मुखों मे समान रूप से होने पर भी हर मुख मे अन्तर है, उसी प्रकार हर अलंकार-युक्त वाक्यत्व (वाक्य-जाति) के सभी वाक्यों में समान रूप से होने पर भी हर वाक्य मे अन्तर है जिससे अलग-अलग परिभाषायें और नाम दिये गये हैं।

"साम्यता" शब्द समता के अर्थ मे है। "सम" से अपने अर्थ (स्वार्थ) मे "साम्य" शब्द बना जिसका अर्थ "सम" ही हुआ। इससे भाव-वाची संज्ञा "साम्यता" बनी। यहाँ दो-दो भाव-वाची संज्ञा बनाने वाले प्रत्यय लगे होने से बाद वाला प्रत्यय व्यर्थ प्रतीत होता है। ऐसे प्रयोग नहीं मिलते। छन्द-पूर्ति के लिये भी इसे माना जा सकता है। "तुल्यता" का प्रयोग "साम्यता" के स्थान पर करने से खटक की बात न रह जाती।

यहाँ दिखाया गया है कि अलंकार या ("अतिशयोक्ति") के समान रूप से रहने पर भी अपनी विशेषता के कारण अलंकारो मे भेद किये जाते है ॥१२४॥

अलङ्कारेषु तथ्येषु यद्यनास्था मनीषिणाम्।
तदर्वाचीनभेदेषु नाम्नां नाम्नाय इष्यताम् ॥ १२५ ॥

अलङ्कारेष्विति। तथ्येषु सत्येषु (अपि प्राचीनेषु)। अलङ्कारेषु कुण्डलादिषु। यदि चेत्। मनीषिणां प्राज्ञानाम्। अनास्था अनादरः। तत् तदा। अर्वाचीनाः आधुनिकाः च ते भेदाः च तेषु उपमादिषु ग्रन्थकारोक्तभेदेषु वा। नाम्नाम् उपमादीनां सञ्ज्ञानाम्। आम्नायः पाठः। न। इष्यतां मन्यताम् ॥ १२५ ॥

अगर वास्तविक (कुण्डलादिक) अलंकारो के प्रति विद्वानों का अनादर हो तो आधुनिक भेदों के बारे मे नामो का पाठ (कथन) न माना जाय ॥१२५ ॥

["जब कुण्डल आदि गहनो के भेद सभी विद्वान् स्वीकार करते है, तब "उपमा" आदि अलंकारो के भेद स्वीकार करने पड़ेगे। यह बात विशेष भङ्गिमा से कहते हुये ग्रन्थकार ने ऊपर का श्लोक लिखा है। आशय यह है कि जो मूर्ख व्यक्ति गहनो के कुण्डल, कंकण आदि अलग-अलग नामो का खण्डन करता है, वही अलकारो के उपमा आदि अलग-अलग नामो का खण्डन करे; विद्वान् ऐसा नहीं करते। "अर्वाचीन" का अर्थ "ग्रन्थकार के द्वारा प्रयुक्त" या "बाद के ग्रन्थकारों के द्वारा प्रयुक्त" लग सकता है। पहले केवल अलंकार - जाति स्वीकार की गई। जैसे-जैसे सूक्ष्म विचार होता गया, वैसे वैसे भेद बढ़ते गये; यह आशय है। भेदो के रूप पहले कितने कम थे, यह देखने के लिये विष्णु-धर्मोत्तर पुराण मे "वज्र" नामक राजा से मार्कण्डेय

के द्वारा किया गया अलंकार-कथन देखा जा सकता हैं; केवल १५ श्लोकों मे परिभापाओं और कुछ भेदों के साथ १८ अलंकारों का वर्णन आया है ।

गहनों के नये नये प्रकार निकलने पर सभी बडे चाव से उन्हे अपनाते हैं; उसी प्रकार अलकार के जो-जो प्रकार निकलते जाते है, सभी के प्रति समझदारों को आदर दिखाना चाहिये ।

भेद-व्यवस्था करने वाला व्यक्ति अपने अनुभव से सूक्ष्म अन्तर पाकर ही नये नाम और परिभाषाये बनाता है । कुण्डल, कंगन आदि की तरह अलकारों के भी प्रकार हो सकते है; यह संभावना भी अलंकार भेद-रचना का कारण हो सकती है ।। १२५ ।।]

महादेवः सत्रप्रमुखमखविद्यैकचतुरः
सुमित्रा तद्भक्तिप्रणिहितमतिर्यस्य पितरौ ।
चतुर्थः सैकोऽयं सुकविजयदेवेन रचित-
श्चिरं चन्द्रालोके सुखयतु मयूखः सुमनसः ।। १२६ ।।

इति चन्द्रालोकालङ्कारे पञ्चमो मयूखः ।।

["अनेनासावाद्यः" (१।१६) की जगह "चतुर्थः सैकः (एकेन सह सैकः अयम्) (एक के साथ चौथा अर्थात् पाँचवाँ यह)" तथा "वाग्विचारो नाम प्रथमो (१।१६)" की जगह "पञ्चमः (पाँचवाँ)" का प्रयोग प्रथम मयूख के सोलहवें श्लोक तथा पुष्पिका से भिन्न है; शेष समान है जिसे वहीं (१।१६ में) देखा जा सकता है ।। १२६ ।।]



षष्ठो मयूखः

अथ रसाः

आलम्बनोद्दीपनात्मा विभावः कारणं द्विधा।
कार्योऽनुभावो भावश्च सहायो व्यभिचार्यपि ॥१॥

आलम्बनेति। आलम्बनः (नाम) च उद्दीपनः (नाम) च आलम्बनोद्दीपनौ। तौ आत्मा स्वरूपं यस्य तथाभूतः सन् (विभावः)। कारणं रसकारणतां गतः। विभावः (नाम)। द्विधा द्विप्रकारकः (भवति)। अनुभावः (नाम)। कार्यः रसकारणस्य विभावस्य कार्यभूतः। व्यभिचारी (नाम)। च। अपि। भावः। सहायः सहायकः। अनुभावस्य इत्यर्थः ॥१॥

छठा अध्याय रस—

आलम्बन और उद्दीपन स्वरूप वाला होता हुआ, (रस का) कारण विभाव, दो प्रकार का होता है, अनुभाव (उस कारण का), कार्य होता है तथा व्यभिचारी भाव (उस अनुभाव का), सहायक होता है ॥१॥

[काव्य की परिभाषा मे "सरीति" (रीति से युक्त) (१।७) शब्द का प्रयोग आ चुका है। ग्रंथकार रीति का वर्णन करने के पूर्व भूमिका-रूप में रस की चर्चा कर रहे हैं। बिना रस को समझे रीति को समझना संभव नही है।

"रस्यते आस्वाद्यते इति रसः" व्युत्पत्ति के अनुसार "रस" का अर्थ है जिसका आस्वादन किया जाय। सामान्यतः यह शब्द संस्कृत मे तरल, आनन्द, जिह्वा के ६ रसो तथा काव्य के ९ रसों के अर्थ में आता है। वेद मे प्रायः यह शब्द जल और सोम-रस के अर्थ में आया है; लौकिक संस्कृत मे अभी तक यह अर्थ चला आ रहा है। इसका प्रयोग "आनन्द" के अर्थ मे वेद मे भी मिलता है:—

रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति।

रसो वै सः। (तैत्तिरीय उपनिषद् २।७)

सबसे पहले रस का विचार भरत ने नाट्य-शास्त्र मे किया और ८ रस माने तथा इनमे से चार—शृंगार, रौद्र, वीर और बीभत्स—को प्रधान तथा उत्पादक बताया। उनके अनुसार इनसे क्रमशः हास्य, करुण, अद्भुत और भयानक की उत्पत्ति होती है। उन्होंने रस का पूर्ण विवेचन किया। उसके भी पूर्व वाल्मीकि रामायण के आरंभ मे करुण रस की प्रतीति से यह सिद्ध है कि आलोचनात्मक विचार भले ही बाद मे चले हो, रस का परिज्ञान मनीषियो को पहले से ही था।

अलङ्कार-वादी भामह, उद्भट, वामन, रुद्रट आदि ने अपने ग्रन्थो के नाम अलङ्कार-प्रधानता बताने वाले रखे और रस की स्थिति "रसवत्" आदि अलङ्कारों के रूप मे की; उनको इतना गौण रूप दिया कि नाम-मात्र की चर्चा कर दी। इसके विपरीत सारे ग्रन्थ मे अलङ्कारो की चर्चा की।

भोज ने सरस्वती-कण्ठाभरण मे रस की विवेचना तो की पर सूक्ष्म रूप से नहीं। "शृङ्गार-प्रकाश" नामक विस्तृत ग्रंथ मे उन्होने शृंगार-रस का अच्छा प्रतिपादन किया।

रस की प्रतिष्ठा आनन्दवर्धन, अभिनव गुप्त तथा मम्मट ने क्रमशः "ध्वन्यालोक", उसकी टीका "लोचन" तथा "काव्य-प्रकाश" मे विस्तृत रूप से की। उनके अनुसार रस प्रधान है। मम्मट ने रस को काव्य की आत्मा स्वीकार करते हुये अलङ्कारों को उसका परिपोषक बताकर उनको गौण स्थान दिया। रस-वादी मत ही सामान्य रूप से आज-कल मान्य है। बाद मे विश्व-नाथ और जगन्नाथ ने क्रमशः "साहित्य-दर्पण" और "रस-गङ्गाधर" मे उनका अनुकरण किया।

भरत ने नाट्य-शास्त्र मे नाटक के ८ रसो का उल्लेख किया है:—

(१) शृंगार, (२) हास्य, (३) करुण, (४) रौद्र, (५) वीर, (६) भयानक, (७) बीभत्स और (८) अद्भुत।

काव्य में नौवाँ रस "शान्त" माना गया है। रुद्रट ने दसवाँ रस "प्रेयान्" माना है। साहित्य-दर्पण में दसवाँ रस "वत्सल" कहा गया है। भानु-दत्त (रस-

तरगिणी) ने "वात्सल्य" के अलावा, "लौल्य", "भक्ति" और "कार्पण्य" को भी रस माना है। रूप-गोस्वामी (उज्ज्वल-नील-मणि) ने, भक्ति को "उज्ज्वल रस" माना है। गौडीय वैष्णवों के अनुसार मधुर रस सर्वोपरि है। ९ से अधिक रस मानने पर भेद का निश्चय असंभव हो जायेगा, अतः भक्ति आदि भाव के रूप स्वीकार किये जाने चाहिये, यह जगन्नाथ (रस-गंगाधर) का मत है।

भरत और धनञ्जय ने नाटक मे शान्त रस की स्थिति स्वीकार नही की है। नाटक मे शान्त रस को स्वीकृति इस आधार पर नही दी जाती कि "शान्त रस" शरीर की क्रियाओ का रुक जाना है। सुख, दुःख, चिन्ता आदि के न रह जाने पर नाटक की दृश्यता जो क्रिया-शीलता की अभिव्यक्ति है समाप्त हो जायेगी।

आगे ग्रन्थकार को यह बताना है कि स्थायी रस है जब वे विभाव आदि से पुष्ट होते है। एतदर्थ यहाँ विभाव आदि का निरूपण कर रहे है।

"विभावयन्ति आस्वादनयोग्यान् जनयन्ति रत्यादीन् इति विभावा:" व्युत्पत्ति से विभाव का अर्थ "रति आदि को आस्वादन-योग्य बनाने वाला" निकलेगा। इस तरह यह कुछ अंश मे अन्वर्थ (=सार्थक) हो जायेगा।

आलम्बन विभाव, उसे कहते है जो प्रधान लक्ष्य है। शृंगारादि रसों में नायिका आलम्बन होती है। रस का उद्दीपन करने वाले चन्द्र, चन्दन, वर्षा आदि उद्दीपन विभाव है।

आलम्बन, रस का समवाय कारण-जैसा होता है। इस कारण का कार्य, अनुभाव है। "अनु पश्चात् स्थाय्युद्‌बोधानन्तरं रत्यादीन् भावयन्ति आस्वादयन्ति इति अनुभावाः" व्युत्पत्ति से अनुभाव वे है जो स्थायी भाव का उद्‌बोधन हो जाने के बाद रति आदि का आस्वादन कराते है। कटाक्ष, भुजा-क्षेप आदि अनुभाव के अन्तर्गत है।

"विशेषेण अभितः सर्वतः चारयन्ति सञ्चारयन्ति स्थायिभावान् इति व्यभिचारिणः" व्युत्पत्ति से स्थायी भावो को चारो ओर संचारित करने वाले भाव

व्यभिचारी भाव कहलाते है। जिन्हे सहकारी कारण कहा जाता है, वही काव्य मे व्यभिचारी भाव है जो विभावो की सहायता करते है। इन्हें संचारी भाव भी कहते हैं। ये विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव प्रत्येक रस मे भिन्न-भिन्न होते हैं॥ १ ॥]

गलद्वेद्यान्तरोद्भेदं हृदयेष्वजडात्मनाम्।
मिलन्मलयजालेय इवाह्लादं विकासयन् ॥२॥
काव्ये नाट्ये च कार्ये च विभावाद्यैर्विभावित.।
आस्वाद्यमानैकतनु. स्थायिभावो रस स्मृतः ॥३॥

गलदिति। मलयजस्य चदनस्य आलेप समन्तात् लेपः मलयजालेप। मिलन् च असौ मलयजालेपः मिलन्मलयजालेपः। इव। न जडः मूर्खः अजडः। अजडः आत्मा येषा तेषाम् अजडात्मनाम् विदुषा रसिकानाम् इति यावत् हृदयेषु स्वान्तेषु। अन्यत वेद्यं ज्ञेय वेद्यान्तरम्। तस्य उद्भेदः प्रस्फुटनम् वेद्यान्तरोद्भेदः। गलन् नश्यन् वेद्यान्तरोद्भेदः यस्मिन् गलद्वेद्या-न्तरोद्भेदः तम्। आह्लादम् उल्लासम्। विकासयन् प्रकाशयन्। काव्ये श्रव्यकाव्ये। च। नाट्ये नृत्तगीतात्मके नाटके। च। कार्ये नाटकावलोकने। च। विभावाः आद्याः आदयः येषा तैः विभावाद्यैः विभावानुभावव्यभि-चारिभिः भावैः। विभावितः रूपान्तरे परिणतः। आस्वाद्यमाना व्यञ्जनया ज्ञायमाना एका तनुः शरीरं यस्य सः आस्वाद्यमानैकतनुः। स्थायी च सः भावः च स्थायिभावः कर्त्ता। रसः रसः इति नाम्ना। स्मृतः कथितः। विद्वद्भिः इति शेषः ॥२॥३॥

चन्दन के लग रहे लेप की भाँति, विद्वानों के हृदय में ऐसा उल्लास विक-सित करता हुआ जिसमे दूसरे ज्ञातव्य पदार्थों का प्राकट्य नष्ट हो जाता है, काव्य, नाटक और कार्य (नाटक-दर्शन) मे विभाव आदि (विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों) के द्वारा अभिव्यक्त तथा आस्वादित हो रहे एक-मात्र स्वरूप वाला, स्थायी भाव कहा गया है ॥२॥३॥

[रस की परिभाषा और प्रशंसा इस श्लोक-युग्म में दी गई है। रस की

सत्ता सभी ने किसी न किसी रूप में स्वीकार की है। राज-शेखर ने लिखा है कि ब्रह्मा के उपदेश से सर्व-प्रथम नन्दिकेश्वर ने रस का विवेचन किया। ब्रह्मा और नन्दिकेश्वर का साहित्य नही मिलता, रस और भाव का सर्वप्रथम विवेचन भरत के नाट्य शास्त्र के छठे तथा सातवे अध्याय मे किया गया है और अपूर्व है।

रस-सम्प्रदाय का प्रसिद्ध सूत्र है:—

विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।

(विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।)

रस का आस्वादन किस प्रकार होता है, इस विषय मे निम्न लिखित मत बहुत प्रसिद्ध है जिनका एक-मात्र आधार ऊपर के सूत्र के "निष्पत्ति" शब्द की अपने अपने ढग से की गई व्याख्या है.—

भट्ट लोल्लट का उत्पत्ति-वाद—भट्ट लोल्लट के अनुसार विभावादि उत्पादक है और रस की उत्पत्ति होती है। दोनो पक्षो मे कारण-कार्य सम्बन्ध है।

भट्ट शङ्कुक का अनुमिति-वाद—भट्ट शङ्कुक के अनुसार विभादि अनुमापक हैं और रस की अनुमिति होती है। दोनो पक्षो मे अनुमापक-अनुमाप्य सम्बन्ध है। इसे ही गमक-गम्य सम्बन्ध भी कहते है।

भट्ट नायक का भुक्ति-वाद—भट्ट नायक के अनुसार विभावादि भोजक है और रस की भुक्ति (भोग) होती है। दोनो पक्षो मे भोजक-भोज्य सम्बन्ध है। इसके लिये उन्होने अभिधा, भावकत्व तथा भोजकत्व तीन व्यापार माने है।

अभिनव गुप्त का व्यक्ति-वाद—अभिनव गुप्त का व्यक्ति-वाद सर्वाधिक मान्य है। उनके अनुसार स्थायी भाव वासना के रूप मे सहृदयो के हृदयो मे सदा विद्यमान रहते है। वे ही सुप्त भाव विभावादि के द्वारा जगा दिये जाते है और अभिव्यक्त होकर आनन्दमय रस का स्वरूप ग्रहण कर लेते है। इस प्रकार विभावादि व्यञ्जक हैं और रस की व्यक्ति होती है। दोनो पक्षो मे व्यञ्जक-व्यङ्ग्य सम्बन्ध है।

उत्पत्ति-वाद मे रस नायिकादि पात्रो में उत्पन्न होता है और नट वेश-भूषा, वाणी, क्रिया आदि से उन पात्रों का अनुकरण करता है जिससे उसमे भी रस की

प्रतीति होती है और यह प्रतीति-उत्पत्ति ही प्रेक्षक को चमत्कृत कर आनन्द देती है। इस प्रकार रस की सत्ता न तो नट मे होती है और न प्रेक्षक में बलिक अनुपस्थित नायकादि पात्रों मे। यह मत मीमांसा शास्त्र के अनुरूप है। इसमें अनेक दोष हैं :—

१। रस और भाव का अनुकरण नहीं हो सकता; वेश-भूषादि का ही हो सकता है।

२। रस की सत्ता तब तक रहती है जब तक विभावादि रहते है; उसे बाद में भी रहना चाहिये था क्योंकि यह जरूरी नही है कि कारण के साथ ही कार्य भी समाप्त हो जाय।

३। कारण के बाद कार्य होता है, साथ-साथ नही। रस की उत्पत्ति मे यह पौर्वापर्य सम्बन्ध नही होता, विभावादि के साथ-साथ रस को उत्पत्ति होती है।

अनुमिति वाद न्यायशास्त्र के आधार पर उत्पत्ति-वाद का खण्डन करते हुये प्रतिष्ठित किया गया। इसके अनुसार प्रेक्षक को चित्र-तुरंग-न्याय से नट मे रस का भ्रम होता है और यही भ्रम आनन्द दायक हो जाता है। जिस प्रकार घोड़े की तस्वीर देखकर उस (घोडे)-की प्रतीति होती है, उसी प्रकार कुशल नट का अभिनय देखकर उसमे नायकादि पात्र की प्रतीति होती है। इस भ्रम मे नायकादि के भाव प्रेक्षक के भाव हो जाते हैं। इसके निम्न-लिखित दोष है:—

१। प्रत्यक्ष की अपेक्षा अनुमान अधिक आनन्द देने वाला नहीं हो सकता।

२। नट मे जिन भावों का भ्रम हुआ, वे प्रेक्षक में नहीं आ सकते क्योंकि विभावादि तो नायक के हैं; प्रेक्षक के नहीं। एक सामान्य व्यक्ति में महान् वीर नायक का पराक्रम कैसे आ सकता है!

३। यदि यह माना जाय कि "प्रेक्षक को, नायक को देखकर स्वयं अपने को नायक समझने का भ्रम उसी प्रकार होता है जैसे शुक्ति और रज्जु देखकर क्रमशः चाँदी और सर्प का। इस प्रकार भाव न तो सत् होते हैं और न असत्। सत् इसलिये नहीं होते कि उनकी सत्ता प्रेक्षक में नहीं होती और असत्

इसलिये नही होते कि उनकी सत्ता प्रेक्षक में नही होती और असत् इसलिये नही होते कि उनकी सत्ता प्रेक्षक मे भ्रम-रूप मे रहती है। आत्मा का परावर्त्तित रूप उस स्थायी भाव को प्रकाशित कर रस-रूप मे आनन्द देता है जो नायकादि मे रहते हुये भी प्रेक्षक मे भ्रम-रूप मे उत्पन्न हो जाता है" तो इस पर यह आपत्ति खडी होती है कि सीता आदि पूज्य पात्रो के प्रति प्रेक्षक भ्रम मे भी रामादि की रति अपने हृदय मे कैसे धारण कर सकता है।

४। प्रेक्षक को रस का आस्वादन होने पर शोक नहीं होता किन्तु यदि वह नायक के भाव— भ्रम मे ही सही—प्राप्त करेगा तो करुण रस मे उसे दुःख की प्राप्ति होगी। इस तरह रस दुःख-रूप हो जायेगा।

भुक्ति-वाद मे अभिधा से अर्थ निकलता है और भावकत्व व्यापार से साधारणीकरण होता है अर्थात् रामादि पात्र व्यक्ति-गत रूप से मुक्त होकर सामान्य नायक आदि बन जाते है जिससे भगवान् आदि मानने की स्थिति नही रह जाती। मूल सूत्र के "संयोग" के "सम" का अर्थ सम्यक् या साधारण लेने से यह अर्थ निकल सकता है। इस वाद मे प्रेक्षक के हृदय मे रस की सत्ता मानी गई है। भोजकत्व व्यापार से स्थायी भाव का रस-रूप मे भोग होता है जो मूल सूत्र की "रस-निष्पत्ति" है। यह रस-भोग सत्त्व तथा रजस् की निवृत्ति कर सात्त्विक आनन्द का प्रकाश करता है। उस स्थिति मे सासारिक बन्धन थोडी देर के लिये नही रह जाते।

इस वाद मे निम्नलिखित दोष है :—

१। तीन व्यापार मान लेने का कोई आधार नही है। भावकत्व व्यापार भावों का गुण है और भावकत्व तथा भोजकत्व के लिये लक्षणा और व्यञ्जना शब्द प्रचलित है ही।

आत्मा पर अज्ञान का आवरण छाया होने से स्थायी भावो के हृदय मे रहने पर भी उनका आनन्द रस-रूप मे हमेशा नही मिलता। विभावादि भाव जब अज्ञान का पर्दा नष्ट कर देते है तब स्थायी भाव ही रस-रूप मे आस्वादित होता है। विभाव आदि लौकिक पदार्थ उसी प्रकार अलौकिक रस का अस्वादन कराते हैं जिस प्रकार शर्बत अपने मे पड़े हुये कपूर आदि का

मिश्रण होने पर एक नये रस का।

उक्त ४ मतो के अलावा पाँचवाँ मत धनञ्जय भट्ट का है जिसके अनुसार आनन्द की सत्ता प्रेक्षक के साथ-साथ नट मे भी होती है।

उक्त ५ मतों के अतिरिक्त निम्न-लिखित मतो का सङ्कलन रस-गङ्गाधर मे किया गया है :—

(१) विभावादि—तीनो—मिलकर रस बनते है।

(२) विभाव ही रस है।

(३) विभावादि तीनो मे से जो चमत्कारी होता है, वही रस है।

(४) बार-बार सोचा जा रहा अनुभाव ही रस है।

(५) बार-बार सोचा जा रहा व्यभिचारी भाव ही रस है।

(६) स्थायी भाव ही रस की भ्रान्ति उत्पन्न करता है, जैसे सीप, चाँदी का भ्रम उत्पन्न करती है।

(७) रस वास्तविक नही होता; यह केवल भ्रम है।

इस प्रकार ऊपर १२ मत आये है। शेष ८ मतो के प्रचलित न होने स उनके बारे मे संक्षेप मे लिखा गया है। अभिनव गुप्त का मत सर्व-मान्य होन से उसमे दोष नहीं दिखाये गये है।

रस ब्रह्मानन्द-सहोदर कहा गया है। इसी भाव को व्यक्त करने क लिये मूल मे कहा गया है कि स्थायी भाव इस प्रकार आह्लाद उत्पन्न करता है कि उसमे अन्य ज्ञान का स्फुरण ही नहीं होता—सब कुछ आनन्द-मय हो जाता है।

मूल का "अजडात्मा" शब्द सहृदय या रसिक के लिये आया है। सहृदयता, (१) पूर्व जन्म के संस्कार, (२) इस जन्म के संस्कार और (३) अभ्यास से आती है। साहित्यको के द्वारा मीमासक, वैयाकरण आदि इस कोटि मे नहीं रखे जाते।

"विभावित" का अर्थ यहाँ व्यञ्जित लिया गया है जो अभिनव गुप्त का मत है।

"भगवद्भक्ति-रसायन" मे बताया गया है कि काम, क्रोध, भय, स्नेह, हर्ष, शोक आदि के ताप से चित्त-रूपी लाख पिघलकर अपने मे पडी हुई कान्ता आदि वस्तु को पाकर उसी के आकार मे बदल जाता है। फिर ताप पाने पर भी वह चित्त उस वस्तु को नहीं छोडता। यह चित्त का रति आदि स्थायी-भाव को वासना-रूप मे रखना है।

साख्य के अनुसार रति आदि भाव मनोमय हो जाते है और बाह्य वस्तु-विभावो के नष्ट हो जाने पर भी उसी रूप मे रहकर वासना बन जाते हैं, जैसे स्वर्ण पिघलने पर पात्र के आकार का बन जाता है और फिर पात्र के नष्ट हो जाने पर भी उसी प्रकार का रहता है। यही स्थायी भाव है (भक्ति-रसायन १।२६)।

स्थायी भाव का रस-रूप मे बदल जाना साख्य के विपरिणाम से बहुत मिलता-जुलता है। जैसे मट्टी घडे के रूप मे बदल जाती है, उसी प्रकार स्थायी-भाव रस-रूप मे बदल जाते है तथा जिस प्रकार घडा (टूटने पर) पुनः मट्टी मे बदल जाता है, उसी प्रकार रस (आस्वादन हो जाने पर) पुनः स्थायी भाव मे बदल जाता है।

साहित्य-दर्पण (३।२० से २८) में रस की विशेषतायें बताते हुये कहा गया है कि रस अलौकिक, स्व-प्रकाश और अखण्ड है; यह ज्ञाप्य, कार्य, नित्य, भावी, वर्त्तमान, निर्विकल्पक ज्ञान से जानने योग्य, सविकल्पक ज्ञान से जानने योग्य, प्रत्यक्ष, परोक्ष, उत्पाद्य और वाच्य नही है ॥ २॥३॥]

रत्याख्यस्थायिभावात्मा वल्लभादिविभावितः।
आलस्येर्ष्याजुगुप्साभ्यो विना संचारिभिर्युतः ॥ ४ ॥
अनुभावैः कटाक्षाद्यैरुन्मादाद्यैर्यथाक्रमम्।
संभोगो विप्रलम्भश्च श्रृंगारो द्विविधो मतः ॥ ५ ॥

रत्येति। रतिः आख्या नाम यस्य सः रत्याख्यः। रत्याख्यः च स्थायी च रत्याख्यस्थायी। सः च असौ भावः च रत्याख्यस्थायिभावः। सः एव आत्मा स्वरूपं यस्य सः रत्याख्यस्थायिभावात्मा। वल्लभा कान्ता

आदौ आरम्भे यस्य तेन उभयविधेन (विभावेन) **विभावितः** विभाव-विषयः सन् **आलस्यं** च **ईर्ष्या** च **जुगुप्सा** च **आलस्येर्ष्याजुगुप्साः** ताभ्यः व्यभिचारिभावेभ्यः । **विना** अन्तरेण । **सञ्चारिभिः** व्यभिचारिभिः **कटाक्षाद्यैः** । **अनुभावैः** । **उन्मादाद्यैः** व्यभिचारिभिः इत्यर्थः । **युतः** युक्तः । **शृङ्गारः** रसः इत्यर्थः । **द्वे विधे** प्रकारौ यस्य सः **द्विविधः** द्विप्रकारकः । **मतः** कथितः । **क्रमम्** अनतिक्रम्य **यथाक्रमम्** क्रमेण । सम्भोगः । **विप्रलम्भः** । च ॥ ४ ॥ ५ ॥

जिसके स्वरूप मे रति-नामक स्थायी भाव होता है, जो प्रिया आदि (दो प्रकार के) विभाव का विषय होता है, जो आलस्य, ईर्ष्या और जुगुप्सा-नामक व्यभिचारी भावों के अतिरिक्त अन्य व्यभिचारी भावों से युक्त होता है तथा जिसमे कटाक्ष आदि अनुभाव और उन्माद आदि व्यभिचारी भाव होते है, वह शृंगार (रस) क्रमश दो प्रकार का माना गया है :— (१) संभोग और (२) विप्रलम्भ ॥४॥५॥

[काम-प्रधान शृंगार, सब प्राणियों मे प्रधान रूप से काम के रहने के कारण, सबसे पहले बताया आता है, उससे पैदा होने के कारण हास्य दूसरे स्थान पर आता है, फिर उसका विरोधी होने से करुण, तब उसका निमित्त अर्थ-प्रधान रौद्र, फिर अर्थ और काम के धर्म-मूलक होने से धर्म-प्रधान वीर, तदनन्तर, डरे हुये को अभय-दान देना ही वीर रस का लक्ष्य होने से, भयानक, उसके बाद उसका कारण बीभत्स, फिर वीर रस का फल अद्भुत और अन्त में, तीन वर्गों को फल-रूप मे देने वाले ८ रसों की चर्चा के बाद मोक्ष को फल-रूप मे देने वाला शान्त रस आता है । यह क्रम सुविचारित है ।

"शृङ्गं कामोद्रेकम् ऋच्छति प्राप्नोति अनेन इति शृङ्गारः" व्युत्पत्ति के अनुसार शृंगार का अर्थ है जिससे मनुष्य कामोद्रेक की प्राप्ति करता है। इस प्रकार यह शब्द अन्वर्थ (सार्थक) है ।

साहित्य-दर्पण के अनुसार इसमें नायिका न तो परस्त्री हो सकती है और न वेश्या ।

संभोग वह श्रृंगार है जिसमे मिलन बना रहता है और विप्रलम्भ वह श्रृंगार है जिसमे बिछोह का वर्णन होता है। पूर्व राग मे (आपस मे प्रेम के बढने पर) काम की निम्न-लिखित दस दशाये प्रगट होती है :—

अभिलाषश्चिन्तास्मृतिगुणकथनोद्वेगसंप्रलापाश्च ।
उन्मादोऽथ व्याधिर्जडता मृतिरिति दशात्र कामदशाः ॥

[(१) अभिलाषा, (२) चिन्ता, (३) स्मृति, (४) गुण-कथन, (५) उद्वेग, (६) प्रलाप, (७) उन्माद, (८) व्याधि, (९) जडता और (१०) मरण—ये दस काम-दशाये इस (पूर्व राग)-मे होती है।

विप्रलम्भ श्रृंगार मे नायक का प्रवास चित्रित किया जाता है जिसमे भी १० काम-दशायें प्रगट होती है :-

अङ्गेष्वसौष्ठवं तापः पाण्डुता कृशताऽरुचिः ।
अधृतिः स्यादनालम्बस्तन्मयोन्मादमूर्च्छनाः ।
मृतिश्चेति क्रमाज्ज्ञेया दश स्मरदशा इह ॥

[(१) अङ्गो की मलिनता, (२) ताप, (३) पीला-पन, (४) दुर्बलता, (५) अरुचि, (६) अधैर्य, (७) असहायता, (८) तन्मयता से उन्माद, (९) मूर्च्छा और (१०) मरण—इस प्रसंग मे क्रम से ये १० काम-दशायें जाननी चाहिये ।]

दोनो प्रकार की काम -दशाओ मे उन्माद और मरण समान-रूप से है तथा शेष बातें भी प्रायः मिलती-जुलती या क्रमशः अधिक तीव्र रूप मे है ।

परस्पर अवलोकन, आलिङ्गन आदि के कारण संभोग श्रृगार के असंख्य भेद माने गये है; तथापि इसे प्रायः भेद-रहित मानते है। इसका उदाहरण निम्न-लिखित है :—

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै-
र्निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम् ।
विस्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता ॥

(कमरा सूना देखकर धीरे से बिस्तर से कुछ उठकर नीद का बहाना बनाये पति के मुख को देर तक ध्यान से देखकर विश्वास-पूर्वक कपोल और नेत्र-प्रान्त का चुम्बन लेकर (पति का) गण्ड-स्थल रोमाञ्चित देखकर लाज से झुक गये मुख वाली तरुणी का हँसते-हँसते प्रिय ने चुम्बन किया ।)

विप्रलम्भ शृंगार का उदाहरण निम्नलिखित है :—

त्वामालिख्य प्रणयकुपिता धातुरागैः शिलाया-
मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्त्तुम् ।
अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते सङ्गमं नौ कृतान्तः ॥

(प्रणय से कुपित तुम्हारा चित्र गेरू आदि से पत्थर पर बनाकर जैसे ही तुम्हारे पैरों पर अपने को प्रणत करना चाहता हूँ, वैसे ही रह-रह कर संचित आँसुओं से मेरी दृष्टि बन्द हो जाती है; क्रूर विधाता वैसी स्थिति मे भी हम दोनो का मिलन नही सह पाता ।)

मम्मट ने अभिलाषा, विरह, ईर्ष्या, प्रवास और शाप से इसके ५ भेद माने हैं ॥ ४॥ ५॥]

हासस्थायी रसो हास्यो विभावाद्यैर्यथाक्रमम् ।
वैरूप्यफुल्लगण्डत्वावहित्थाद्यैः समन्वितः ॥ ६ ॥

हासस्थायीति । यथाक्रमम् क्रमम् अनतिक्रम्य क्रमेण इत्यर्थः । **वैरूप्यं** (उद्दीपनविभावः) च **फुल्लगण्डत्वं** च (अनुभावः) **अवहित्था** च **वैरूप्यफुल्लगण्डत्वावहित्थाः** ताः **आद्याः** येषां तैः । **विभावः आद्यः** येषा तैः **विभावाद्यैः** विभावानुभावव्यभिचारिभिः भावैः । **समन्वितः** युतः । हासः स्थायी भावः इत्यर्थः यस्य सः **हासस्थायी** । **रसः** । **हास्यः** (इति नाम्ना स्मृतः) ॥ ६ ॥

क्रमशः विरूपता (अङ्गों का टेढ़ापन), फुल-गण्डत्व (गालों का फूलना), अवहित्था (आकार का गोपन) आदि विभाव आदि (अनुभाव तथा

व्यभिचारी) से युक्त तथा हास (को) स्थायी भाव (के रूप मे पाने) वाला रस हास्य है ॥ ६ ॥

[हास्य रस मे नायक-नायिका आदि आलम्बन विभाव, अङ्गो की कुटिलता आदि उद्दीपन विभाव, फुल्ल-गण्डत्व (गाल का फूल जाना) आदि अनुभाव तथा अवहित्था (आकार-गोपन) आदि व्यभिचारी भाव तथा हास स्थायी भाव होता है ।

हास के ६ भेद माने गये है :—

ज्येष्ठाना स्मितहसिते मध्यानां विहसितावहसिते च ।

नीचानामपहसितं तथातिहसितं तदेष षड्भेदः ॥ (साहित्य-दर्पण)

[उस (प्रसिद्ध हास)-के ६ भेद होते है :—

(१) स्मित और (२) हसित श्रेष्ठ पात्रों मे; (३) विहसित और (४) अवहसित मध्य पात्रो मे तथा (५) अपहसित और (६) अतिहसित नीच पात्रों मे ।]

दश-रूपक (४।७६-७७) मे अवहसित की जगह उपहसित शब्द आया है और बहुत सुन्दर परिभाषाये दी गई है :—

जिसमे नेत्र विकसित हो जायँ वह स्मित, जिसमे दाँत कुछ-कुछ दिखाई पडे वह हसित, जिसमे मीठा स्वर निकले वह विहसित, जो सिर के कम्पन से युक्त हो वह उपहसित, जिसमे आँखें अश्रु-युक्त हो जायँ वह अपहसित और जिसमे अङ्ग विक्षिप्त हो जायँ वह अतिहसित है ।

प्रहसनो विशेषतः "लटकमेलक" प्रहसन मे इस रस की सुन्दर परिपुष्टि पाई जाती है ।

इसका उदाहरण निम्नलिखित है :—

भिक्षो मासनिषेवणं प्रकुरुषे किं तेन मद्यं विना

कि ते मद्यमपि प्रियं प्रियमहो वाराङ्गनाभिः सह ।

वेश्या द्रव्यरुचिः कुतस्तव धनं द्यूतेन चौर्येण वा

चौर्यद्यूतपरिग्रहोऽपि भवतो दासस्य काऽन्या गतिः ॥

(दशरूपक ४।७५ का उदाहरण)

[(प्रश्न) अरे भिखारी, तुम मांस का सेवन करते हो ?

(उत्तर)—बिना शराब के तो उसमे कोई मजा नही है । (प्रश्न) क्या तुम्हें शराब भी प्यारी है ? (उत्तर) अहा ! वेश्याओं के साथ प्यारी है। (प्रश्न) वेश्या को द्रव्य रुचता है; तुम्हारे पास धन कहाँ से आता है ? (उत्तर) जुये या चोरी से । (प्रश्न) अच्छा तो आपने चोरी और जुआ भी अपनाया है ? (उत्तर) सेवक की दूसरी गति (ही) क्या है ।। ६ ।।]

अभीष्टविप्रयोगाश्रुपातग्लान्यादिभिः क्रमात् ।
विभावाद्य र्युतः शोकस्थायी स्यात् करुणो रसः ।। ७ ।।

अभीष्टेति । क्रमात् क्रमेण **अभीष्टस्य** प्रियस्य **विप्रयोगः** वियोगः (विभावः) च **अश्रूणां** नयनवारिणा **पातः** (अनुभावः) पतनं च **ग्लानिः** (व्यभिचारी भावः) च **आदौ** येषां तैः **अभीष्टविप्रयोगाश्रुपातग्लान्यादिभिः । विभावाद्यैः** विभावानुभावव्यभिचारिभिः भावैः । **युतः** युक्तः । **शोकः स्थायी** (भावः) यस्य सः **शोकस्थायी । रसः ।** करुणः (नाम भवति) ।। ७ ।।

क्रमशः प्रिय का वियोग (विभाव), आँसू गिरना (अनुभाव), ग्लानि (व्यभिचारी भाव) इत्यादि विभाव आदिको ('अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों) से युक्त तथा शोक स्थायी भाव वाला रस करुण कहलाता है ।। ७ ।।

[इसका आलम्बन विभाव नायकादि का वियोग, उद्दीपन विभाव पुत्रादि का मरण, अनुभाव अश्रुपातादि, व्यभिचारी भाव ग्लानि आदि तथा स्थायी भाव शोक है । रामायण, महाभारत तथा उत्तर-राम-चरित में इसका परिपाक देखने-लायक है ।

करुण रस मे जो वियोग होता है उसमे मिलन की इच्छा के कारण रति नष्ट नहीं होने पाती ।

रस आनन्द-स्वरूप होता है, और करुण का स्थायी भाव शोक है, पर काव्य का नियम विचित्र है जिसमें शोक से भी आनन्द प्राप्त होता है । अश्रु-पात शोक के कारण न होकर आनन्द के कारण होता है । यदि इस रस में शोक होता तो

इसकी ओर किसी की प्रवृत्ति ही न होती । इस विषय मे सहृदयों का अनुभव ही प्रमाण है ।

इसके अनुभाव निःश्वास, उच्छ्वास, रुदित, स्तम्भ और प्रलपित आदि तथा व्यभिचारी भाव स्वाप, अपस्मार, दैन्य, आधि, मरण, आलस्य, संभ्रम, विषाद, जडता, उन्माद और चिन्ता आदि होते है ।

इसका उदाहरण निम्न-लिखित हैः—

अयि जीवितनाथ जीवसीत्यभिधायोत्थितया 'तया पुरः ।
ददृशे पुरुषाकृतिः क्षितौ हरकोपानलभस्म केवलम् ॥

("प्रिय प्राणनाथ, जीवित हो ?" यह कहकर उठ गई उसने सामने पृथ्वी पर रुद्र की क्रोधाग्नि की पुरुष-आकृति वाली राख ही देखी ।) ॥७॥]

क्रोधस्थायी रसो रौद्रो विभावाद्यैः समन्वितः ।
मात्सर्यहस्तनिष्पेषसंमोहाद्यैर्यथाक्रमम् ॥८॥

क्रोधस्थायीति । **यथाक्रमम्** (क्रमम् अनतिक्रम्य) क्रमेण । क्रोधः स्थायी भावः यस्य सः **क्रोधस्थायी** । मात्सर्यं (उद्दीपनविभावः) च हस्त-निष्पेषः (अनुभावः) च संमोहः च (व्यभिचारी भावः) मात्सर्यहस्त-निष्पेषसंमोहाते: आद्याः येषां तैः **मात्सर्यहस्तनिपेपसंमोहाद्यैः** । विभावः आद्यः आदिः येषा ते विभावाद्या : तैः विभावाद्यैः विभावानुभा-वव्यभिचारिभिः इत्यर्थः । **समन्वितः** युक्तः । **रसः** । **रौद्रः** (नाम) भवति ।।८।।

क्रमशः क्रोध स्थायी (भाव) वाला तथा मात्सर्य (डाह), हस्त-निष्पेष (हाथ से पीसना), संमोह (मूर्छा) आदि विभावादिको से युक्त रस रौद्र (कहलाता) है ॥८॥

[इसके आलम्बन विभाव नायकादि, उद्दीपन विभाव डाह, शत्रु की करतूतें आदि, अनुभाव क्षोभ, ओठ चबाना, कम्पन, भृकुटि, स्वेद, मुँह लाल होना, शस्त्र उठाना, डीग मारना, कंधे और पृथ्वी पीटना, प्रतिज्ञा, पकड-धकड आदि तथा

व्यभिचारी भाव अमर्ष, मद, स्मृति, चपलता, गुणो मे दोष देखना, उग्रता, वेग आदि है।

परशुराम, भीमसेन, दुर्योधन, सात्यकि आदि की उक्तियो मे वीर-चरित, वेणीसहार, महाभारत आदि मे इसका परिपाक देखने-योग्य है।

इसका उदाहरण निम्नाकित है:—

नवोच्छलितयौवनस्फुरदखर्वगर्वज्वरे मदीयगुरुकार्मुकं गलितसाध्वस ग्रश्चति ।
अयं पततु निर्दयं दलितदृप्तभूभृद्गलस्खलद्रुधिरघस्मरो मम परश्वधो भैरवः ॥

(निर्भयता के साथ मेरे आराध्य देव का धनुप तोड देने वाले, नवागत यौवन से देदीप्यमान और अत्यधिक गर्व के ज्वर वाले व्यक्ति पर निर्दय होकर मेरा वह महाभयंकर कुठार पडे जो पीस डाले गये घमण्डी नृपों के गले से गिर रहे खून के पान का लोलुप है।) ॥८॥]

उत्साहाख्यस्थायिभावः प्रभावादिविभावभूः ।
वीरोऽनुभावैः स्थैर्याद्यैर्भावैर्गर्वादिभिर्युतः ॥९॥

उत्साहेति। उत्साहः आख्या यस्य सः उत्साहाख्यः। स्थायी च असौ भावः च उत्साहाख्यः च सः स्थायिभावः च उत्साहाख्यस्थायिभावः। प्रभावः आदौ आरम्भे यस्य सः प्रभावादिः। प्रभावादिः च असौ विभावः च। तस्माद् भवतीति प्रभावादिविभावभूः। स्थैर्यम् आद्यं आदि येषां तैः स्थैर्याद्यैः। अनुभावैः (च)। गर्वः आदौ आरम्भे येषां तैः गर्वादिभिः भावैः व्यभिचारिभिः (च) इत्यर्थः। युतः युक्तः। (रसः) वीरः (भवति) ॥९॥

जिसके स्थायी भाव का नाम उत्साह है, जो प्रभाव आदि (उद्दीपन) विभावो से उत्पन्न होता है तथा जो स्थैर्य आदि अनुभावों और गर्व आदि (व्यभिचारी) भावों से युक्त होता है, वह (रस) वीर (कहलाता) है ॥९॥

[इसमें नायकादि आलम्बन विभाव, प्रभाव आदि उद्दीपन विभाव, स्थैर्य आदि अनुभाव, गर्व आदि व्यभिचारी भाव और उत्साह स्थायी भाव होता है।

इसके प्रभाव के अतिरिक्त प्रताप, विनय, अध्यवसाय, सत्त्व, मोह, विषाद, नय, विस्मय, विक्रम आदि विभाव हैं, स्थैर्य के अतिरिक्त करुणा, युद्ध करना आदि

अनुभाव तथा गर्व के अतिरिक्त धृति, हर्ष, अमर्ष, स्मृति, मति, वितर्क आदि व्यभिचारी भाव है।

प्राय.इसके तीन भेद माने जाते है (सत्य, क्षमा, पाण्डित्य धर्म, सेना, विनय आदि गुणो के आधार पर .सके असंख्य भेद माने जा सकते हैं।):—

(१) युद्ध-वीर, (२) दान-वीर तथा (३) दया-वीर।

इनके उदाहरण क्रमशः (वीर-चरित के) राम आदि, परशुराम (,बलि) आदि तथा (नागानन्द के) जीमूत-वाहन आदि है। युद्ध-वीर के अनुभाव क्रोध-सूचक होते ही रौद्र रस हो जाता है। यही दोनो रसो मे अन्तर है।

उदाहरण निम्नाकित है.—

युद्ध-वीर का उदाहरणः—

संग्रामाङ्गणमागते दशमुखे सौमित्रिणा विस्मितं
सुग्रीवेण विचिन्तित हनुमता व्यालोलमालोकितम्।
श्रीरामेण परन्तु पीनपुलकस्फूर्जत्कपोलश्रिया
सान्द्रानन्दरसालसा निदधिरे बाणासने दृष्टयः॥

(रावण के रण-प्रागण में आने पर लक्ष्मण अचरज मे पड़ गये, सुग्रीव सोच मे पड गये और हनुमान् अत्यन्त चञ्चलता से देखने लगे। किन्तु, श्री राम ने प्रचुर रोमाञ्च से फूट पड़ी कपोल-कान्ति के कारण प्रबल आनन्द-रस से मन्थर दृष्टियाँ धनुष पर निहित की।)

दान-वीर का उदाहरणः—

मीयतां कथमभीप्सितमेषा दीयता द्रुतमयाचितमेव।
तं धिगस्तु कलयन्नपि वाञ्छामर्थिवागवसरं सहते यः॥

(इनकी इच्छाओं को कैसे जान लिया जाय और बिना माँगे ही शीघ्र कैसे इन्हे दान दे दिया जाय। उसे तो धिक्कार है जो इच्छा जानता हुआ भी याचक के बोलने के अवसर को सह लेता है।)

दया-वीर का उदाहरणः—

शिरामुखैः स्यन्दत एव रक्तमद्यापि देहे मम मांसमस्ति।
तृप्तिं न पश्यामि तवापि तावत् किं भक्षणात्त्वं विरतो गरुत्मन्॥

(ओ गरुड़, मेरी शिराओ के मुख से अभी रक्त बह ही रहा है, शरीर मे मांस है और तुम्हारी तृप्ति भी तो नही देख रहा हूं, फिर तुम भक्षण से विरत क्यों हो गये हो ?) ॥६॥]

व्याघ्रादिभिर्विभावैस्तु वेपिताद्यनुभावभृत् ।
भावैर्मोहादिभिर्युक्तो भयस्थायी भयानकः ॥

व्याघ्रादिभिरिति । व्याघ्रः आदौ आरम्भे येषा तैः व्याघ्रादिभिः (आलम्बन-) विभावैः (च) । मोह आदौ येषा तैः मोहादिभिः । भावैः व्यभिचारिभिः (च) इत्यर्थः । युक्तः युतः । वेपितम् आदौ येषां ते वेपितादयः वेपितादयः च ते अनुभावाः च वेपिताद्यनुभावाः । तान् बिभर्त्ति इति वेपिताद्यनुभावभृत् । भयं स्थायी (भावः) यस्य सः भयस्थायी । तु । (रसः) भयानकः (नाम भवति) ॥१०॥

बाघ आदिक (आलम्बन) विभावों और मोह आदिक (व्यभिचारी) भावों से युक्त, वेपित (कँपकँपी) आदिक अनुभाव-धारण करने वाला, भय-स्थायी (भाव) वाला (रस,) भयानक (कहलाता) है ॥१०॥

[इसका आलम्बन विभाव नायक आदि, उद्दीपन विभाव बाघ आदि, अनुभाव कम्पन आदि, व्यभिचारी भाव मोह आदि और स्थायी भाव भय होता है ।

उद्दीपन विभाव में रौद्र वस्तु देखना और रौद्र शब्द सुनना आदि, अनुभाव मे सर्वाङ्ग में कम्पन, स्वेद, शोथ, वेचित्त्य (मूर्छा) आदि तथा व्यभिचारी भावों मे दैन्य, संभ्रम, संमोह, त्रास आदि का समावेश होता है ।

भयानक का उदाहरण—

ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टिः
पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद्भूयसा पूर्वकायम् ।
दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति ॥

[देखो; (वह हिरन) गरदन मोड़कर सुन्दरता से रह-रहकर रथ पर टकटकी बाँधकर फिर भागता है, बाण पड़ने के डर से उसका पीछे का आधा भाग

आगे के भाग में घुस गया है, उसने थकावट से खुले मुख से गिर रहे, आधे चबाये कुशों से मार्ग को व्याप्त कर दिया है तथा उत्कट प्लुति (कूद) के कारण आकाश में अधिक और पृथ्वी पर कम चल रहा है ।) ॥१०॥]

स्थायी जुगुप्सा बीभत्सो विभावाद्यैर्यथाक्रमम् ।
अनिष्टेक्षणनिष्ठीवमोहाद्याः संमता क्रमात् ॥११॥

स्थायीति । यथाक्रमम् (क्रमम् अनतिक्रम्य) क्रमेण । **विभावाद्यैः** विभावानुभावव्यभिचारिभिः (भावैः सह अत्र) । **संमताः** कथिताः । न **इष्टम्** ईप्सितम् **अनिष्टम्** वस्तु तस्य **ईक्षणं** दर्शनं च **निष्ठीवः** वान्तिः च **मोहः** मूर्छा च **अनिष्टेक्षणनिष्ठीवमोहाः** । ते **आद्याः** यत्र ते **अनिष्टेक्षणनिष्ठीवमोहाद्याः** (च) । **जुगुप्सा** (नाम) **स्थायी** (भावः च) **बीभत्सः** (नाम रसः भवति) ॥११॥

क्रमश विभाव आदि (,अनुभाव और व्यभिचारी) से युक्त, अनिष्ट-दर्शन, वमन, मूर्छा आदि तथा जुगुप्सा-नामक स्थायी (भाव), बीभत्स (-नामक रस) है ॥११॥

[मूल की भाषा बहुत अटपटी है । पदों का अन्वय नहीं हो सकता; केवल शब्द इस तरह धर दिये गये है कि पहले से जानने वाला उनसे किसी तरह मनोऽनुकूल बात समझ ले । आशय यह है कि जिसमे अनिष्ट का दर्शनादि (आलम्बन) विभाव, वमनादि अनुभाव, मोहादि व्यभिचारी भाव और जुगुप्सा स्थायी भाव होता है, वह रस बीभत्स है ।

इसका आलम्बन विभाव नायकादि, उद्दीपन-विभाव कृमि, सड़ाँध, दुर्गन्ध आदि, अनुभाव उद्वेग, क्षोभ, वैराग्य, घृणा, नाक और मुँह सिकोड़ना आदि तथा व्यभिचारी भाव आवेग, पीड़ा और शङ्का आदि है ।

उदाहरण निम्न-लिखित है: —

उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिं प्रथममथ पृथूत्सेधभूयांसि मांसा-
न्यंसस्फिक्पृष्ठपिण्ड्याद्यवयवसुलभान्युग्रपूतीनि जग्ध्वा ।

आर्त्तः पर्यस्तनेत्रः प्रकटितदशनः प्रेतरङ्कः करङ्का-
दङ्कस्थादस्थिसंस्थं स्थपुटगतमपि क्रव्यमव्यग्रमत्ति ॥

[(एक) दरिद्र प्रेत, जो (भूख से) पीडित, चारों ओर घूम रहे नेत्रों वाला तथा दाँत निकाले हुये है, पहले खाल काट-काटकर और फिर अधिक फूले होने के कारण प्रचुर, कंधे, नितम्ब, जाँघ के ऊपरी भाग आदि अङ्गों में सुलभ, तेज दुर्गंध वाले मांस खाकर (अपनी) गोद में मुर्दे के शरीर की हड्डियों से सम्बद्ध तथा नीचे ऊँचे भाग में स्थित कच्चा मांस भी धीरे-धीरे खा रहा है ॥११॥]

अद्भुतो विस्मयस्थायी मायादिकविभावभूः ।
रोमाञ्चाद्यनुभावोऽयं स्तम्भादिव्यभिचारिकः ॥१२॥

अद्भुत इति । विस्मयः स्थायी (भावः] यत्र सः । माया आदौ आरम्भे येषां ते मायादयः । ते एव मायादिकाः । मायादिकाः च ते (उद्दीपन-) विभावाः च मायादिकविभावाः । तेभ्यः भवतीति मायादिकविभावभूः । रोमाञ्चः पुलकः आदौ आरम्भे येषां ते रोमाञ्चादयः । ते अनुभावाः यत्र सः रोमाञ्चाद्यनुभावः । स्तम्भः आदौ आरम्भे येषां ते स्तम्भादयः । तेऽव्यभिचारिणः यत्र स्तम्भादिव्यभिचारी । स एव स्तम्भादिव्यभिचारिकः । अयं प्रस्तुतः । (रसः) अद्भुतः (नाम भवति) ॥१२॥

जिसमें विस्मय स्थायी (भाव) होता है, जो माया आदि (आलंबन-) विभावों से उत्पन्न होता है तथा जिसमें रोमाञ्च अनुभाव और स्तम्भ (जड़ता) आदि व्यभिचारी (भाव) होते हैं, वह प्रस्तुत (रस,) अद्भुत (कहलाता) है ॥१२॥

[इसमें आलम्बन विभाव नायक आदि, उद्दीपन विभाव अलौकिक पदार्थ, अनुभाव साधु-वाद, अश्रु, कम्पन, स्वेद, गद्गद (लड़खड़ाती) वाणी आदि तथा व्यभिचारी भाव हर्ष, आवेग, धृति आदि होते हैं ।

इसका उदाहरण निम्न-लिखित है:—

चित्रं महानेष बतावतारः क्व कान्तिरेषाभिनवैव भङ्गिः ।
लोकोत्तरं धैर्यमहो प्रभावः काप्याकृतिर्नूतन एष सर्गः ॥

(यह महान् पुरुष विचित्र है। यह अवतार आश्चर्य-जनक है। यह कान्ति कहाँ मिल सकती है! यह भङ्गिमा नई है। धैर्य अलौकिक है! प्रभाव का क्या कहना! यह आकृति अनिर्वचनीय है। यह सृष्टि नई है।) ॥१२॥]

निर्वेदस्थायिकः शान्तः सत्संगादिविभावभूः।
क्षमादिकानुभावोऽयं स्तम्भादिव्यभिचारिकः ॥१३॥

निर्वेदेति। निर्वेद. (वैराग्य) स्थायी (भावः) यत्र सः निर्वेदस्थायी। सः एव निर्वेदस्थायिकः। सत्सङ्गः आदौ आरम्भे येषा ते सत्सङ्गादयः। ते च ते विभावाः च सत्सङ्गादिविभावाः। तेभ्यः भवतीति सत्सङ्गादि-विभावभूः। क्षमा आदौ आरम्भे येषा ते क्षमादयः। ते एव क्षमादिका। ते अनुभावाः यस्मिन् सः क्षमादिकानुभावः। स्तम्भः (जडता) आदौ येषां ते स्तम्भादयः। ते व्यभिचारिणः यत्र स्तम्भादिव्यभिचारी। सः एव स्तम्भादिव्यभिचारिकः। अयं प्रस्तुत. (रसः) शान्तः (नाम भवति) ॥१३॥

जिसका स्थायी भाव निर्वेद (वैराग्य) होता है, जो सत्सङ्ग आदि विभावों से उत्पन्न होता है तथा जिसके अनुभाव क्षमा आदिक और व्यभिचारो भाव स्तम्भ आदि होते है, वह प्रस्तुत (रस,) शान्त (कहलाता) है ॥१३॥

[साहित्य-दर्पण मे इस रस का स्थायी भाव शम कहा गया है। उसका परिभाषा है:—

शमो निरीहावस्थाया स्वात्मविश्रामज सुखम्।

(इच्छा-रहित दशा मे अपने मन की विश्रान्ति से उत्पन्न सुख, शम है।)

महाभारत मे इस रस का परिपाक सुन्दर हुआ है। प्रवृत्ति-मार्ग वालो के लिये शृंगार और निवृत्ति मार्ग वालो के लिये शान्त रस है। संसार मे ये ही दो मार्ग मुख्य है, अतः इन दो रसो को प्रधानता दी जा सकती है; अन्य रस इनके सहायक हैं।

शान्त रस को प्रायः अलग से दिखाया जाता है। नाटक मे इसकी स्थिति संभव नहीं है, यह भी माना जाता है। इस रस की महत्ता स्वीकार करते हुये पण्डित-राज जगन्नाथ ने इस बात का खण्डन किया है कि नाटक मे आठ रस ही

होते है। उनके अनुसार नाटक मे भी नौ रस होते है, आठ रस मानने वाले नट मे रस मानते है और नट सुख-दुःख से परे नही हो सकता क्योकि उसे क्रियायें करनी होती हैं। रस प्रेक्षक मे होने से अनुकूल स्थिति के होते ही उसका स्थायी भाव निर्वेद, रस मे बदल जायेगा। उन्होने संगीत-रत्नाकर का निम्न-लिखित श्लोक उद्धृत किया है:—

अष्टावेव रसा नाट्येष्विति केचिदचूचुदन्।
तदचारु यतः कञ्चिन्न रसं स्वदते नटः॥

(कुछ लोगों ने कहा है कि नाटको मे आठ रस ही होते है। यह बात असमीचीन है क्योकि किसी रस का आस्वादन नट नही करता।)

शान्त के लिये "शम" शब्द का भी प्रयोग किया जाता है। ध्वन्यालोक ने शान्त को रस न मानते हुये इसे निर्वाच्य (अवर्णनोय) बताते हुये मुदिता को इसका स्वरूप बताया है। नाटक में शान्त को रस न मानने का कारण धनिक ने उक्त की टीका मे बहुत अच्छे ढग से दिया है। वे शान्त रस का निम्न-लिखित लक्षण उद्धृत करते हुये खण्डन करते हैं.—

"न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा।
रसस्तु शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु शमप्रधानः॥

(जहाँ न दुःख है, न सुख, न चिन्ता है और न कोई इच्छा तथा न द्वेष है और न राग, वह "शान्त" रस है, ऐसा श्रेष्ठ मुनियों ने कहा है। इसके सभी भावो मे शान्ति की प्रधानता है।)

ऐसी परिभाषा होने और इसके स्वरूप की प्राप्ति मोक्षावस्था में होने के कारण यह अनिर्वचनीय है।

सूक्ष्म वस्तुयें भी शब्द-प्रतिपाद्य होती हैं, अतः शान्त रस काव्य का विषय हो सकता है।"

इसका उदाहरण मिम्न-लिखित है:—

अहौ वा हारे वा बलवति रिपौ वा सुहृदि वा
मणौ वा लोष्ठे वा कुसुमशयने वा दृषदि वा।

तृणे वा स्त्रैणे वा मम समदृशो यान्ति दिवसाः
क्वचित्पुण्यारण्ये शिवशिवशिवेति प्रलपतः ॥

(सर्प या माला, बलवान् शत्रु या मित्र, मणि या ढेले, फूलों की सेज या शिला तथा तिनके या स्त्री-सम्बन्धी वस्तु में समान दृष्टि रखने वाले तथा किसी पुण्य-वन में "शिव शिव शिव" की रट लगाते हुये मेरे दिन बीत रहे है।) ॥१३॥]

रतिर्देवादिविषया सन्ति च व्यभिचारिणः ।
वेद्यमाना निगद्यन्ते भावाः साहित्यवेदिभिः ॥१४॥

रतिरिति। देवः सुरः आदौ आरम्भे यस्य सः देवादिः। देवादिः विषयः यस्याः सा। आदिपदेन नृपमुनिगुरुसुतादीनां ग्रहणम् इष्यते। रतिः अनुरागः। वेद्यमानाः व्यज्यमानाः। व्यभिचारिणः भावाः इत्यर्थः। साहित्यवेदिभिः साहित्यमर्मज्ञैः। भावाः एतन्नाम्ना। निगद्यन्ते कथ्यन्ते ॥१४॥

देवता-आदि-विषयक अनुराग और व्यञ्जना से प्रकटित व्यभिचारियों (भावों) को साहित्य-मर्मज्ञ भाव कहते हैं ॥१४॥

[परस्पर-अविरोधी रसों को साथ रखा जा सकता है; परस्पर विरोधी रसों को नहीं, रचना गुणों के अनुकूल होनी चाहिये, रस-दोष १४ हैं जिनसे बचना चाहिये आदि बातें यहाँ नहीं दी गई हैं। इन्हे काव्य-प्रकाश आदि आलोचना-ग्रन्थों में देखा जा सकता है।

देवता, राजा, ऋषि, गुरु और पुत्र के विषय में अनुराग, भक्ति या वात्सल्य, "भाव" कहलाता है। स्थायी भाव जब रस की कोटि तक नहीं पहुँच पाता; तब उसे भाव कहते हैं। सामान्यतः भाव और रस दोनो साथ-साथ रहते है ॥१४॥]

निर्वेदग्लानिशङ्काख्यास्तथासूयामदश्रमाः
आलस्यं चैव दैन्यं च चिन्तामोहः स्मृतिर्धृतिः ॥१५॥
व्रीडा चपलता हर्ष आवेगो जडता तथा।
गर्वो विषाद औत्सुक्यं निद्रापस्मार एव च ॥१६॥

सुप्तं प्रबोधोऽमर्षश्चाप्यवहित्थमथोग्रता ।
मतिर्व्याधिस्तथोन्मादस्तथा मरणमेव च ॥१७॥
त्रासश्चैव वितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिणः ।
त्रयस्त्रिंशदिमे भावाः समाख्यातास्तु नामतः ॥१८॥

निर्वेदेति । निर्वेदः च ग्लानिः च शङ्का च निर्वेदग्लानिशङ्काः । ताः आख्याः नामानि येषां ते निर्वेदग्लानिशङ्काख्याः । तथा । एवम् । असूया च मदः च श्रमः च असूयामदश्रमाः । आलस्यम् । च । एव । दैन्यं । चिन्ता । मोहः । स्मृतिः । धृतिः । चपलता । हर्षः । आवेगः । च । तथा एवम् । जडता । गर्वः । विषादः । औत्सुक्यम् । निद्रा । अपस्मारः । च । एव । सुप्तम् । प्रबोधः ।अमर्षः । च । अपि । अवहित्थम् । अथ च । उग्रता । मतिः । व्याधिः । तथा एवम् । उन्मादः । तथा एवम् । च । एव । मरणम् । त्रासः । च । एव । वितर्कः । च । इमे नामत. नाम्ना समाख्याताः कथिताः । त्रयस्त्रिंशत् एतत्संख्याकाः । तु । व्यभिचारिणः । भावाः । विज्ञेयाः ज्ञातव्याः ॥१५॥१६॥१७॥१८॥

जिनके नाम (१) निर्वेद, (२) ग्लानि, (३) शङ्का, (४) असूया, (५) मद, (६) श्रम, (७) आलस्य, (८) दैन्य, (९) चिन्ता, (१०) मोह, (११) स्मृति, (१२) धृति, (१३) व्रीडा, (१४) चपलता, (१५) हर्ष, (१६) आवेग, (१७) जडता, (१८) गर्व, (१९) विषाद, (२०) औत्सुक्य, (२१) निद्रा, (२२) अपस्मार, (२३) सुप्त, (२४) प्रबोध, (२५) अमर्ष, (२६) अवहित्थ, (२७) उग्रता, (२८) मति, (२९) व्याधि, (३०) उन्माद, (३१) मरण, (३२) त्रास तथा (३३) वितर्क हैं; वे ये नाम के साथ बताये गये तैंतीस व्यभिचारी भाव जानने चाहिये ॥१५॥१६॥१७॥१८॥

ऊपर बताये गये ३३ व्यभिचारी भावों को नीचे संक्षेप में समझाया जा रहा है:—

(१) निर्वेद—वास्तविकता का ज्ञान हो जाने पर जो अपने प्रति तिरस्कार उत्पन्न होता है, वह निर्वेद है । (२) ग्लानि—वह निर्जीवता है जो

आयास के कारण हुई शक्ति-हीनता से हुये कम्पन, कृशता आदि से उत्पन्न होती है। (३) शङ्का—दूसरे की दुष्टता या अपनी गलती से अनिष्ट की संभावना, शङ्का होती है। (४) असूया —दूसरे के गुणो को दोष-रूप मे देखना या घमंड, क्रोध अथवा दुष्टता के कारण दूसरे की उन्नति न सह सकना असूया है। (५) मद—हर्ष और मूर्छा की वह सम्मिलित अनुभूति है जो शराब आदि से पैदा होती है। (६) श्रम—शक्ति से अधिक कार्य करने से उत्पन्न थकावट, श्रम होती है। (७) आलस्य—घमण्ड, थकावट आदि के कारण उत्पन्न प्रयत्न-हीनता, आलस्य कहलाती है। (८) दैन्य —अपने को असहाय अनुभव करना दैन्य है। (९) चिन्ता—वह ध्यान है जो काम्य वस्तु न मिलने से उसी की ओर लगा रहता है। (१०) मोह—डर आदि से उत्पन्न अज्ञान, मोह कहलाता है। (११) स्मृति—संस्कार-जन्य ज्ञान, स्मृति है। (१२) धृति—ज्ञान से उत्पन्न निरपेक्षता धृति होती है। (१३) व्रीड़ा—मन का लोकापवाद आदि डर से सङ्कुचित होना व्रीड़ा है। (१४) चपलता—चित्त की अस्थिरता चपलता है। (१५) हर्ष—अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति से होने वाला विशेष सुख, हर्ष होता है। (१६) आवेग—महान् अनर्थ से दिल का घबड़ा जाना आवेग है। (१७) जड़ता—क्या करना चाहिये और क्या नहीं, यह निर्णय न कर पाना जड़ता है। (१८) गर्व—शक्ति, रूप, गुण आदि से अपने को बड़ा समझना गर्व है। (१९) विषाद—ठीक उपाय न करने से मिली असफलता से उत्पन्न संताप विषाद है। (२०) औत्सुक्य—अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति में हो रहा विलम्ब न सह पाना औत्सुक्य है। (२१) निद्रा—थकावट आदि से आँखें बन्द हो जाना निद्रा है। (२२) अपस्मार—मन के द्वारा विषयों का ठीक-ठीक ग्रहण न होना अपस्मार है। (२३) सुप्त—नींद में पड़े हुये को विषय का ज्ञान होना सुप्त (सपना) होता है (२४) प्रबोध—नींद टूट जाने पर चैतन्य की प्राप्ति प्रबोध है। (२५) अमर्ष—अपमान आदि के प्रतिकार के लिये मन का उबलना अमर्ष है। (२६) अवहित्थ—हृदय के भावों को चेहरे पर प्रगट न होने देना अवहित्थ है। (२७) उग्रता—अपमान आदि के कारण उत्पन्न हुआ अत्यधिक क्रोध उग्रता है। (२८) मति—शास्त्र-ज्ञान से किसी बात का निश्चय कर लेना

मति है। (२६) व्याधि—वात, पित्त आदि के कोप से अस्वस्थता, व्याधि है। (३०) उन्माद—शोक, भय आदि से इन्द्रियों का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त न कर पाना उन्माद है। (३१) मरण—देह का मन से अलग हो जाना मरण है। (३२) त्रास—बिजली गिरने आदि भयंकर उत्पात से मन का सन्न रह जाना त्रास है। (३३) वितर्क—ठीक और गलत—दोनो प्रकार के—ज्ञानों के एक साथ होने से उत्पन्न संकल्प-विकल्प, वितर्क है।

ये व्यभिचारी भाव शरीर और मन को व्याप्त कर स्थायी भाव को परिपुष्ट करते है। रस के लिये क्षेत्र तैयार करने मे इनका सर्व-प्रमुख हाथ है। इनके पश्चात् ही रस उत्पन्न होते हैं, अतः रस के ये सर्वाधिक निकट और उनके अविभाज्य अंग माने जाते है। जब ये प्रधान रूप से व्यक्त किये जाते हैं और रस की कोटि तक नहीं पहुँच पाते, तब इन्हे भाव-ध्वनि कहते है।

मरण को व्यभिचारी भाव मानने पर अमंगल अश्लील होने का डर रहता है, अतः मरण की चर्चा-मात्र की जाती है ॥ १५॥१६॥१७॥१८॥]

सर्वसाधारणप्रेमप्रश्रयादिस्वरूपया ।
अनौचित्या रसाभासा भावाभासाश्च कीर्तिता; ॥ १६ ॥

सर्वेति। सर्वेषां सकलानां साधारणौ सर्वसाधारणौ। प्रेमा च प्रश्रयः नम्रता (भक्तिः वा) च प्रेमप्रश्रयौ। तौ आदौ येषाम्। ते स्वरूपाणि यस्याः तया। अनौचित्या अनौचित्येन। रसाभासाः भावाभासाः। च। कीर्त्तिताः कथिताः ॥ १६ ॥

ऐरे-गैरे से प्रेम तथा नम्रता (भक्ति) आदि स्वरूपों वाले अनौचित्यों से रसाभास और भावाभास कहे गये हैं ॥ १६ ॥]

[नायिका का एक के प्रति अनुराग और भक्त का आराध्य देव के प्रति भक्ति उचित है; यही अनुराग और भक्ति जब अपात्र के प्रति हो जाती है तब रस या भाव न रहकर क्रमशः रसाभास या भावाभास हो जाती है और रस या भाव की उत्तम कोटि तक नहीं पहुँच पाती ॥ १६ ॥]

भावस्य शान्तिरुदयः सन्धिः शबलता तथा।
काव्यस्य काञ्चनस्येव कुङ्कुमं कान्तिसम्पदे ॥ २० ॥

भावस्येति। भावस्य शान्तिः भावशान्तिः नाम। भावस्य सन्धिः भाव-सन्धिः नाम। तथा एवम्। भावस्य शबलता भावशबलता नाम। (एतच्चतुष्टयम्) काञ्चनस्य स्वर्णस्य। कुङ्कुमं केसरम्। इव। काव्यस्य कवितायाः। कान्तिः शोभा एव सम्पत् सम्पत्तिः तस्यै कान्तिसम्पदे ॥२०॥

भाव-शान्ति, भावोदय, भाव-सन्धि तथा भाव-शबलता काव्य की कान्ति-रूपी सम्पत्ति है जिस प्रकार केसर सोने की कान्ति-रूपी सम्पत्ति है ॥ २० ॥

[पहले (५।११८) भावोदय (अलङ्कार) आदि के प्रसंग मे भाव-शान्ति आदि का वर्णन हो चुका है। रस से इनके सम्बद्ध होने के कारण यहाँ इनकी चर्चा पुनः की गई है। उदाहरण आदि वहीं टीका मे देखने चाहिये ॥२०॥]

आतुर्यमासप्तमं च यथेष्टैरष्टमादिभिः।
समासः स्यात्पदैर्न स्यात्समासः सर्वथापि च ॥२१॥
पाञ्चालिकी च लाटीया गौडीया च यथारसम्।
वैदर्भी च यथासङ्ख्यं चतस्रो रीतयः स्मृताः ॥ २२ ॥

आतुर्यमिति। (यदा च) आतुर्यम् आचतुर्थं (द्वित्रिचतुःपदपर्यन्तं) (यथा स्यात् तथा)। पाञ्चालिकी (रीतिः) स्यात् भवेत्। (तदा) च। आसप्तमं (पञ्चषट्सप्तपदपर्यन्तं) (यथा स्यात् तथा)। (पदैः) समासः स्यात् भवेत् (तदा)। लाटीया (रीतिः)। स्यात् भवेत्। (यदा) च। अष्टमम् आदौ आरम्भे यस्य तैः अष्टमादिभिः। यथेष्टैः बहुभिः। पदैः। समासः। स्यात् भवेत् (तदा) गौडीया (रीतिः) स्यात् भवेत्। (यदा) च। सर्वथा सर्वेण प्रकारेण। च। अपि। समासः। न। स्यात् भवेत् (तदा)। वैदर्भी (रीतिः)। स्यात् भवेत्। (एवम्) चतस्रः एतत्सङ्ख्याकाः रीतयः काव्यलक्षणभूताः। रसम् अनतिक्रम्य यथारसम्। यथासङ्ख्यम् क्रमशः। स्मृताः कथिताः ॥ २१ ॥२२ ॥

जब चतुर्थ पद तक समास हो तब पाञ्चालिका, सप्तम पद तक (समास) हो तब लाटीया, अष्टम तथा इससे अधिक पद तक (समास) हो तब गौडीया और

(समास) बिलकुल न हो तो वैदर्भी रीति होती है। (ये) चार रीतियाँ क्रमशः रस के अनुसार कही गई हैं ॥ २१ ॥ २२ ॥

[चार पद तक समास का अर्थ है ऐसा समस्त पद जिसमें २, ३ या ४ पद जुटे हों। इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिये। समास से अकसर रचना क्लिष्ट होती जाती है और ओजोगुण भले हो जाय, अर्थ में कठिनाई पड़ने से सामान्यतः वह जन-प्रिय नहीं हो पाती है। इसी कारण वैदर्भी रीति की सर्वाधिक प्रशंसा की जाती है। अन्य रीतियाँ ओज की अधिकता से विशेष आकर्षक होती है।

पाञ्चालिकी, लाटीया और गौडीया के लिये पाञ्चाली लाटी और गौडी शब्द अधिक प्रचलित हैं। पञ्चाल (रुहेलखंड), लाट (गुजरात) तथा गौड (बंगाल) देश मे प्रिय होने के कारण ये रीतियाँ तत्-तत् देश से संबद्ध कर दी गई है। इन रीतियों का आविष्कार उन-उन स्थानों में हुआ हो, ऐसा प्रमाण नहीं मिलता, यद्यपि व्युत्पत्ति से कभी-कभी ऐसा अर्थ निकाला जाता है। इससे केवल इतना अर्थ लगाया जा सकता है कि साहित्य में प्रचलित हर प्रकार की शैली में से एक-एक शैली उन-उन प्रदेशों में अधिक चल गई जिससे उसके साथ उनका नाम जुट गया।

"यथारसम्" शब्द ध्यान देने-योग्य है। ये रीतियाँ रस की अनुगामी हैं। हर रस में हर रीति का प्रयोग करना दोषावह है। शृंगार रस में वैदर्भी और रौद्र तथा वीर रस में गौडी का प्रचलन है। अन्य रसों मे पाञ्चाली और लाटी प्रचलित हैं। कभी-कभी वक्ता के स्वभाव के अनुसार वीर रस में भी वैदर्भी रीति मिलती है। ये नाम देश से सम्बद्ध होने से अन्वर्थ (सार्थक) हैं।

काव्य के लक्षण में गुण के पहले रीति (१।७) की चर्चा की गई है। रीति का महत्त्व इतने से ही विदित हो जाता है। वामन ने काव्य की आत्मा रीति (रीतिरात्मा काव्यस्य) को बताया है, जैसे आनन्द-वर्धन ने काव्य की आत्मा ध्वनि (काव्यस्यात्मा ध्वनिः) को बताया है।

वामन ने वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली रीतियाँ मानी हैं। रुद्रट ने सबसे

पहले लाटी को "रीति" का दर्जा दिया है। भोज-राज ने अवन्ती और मागधी दो अन्य रीतियाँ मानकर भेद-संख्या ४ से बढ़ाकर ६ कर दी है।

मम्मट ने वैदर्भी, गौडी और पञ्चाली रीतियों का पूर्व आचार्यों के प्रति सम्मान के कारण उल्लेख-मात्र कर दिया है और इन्हें उपनागरिका, परुषा और कोमला वृत्ति कहा है। वामन और वे (मम्मट) रीति तथा वृत्ति में कोई अन्तर नहीं मानते। समास के आधार पर रीतियाँ और वर्ण-विन्यास के आधार पर वृत्तियाँ होती हैं जिससे भेद स्पष्ट है। साहित्य-दर्पण में पद-योजना को रीति कहा गया है (पद-सङ्घटना रीतिः) । यहाँ परिभाषा नहीं दी गई है।

पाञ्चालिकी का उदाहरण निम्न-लिखित है :—

मदननृपतियात्राकालविज्ञापनाय स्फुरति जलधिमध्ये ताम्रपात्रीव भानुः।
अयमपि पुरुहूतप्रेयसीमूर्ध्नि पूर्णः कलश इव सुधांशुः साधुरुल्लालसीति ॥

लाटीया का उदाहरण निम्न-लिखित हैं :—

अयमुदयति मुद्राभञ्जनः पद्मिनीना-
मुदयगिरिवनालीबालमन्दारपुष्पम् ।
विरहविधुरकोकद्वन्द्वबन्धुर्विभिन्दन्
कुपितकपिकपोलक्रोडताम्रस्तमांसि ॥

गौडीया का उदाहरण निम्न-लिखित है :—

चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघातसञ्चूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य ।
स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणिरुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः ॥

वैदर्भी का उदाहरण निम्न-लिखित है :—

निविशते यदि शूकशिखा पदे सृजति सा कियतीमिव न व्यथाम् ।
मृदुतनोर्वितनोतु कथं न तामवनिभृत्तु निविश्य हृदि स्थितः ॥

रचना में जिस प्रकार के समास की प्रधानता होगी, वही रीति होगी। वैदर्भी में थोड़े बहुत समास होने से भी कोई हर्ज नहीं है; अल्प समास वाली रचना भी वैदर्भी रीति के अन्तर्गत आती है ॥ २२ ॥]

मधुरायां समाक्रान्ता वर्गस्थाः पञ्चमैर्निजैः ।
लकारश्च लसंयुक्तो ह्रस्वव्यवहितौ रणौ ॥ २३ ॥

मधुरायामिति । निजैः स्वैः । पञ्चमैः वर्णैः ङकारञकारादिभिः इत्यर्थः । **समाक्रान्ताः** संयुक्ताः । वर्गस्थाः पञ्चमेतरे वर्गवर्णाः । च । तेन लकारेण संयुक्तः । लकारः । च । ह्रस्वेन ह्रस्ववर्णेन । व्यवहितौ अन्तरितौ । रः च णः च रणौ रेफणकारौ इत्यर्थः । मधुरायाम् (वृत्त्यां भवन्ति) ॥२३॥

अपने पाँचवें वर्ग (ङ्, ञ्, न् और म्) से संयुक्त वर्ग-व्यञ्जन (क्, ख्, ग्, घ्, आदि प्रत्येक वर्ग के ४-४) (ङ्क, ञ्ज आदि) ल् से संयुक्त ल् (ल्ल), तथा जिनके बीच ह्रस्व वर्ण आया हो वे र् तथा ण्, (रण, रिण, रुण) मधुरा (वृत्ति) में होते हैं ॥ २३ ॥

[काव्य-लक्षण के अंत (१।७) में वृत्ति का होना काव्य के लिये आवश्यक बताया गया है । वर्ण-विन्यास का क्रम, रीति है ।

साहित्य-दर्पण में कहा गया है कि मधुरा में टवर्ग नहीं आना चाहिये । आगे (६।२७) उदाहरण दिया गया है ।

कुछ विद्वानों के अनुसार नाटक की कैशिकी वृत्ति ही काव्य में मधुरा कहलाती है ॥ २३ ॥]

रेफाक्रान्ता वर्ग्ययणाष्टवर्गात्पञ्चमादृते ।
कपाक्रान्तस्तवर्गः स्यात्प्रौढायां च कमूर्धता ॥ २४ ॥

रेफाक्रान्ता इति । टवर्गात् (ऋते) । पञ्चमात् वर्गवर्णात् (ङञनमेभ्यः) इत्यर्थः । ऋते विना । रेफेण आक्रान्ताः संयुक्ताः रेफाक्रान्ताः (कादयः) । भवाः वर्ग्याः । वर्ग्याः कखगादयः च यणौ यकारः णकारः च वर्ग्ययणाः का चपाः च कपाः । तेभ्यः आक्रान्तः संयुक्तः । तवर्गः प्रौढायाम् (वृत्तौ) स्यात् भवेत् । (सा प्रौढा) च । कस्य ककारस्य मूर्धनि उपरि तः तकारः यस्याः सा कमूर्धता (भवति) ॥२४ ॥

टवर्ग और वर्ग के पाँचवें (वर्ण) (ङ्, ञ्, न् तथा म्) के अलावा र् से संयुक्त वर्ग-वर्ण (क्, ख् आदि), य् और ण् तथा क् और प् से संयुक्त तवर्ग (क्त,)प्त प्रौढा (वृत्ति) में होता है । इस प्रौढा मे क् के ऊपर त् (क्त) होता है ॥ २४ ॥

[उदाहरण आगे ६।२७ मे आयेगा। जहाँ-जहाँ एक ही वर्ण दो बार आया है, वहाँ विशेष और लघु क्षेत्र को घेरने वाला वर्ण अपवाद की तरह आयेगा; जैसे पञ्चम वर्ण मे ण् भी आता है, किन्तु "वर्ग्यंयण" में ण् का विशेष रूप से उल्लेख होने के कारण पञ्चम वर्ण से केवल ङ्, ञ्, न् तथा म् ही लेंगे। इसी प्रकार "वर्ग्य" का अर्थ तवर्ग (-टवर्ग)- रहित वर्ण लेगे क्योंकि (टवर्गात् तथा) "तवर्गः" पद का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है ॥ २४ ॥]

सर्वैरूर्ध्वैः सकारस्य सर्वै रेफस्य सर्वथा।
रहोर्द्वेधा तु संयोगः परुषायां शषौ स्वतः ॥ २५ ॥

सर्वैरिति। **सकारस्य।** **ऊर्ध्वैः** पूर्वस्थितैः। **सर्वैः** व्यञ्जनैः इत्यर्थः। **संयोगः।** **रेफस्य** रस्य। **सर्वथा** पूर्वस्थितैः पश्चात् स्थितैः च। **सर्वैः** व्यञ्जनैः इत्यर्थः। **संयोगः।** **रहोः** रेफस्य हकारस्य च। **द्वेधा** द्विप्रकारकः पूर्वं स्थितैः पश्चात् स्थितैः च। **सर्वैः** व्यञ्जनैः इत्यर्थः। **संयोगः।** **स्वतः** स्वतन्त्रौ असंयुक्तौ इत्यर्थः। **तु** एतद्विपरीतम्। **शषौ** शकारः षकारः च। **परुषायां** (वृत्तौ भवन्ति) ॥२५॥

सभी व्यञ्जनों के पहले स् का (संयोग), हर प्रकार से (पहले या पीछे आये) सब (व्यञ्जनों)- से र् का (संयोग) तथा दो प्रकार से (पहले या पीछे आये) सब (व्यञ्जनों) से र् और ह् का संयोग एवं स्वतंत्र (बिना संयोग के) श् और ष्, परुषा (वृत्ति) में होते हैं ॥२५॥

[उदाहरण आगे ६।२८ में आयेगा। "र् का आगे या पीछे संयुक्त होना" कहकर "र् और ह् का संयोग" कहने का आशय यह है कि परुषा वृत्ति में "र्ह" या "ह्र" की स्थिति विशेष रूप से होती है।

साहित्य-दर्पण के अनुसार वर्ग का प्रथम और तृतीय अक्षर द्वितीय और चतुर्थ से युक्त हो, ट्, ठ्, ड् और ढ् की अधिकता हो, समास अधिक हों और पद-योजना औद्धत्य-शाली हो तो भी परुषा वृत्ति होती है ॥२५॥]

लकारोऽन्यैरसंयुक्तो लघवो घमधा रसो।
ललितायां तथा शेपा भद्रायामिति वृत्तयः ॥२६॥

लकार इति। ललितायाम् एतदाख्याया वृत्तौ। लकारः। अन्यैः लकारभिन्नैः। असंयुक्तः न संयुक्तः। घमधाः घः घकारः च मः मकारः च धः धकारः च। रसो रः रेफः च सः सकारः च। लघवः ह्रस्वस्वरानुगताः। (भवन्ति)।

तथा एवम्। भद्रायाम् एतन्नाम्न्यां वृत्त्याम्। शेषाः पकारादयः उक्तवृत्ति-चतुष्टयात् अवशिष्टाः वर्णाः संयुक्ताः असंयुक्ताः वा इत्यर्थः। इति समासाः वृत्तयाः ॥ २६ ॥

ललिता (वृत्ति) में लकार (अपने से) भिन्न व्यञ्जनो से संयुक्त नहीं होता तथा घ्, म्, ध्, र् और स् के बाद ह्रस्व स्वर आता है।

इसी प्रकार, भद्रा (वृत्ति) मे (उक्त चार वृत्तियों के वर्णों से) अवशिष्ट (संयुक्त या असंयुक्त) (पकार आदि) वर्ण होते हैं।

इस प्रकार वृत्ति (की चर्चा) समाप्त हुई ॥२६॥

[उदाहरण ६।२८ में आयेगा।

जहाँ पहले की ४ वृत्तियाँ नहीं हो सकती, वहाँ भद्रा वृत्ति होती है ॥२६॥]

अङ्गभङ्गोल्लसल्लीला तरुणी स्मरतोरणम्।
तर्ककर्कशपूर्णोक्तिप्राप्तोत्कटधियां वृथा ॥२॥

अङ्गेति। अथ मधुरायाः (वृत्तेः उदाहरणम् पूर्वार्धे) प्रौढायाः च (वृत्तेः) उदाहरणम् (उत्तरार्धे)।] तर्केण नव्यन्यायशास्त्रानुशीलनेन कर्कशाः कठोराः पूर्णाः व्याप्ताः च याः उक्तयः वचनानि ताभिः प्राप्ता उत्कटा विकटा धीः मतिः यैः तेषाम् तर्ककर्कशपूर्णोक्तिप्राप्तोत्कटधियाम (नराणां कृते)। अङ्गानाम् अवयवानाम् भङ्गेन भङ्गिम्ना भावहावाद्यङ्गविक्षेपेण उल्लसन्ती शोभमाना लीला विलासः यस्याः सा अङ्गभङ्गोल्लसल्लीला। स्मरस्य कामस्य तोरणं कामतोरणरूपा इत्यर्थः। तरुणी युवतिः। वृथा व्यर्था न सुखाय इति यावत् ॥२७॥

नव्य न्याय-शास्त्र से कठोर तथा व्यापक वचनों से जिन्हें विकट बुद्धि प्राप्त है, उन पुरुषों के लिये अङ्गों की भङ्गिमा से उल्लमित हो रहे बिलासों वाली तथा काम-तोरण-स्वरूप युवती व्यर्थ है (आनन्द-दायक नहीं होती) ॥२७॥

[इस श्लोक के पूर्वार्ध में ट् से (के बाद) ग् दो बार संयुक्त है। यहाँ अपग पञ्चम वर्ण से किसी वर्ग-वर्ण के संयुक्त होने की स्थिति है, दो जगह ल्, ल् से संयुक्त है व "रुणी" और "रुणम्" में र् और ण् के बीच ह्रस्व स्वर (क्रमशः "उ" तथा "अ") आये हैं, अतः यह मधुरा वृत्ति का उदाहरण है।

श्लोक के उत्तरार्ध में दो जगह र् से (के बाद) क् और एक जगह ण् संयुक्त है दो जगह ("क्ति" और "प्तो" में) त् के पूर्व क्रमशः क् और प् संयुक्त हैं तथा एक जगह त् के बाद क् संयुक्त है, अतः यह प्रौढा वृत्ति का उदाहरण है ॥२७॥]

वीप्सोत्सर्पन्मुखाग्राद्रं बर्ही जह्रे कृशस्तृषम्।
ललना रभसं धत्ते घनाटोपे महीयसि ॥२८॥

वीप्सेति। [अथ परुषायाः (वृत्तेः उदाहरणं पूर्वार्धे) ललितायाः (वृत्तेः उदाहरणम् उत्तरार्धे "घना" इति पर्यन्तम्) भद्रायाः च (वृत्तेः) उदाहरणम (अवशिष्टे भागे)।] **महीयसि** महत्तरे। **घनानां** मेघानाम् **आटोपे** विस्तारे **घनाटोपे** (सति)। **कृशः** क्षीणः। **बर्ही** मयूरः। **तृषम्** पिपासाम्। **वीप्सया** बारं बारम् **उत्सर्पत्** उच्चैः चलत् **मुखाग्रं** (**मुखस्य** वदनस्य **अग्रम्** अग्रभागः) **आर्द्रं** क्लिन्नं यस्मिन् कर्मणि तत् यथा स्यात् तथा। **जह्रे** अत्यजत्। **ललना** कामिनी (तु)। **रभसं** मोदम्। **धत्ते** वहति ॥२८॥

मेघ-विस्तार के अत्यधिक होने पर दुर्बल मोर ने प्यास बुझाने में बार-बार अत्यन्त चञ्चल हो रहे मुख के ऊपरी भाग को गीला किया है; उधर कामिनी आनन्द धारण कर रही है ॥२८॥

[पूर्वार्ध में प् और त्, स् से (के बाद आकर) संयुक्त हैं, र्, प् और द् के पहले तथा ग् और द् के बाद आकर संयुक्त है, र् के बाद ह् तथा ह् के

बाद र् क्रमशः एक-एक जगह है तथा श् और ष् का प्रयोग एक-एक जगह है, अतः परुषा-वृत्ति है।

उत्तरार्ध में दो जगह ल् असंयुक्त है तथा र्, स्, ध् और त् के बाद ह्रस्व स्वर ("अ") है, अतः ललिता वृत्ति है।

श्लोक के अन्त मे "टोपे महीयसि" अंश में सभी व्यञ्जन असंयुक्त हैं, अतः भद्रा वृत्ति है ॥ २८ ॥]

महादेवः सत्रप्रमुखमखविद्यैकचतुरः
सुमित्रा तद्भक्तिप्रणिहितमतिर्यस्य पितरौ।
मयूखस्तेनासौ सुकविजयदेवेन रचिते
चिरं चन्द्रालोके महति ऋतुसंख्यः सुखयतु ॥ २९ ॥

इति चन्द्रालोकालङ्कारे पञ्चमो मयूखः।

[टीका १।१६ की तरह है; केवल "महति" (विशाले चन्द्रालोके इत्यर्थः) और "ऋतुसंख्यः" ऋतुः पञ्च संख्या यस्य सः पञ्चमः इत्यर्थः मयूखः) का अर्थ "महान्" (चन्द्रा-लोक) और पाँचवाँ जिसकी संख्या ऋतु अर्थात् पाँच है) (मयूख) यथास्थान बैठा देना है।

पुष्पिका में आये पञ्चम का अर्थ पाँचवाँ है; शेष शब्द प्रथम मयूख की पुष्पिका के ही समान हैं ॥ २९ ॥]

सप्तमो मयूखः

वृत्तिभेदैस्त्रिभिर्युक्ता स्रोतोभिरिव जाह्नवी।
भारती भाति गम्भीरा कुटिला सरला क्वचित् ॥ १ ॥

सप्तमः। मयूखः अध्यायः किरणः वा

वृत्तिभेदैरिति। त्रिभिः एतत्सङ्ख्याकैः गम्भीरैः कुटिलैः सरलैः। स्रोतोभिः प्रवाहैः। युक्ता सहिता। जाह्नवी गङ्गा। इव। त्रिभिः एतत्सङ्ख्याकैः। वृत्तीनाम् भेदैः विशेषैः वृत्तिभेदैः। युक्ता सहिता। भारती वाणी। क्वचित् कुत्रापि। गम्भीरा धीरा। क्वचित् क्वापि। कुटिला वक्रा। क्वचित् (च)। सरला अवक्रा (सती)। भाति शोभते ॥ १ ॥

सातवाँ अध्याय (सातवीं किरण)

जिस प्रकार तीन (गम्भीर, कुटिल और सरल प्रवाहों) से युक्त होकर गङ्गा शोभित होती है, उसी प्रकार वृत्ति के तीन भेदों से युक्त होकर वाणी कहीं गंभीर, कहीं कुटिल और कहीं सरल होती हुई शोभित होती है ॥ १॥

[वाणी के विशेषण के रूप में "गंभीर" "कुटिल" और "सरल" पद आये हैं। इनका अर्थ क्रमशः व्यङ्ग्य अर्थ-बोधक, लक्ष्य अर्थ-बोधक और वाच्य अर्थ-बोधक है।

चौथी वृत्ति तात्पर्य वृत्ति है जो केवल अभिहितान्वय-वादी स्वीकार करते हैं। साहित्य-दर्पण में वृत्ति के लिये शक्ति शब्द आया है। आशाधर भट्ट ने इन वृत्तियों को गङ्गा, यमुना और सरस्वती बताकर वाणी को त्रिवेणी कहा है।

ऊपर मधुरा आदि वृत्तियाँ बताई जा चुकी हैं। उनके अतिरिक्त ये वृत्तियाँ भी काव्य-आलोचना में प्रयुक्त होती हैं।

इन तीन वृत्तियों—अभिधा, मुख्या या शक्ति, लक्षणा, उपचार या भक्ति, और व्यञ्जना, द्योतना, प्रत्यायना या व्यक्ति से तीन प्रकार के अर्थ निकलते हैं। पहली से निकला अर्थ शक्ति-जन्य, शक्य, वाच्य, अभिधेय और मुख्य तथा यह अर्थ देने वाला शब्द शक्ति-जन्यार्थ-बोधक, वाचक, शक्त और अभिधायक कहा जाता है। दूसरी से निकला अर्थ भक्ति-जन्य, लक्ष्य, लाक्षणिक, भाक्त और औपचारिक तथा यह अर्थ देने वाला शब्द भक्ति-जन्यार्थ-बोधक, लक्षक, लाक्षणिक, औपचारिक और भाक्त कहलाता है। तीसरी से निकला अर्थ व्यक्ति-जन्य, व्यङ्ग्य, गम्य, प्रतीत्य और ध्वनित तथा यह अर्थ देने वाला शब्द व्यक्ति-जन्यार्थ-बोधक, व्यंजक, ध्वनन-द्योतक और प्रत्यायक कहा जाता है ॥ १ ॥]

सांमुख्यं विदधानायाः स्फुटमर्थान्तरे गिरः।
कटाक्ष इव लोलाक्ष्या व्यापारो व्यञ्जनात्मकः ॥ २ ॥

साम्मुख्यमिति। अन्यः भिन्नः अर्थः वाच्यः अर्थान्तरम् तस्मिन् अर्थान्तरे। साम्मुख्यं प्रतीतिम् अन्यत्र आनुकूल्यम्। स्फुटं स्पष्टं यथा स्यात् तथा। विदधानायाः कुर्वत्याः गिरः वाण्याः। व्यापारः क्रियाकलापः। लोले चञ्चले अक्षिणी नयने यस्याः तस्याः लोलाक्ष्याः। कटाक्षः अपाङ्ग-दृष्टिः। व्यञ्जना एव आत्मा स्वरूपं यस्य तथा भवति ॥ २ ॥

जिस प्रकार दूसरे (हार्दिक) अर्थ (प्रेम) की अनुकूलता का स्पष्ट रूप से विधान करती हुई चञ्चल नेत्रों वाली सुन्दरी का कटाक्ष गूढ़ अर्थ लिये होता है, उसी प्रकार दूसरे अर्थ की प्रतीति का स्पष्ट रूप से विधान करती हुई वाणी का व्यापार व्यञ्जनात्मक होता है ॥ २ ॥

[अर्थान्तर का अर्थ है दूसरा अर्थ। व्यञ्जना व्यापार द्वारा व्यङ्ग्य अर्थ निकलता है; उससे भिन्न अर्थ अभिधेय और लक्ष्य अर्थ हैं।

इसे समझने के लिये "गङ्गायां घोषः" उदाहरण लिया जा सकता है। अभिधा वृत्ति, "गंगा (के प्रवाह) में अहीरों का गाँव है" अर्थ बताकर समाप्त हो जाती है और लक्षणा वृत्ति, गंगा के प्रवाह में

गाँव की सत्ता असंभव होने के कारण गंगा का अर्थ गंगा-तट देकर शान्त हो जाती है। इसके बाद काव्य-अनुशीलन से विदग्धता अर्जित करने वाले सहृदयों को "गङ्गातटे घोषः" से "गङ्गायां घोषः" मे कुछ विलक्षणता दिखती है जो व्यञ्जना वृत्ति से निकला अर्थ "शीतलता और पावनता-युक्त (तट)" है।

यह शंका उठायी जाती है कि व्यञ्जना वृत्ति न मानकर अभिधा से ही "गङ्गा के पावन और शीतल तट पर गाँव है" अर्थ निकाला जा सकता है। इस (शङ्का) का समाधान यह है कि एक बार उच्चारित किया हुआ शब्द एक (अभिधेय) अर्थ देकर शान्त हो जाता है; उसका व्यापार व्यङ्ग्य अर्थ तक नही पहुँच सकता। "लक्षणा से ही काम चल जायेगा; व्यञ्जना की जरूरत नही है" शङ्का उठना भी उचित नही है क्योंकि लक्षणा भी अपना अर्थ बताकर शान्त हो जाती है; व्यङ्ग्य अर्थ देने के लिये उसका फिर खडा होना संभव नहीं है।

अभिहितान्वय-वादी तात्पर्य-वृत्ति मानते हैं; "व्यञ्जना को न मानकर तात्पर्य-वृत्ति से ही काम क्यों न चला लिया जाय" यह शंका उठायी जा सकती है। इसका समाधान यह है कि तात्पर्य-वृत्ति पदों का अन्वय मात्र बताकर शान्त हो जाती है; उसके आगे व्यङ्ग्य अर्थ देने की क्षमता उसमे नहीं रहती।

शब्द-शक्ति-प्रकाशिका, व्युत्पत्ति-वाद, शक्ति-वाद आदि ग्रंथों में नैयायिक अनुमान में ही ध्वनि (व्यङ्ग्य अर्थ) का अन्तर्भाव करते हैं जिसका खण्डन मम्मट भट्ट ने किया है। भाट्ट मत के अनुयायी मीमांसक अभिधा के दीर्घ-दीर्घतर व्यापार से ही व्यङ्ग्य अर्थ का निर्वाह मानते हैं। "दशरूपक" की टीका करने वाले अभिहितान्वय-वादी धनिक संसर्ग-बोधिका तात्पर्य-नामक वृत्ति से ही व्यङ्ग्य अर्थ का बोध संभव मानते हैं। भट्ट नायक आदि साङ्ख्य शास्त्र के विद्वान् अभिधा के अव्यवहित और व्यवहित भेद करके उसमें व्यञ्जना का अन्तर्भाव करते हैं। इन सबों के मत से व्यञ्जना व्यापार मानना निरर्थक है।

ध्वनि या व्यञ्जना का मूल व्याकरण शास्त्र का "स्फोट" शब्द है जिसे ध्वनि कहते हैं। किसी शब्द मे जितने वर्ण होते हैं, उसके द्वारा अभिव्यक्त शब्द स्फोट होता है और इसको ही ध्वनि कहते है, यह भर्तृहरि आदि वैयाकरणो का मत है। यह ध्वनि शब्द लेकर आनन्द-वर्धन ने ध्वन्यालोक मे ध्वनि की स्थापना की है जिसकी पुष्टि अभिनव गुप्त ने उसकी टीका "लोचन" में की है। काव्य-प्रकाश-कार मम्मट और साहित्य-दर्पण-कार विश्व-नाथ ने भी इसी मत का प्रतिपादन किया है।

व्याकरण मे शब्द का बोध किस प्रकार होता है, यह बताने के लिये भर्तृहरि ने "वाक्य-पदीय" मे स्फोट की व्यंग्यता स्वीकार कर आरंभ किया जिसका विकास भट्टोजि दीक्षित ने शब्द-कौस्तुभ (अष्टाध्यायी की व्याख्या) और कारिकावली, कौण्ड भट्ट ने भूषण तथा नागेश भट्ट ने बृहन्मञ्जूषा, लघु मञ्जूषा और परम लघु मञ्जूषा मे किया। नागेश ने "व्यञ्जना" नाम भी स्वीकार कर लिया और वैयाकरणों के लिये भी इसे स्वीकार करना आवश्यक बताया (लघुमञ्जूषा)।

व्यञ्जना के ३ भेद माने गये हैं :—

(१) अभिधा-मूलक, (२) लक्षणा-मूलक तथा (३) व्यञ्जना-मूलक।

अनेक अर्थ देने वाले शब्द के संयोग, प्रकरण आदि के कारण एक अर्थ में नियमित हो जाने पर जो अन्य अर्थ की प्रतीति कराती है, वह अभिधा-मूलक व्यञ्जना है। इसका उदाहरण निम्न-लिखित है :—

मातर्गृहोपकरणमद्य खलु नास्तीति साधितं त्वया।
तद्भण किं करणीयमेवमेव न वासरः स्थायी॥

(मूल-प्राकृत की संस्कृत-छाया)

यहाँ कहने वाली स्त्री है जिस विशिष्टता से यह स्वैर विहार करने की इच्छुक है, ऐसी प्रतीति व्यञ्जना से होती है जिसका आधार अभिधा है।

लक्षणा-मूलक व्यञ्जना वह है जो लक्षणा का प्रयोजन बताती है। इसके दो भेद हैं :—

(१) गूढ व्यङ्ग्य तथा (२) अगूढ-व्यङ्ग्य।

गूढ़-व्यंग्य का उदाहरण निम्न-लिखित है :—

साधयन्ती सखि सुभगं क्षणे दूनासि मत्कृते।
सद्भावस्नेहकरणीयसदृशकं तावद्विरचितं त्वया॥

(मूल-प्राकृत की संस्कृत-छाया)

नायिका की दूती ने नायक से खुद अपना संबन्ध जोड़ अपकार किया। उसे जानकर भी नायिका उक्त श्लोक में उसका उपकार मानती है जिससे मुख्य अर्थ मे बाधा होने से उसकी प्रतीति नही होती। व्यञ्जना-वृत्ति से विपरीत अर्थ निकलता है कि "तुमने मेरे प्रति अपकार किया।"

अगूढ-व्यंग्य का उदाहरण निम्न-लिखित है :—

श्रीपरिचयाज्जडा अपि भवन्त्यभिज्ञा विदग्धचरितानाम्।
उपदिशति कामिनीनां यौवनमद एव ललितानि॥

इस उदाहरण मे "उपदिशति" से "प्रगट करता है" अर्थ अभिधेय की तरह स्पष्ट निकलने से यह अगूढ़-व्यंग्य का उदाहरण माना जायेगा।

व्यंग्य से व्यंग्य का प्रतीति होने पर व्यञ्जना-मूलक व्यञ्जना होती है। इसका उदाहरण निम्न-लिखित है :—

पश्य निश्चलनिष्पन्दा बिसिनीपत्रे राजते बलाका।
निर्मलमरकतभाजनपरिस्थिता शङ्खशुक्तिरिव॥

(मूल-प्राकृत की संस्कृत-छाया)

उदाहरण में बलाका की निष्पन्दता से व्यङ्ग्य अर्थ यह निकला कि "यह निर्जन स्थान है"। अब इस व्यङ्ग्य से यह व्यञ्जना हुई कि "यह संकेत स्थान है", अतः यह व्यञ्जना-मूलक व्यञ्जना का उदाहरण है॥२॥]

अविवक्षितवाच्यस्य द्वौ भेदौ वाच्यमेव चेत्।
अर्थान्तरे सङ्क्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम्॥३॥

अविवक्षितेति। **वाच्यम्** वाच्यः अर्थः। एव। **चेत्** यदि। **अन्यः अर्थः अर्थान्तरं** तस्मिन् **अर्थान्तरे।** **सङ्क्रमितं** परिणतम्। **अत्यन्तम**

अत्यधिकम् वा । **तिरस्कृतं** परित्यक्तम् । (तदा) न **विवक्षितम्** वक्तुम् इष्टम् **अविवक्षितम्** (लक्षणामूलत्वात् अन्वये अयोग्यं बाधितं वा) च तत् **वाच्यं** च **अविवक्षितवाच्यं** तस्य **अविवक्षितवाच्यस्य** ध्वनेः इत्यर्थः। **द्वौ । भेदौ** (भवतः) ॥३॥

यदि वाच्य (अर्थ) ही दूसरे अर्थ में परिणत हो जाय अथवा वह अत्यन्त तिरस्कृत (वाच्यार्थ से बिलकुल भिन्न) हो जाय तो अविवक्षित-वाच्य (ध्वनि) के दो भेद होते हैं ॥३॥

[यहाँ भेदों के नाम नहीं दिये गये है । श्लोक के आधार पर उनके नाम निम्न-लिखित रखे जाते हैं:—

(१) अर्थान्तर-सङ्क्रमित-वाच्य तथा (२) अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य ।

लक्षणा-मूलक व्यञ्जना की चर्चा इसके पूर्व-वर्त्ती श्लोक मे आ चुकी है । उसका उपपादन करते हुये इस श्लोक में ध्वनि के दो भेद किये गये हैं ।

मम्मट के द्वारा काव्य ३ प्रकार के कहे गये हैं:—

(१) **उत्तम काव्य**—जिसमें वाच्य अर्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्य अर्थ अधिक चमत्कार-जनक होता है, (इस व्यङ्ग्य अर्थ की अधिक चमत्कार-जनकता को ध्वनि कहते हैं; यह ध्वनि जिसमें हो वह उत्तम काव्य होता है ।)

(२) **मध्यम काव्य**—जहाँ वाच्य अर्थ से व्यङ्ग्य अर्थ अधिक चमत्कार-जनक न होने से गुणीभूत हो जाता है तथा

(३) **अधम काव्य**—जहाँ व्यङ्ग्य अर्थ का सर्वथा अभाव होता है ।

ध्वनि उत्तम काव्य का प्राण है; उसके बिना उत्तम काव्य हो ही नहीं सकता ।

ध्वनि के दो भेद हैं:—

(१) **विवक्षित-वाच्य**—जिसमें व्यञ्जना अभिधा-मूलक होती है तथा

(२) **अविवक्षित-वाच्य**—जिसमें व्यञ्जना लक्षणा-मूलक होती है ।

अविवक्षित-वाच्य ध्वनि के दो भेद श्लोक में बताये गये हैं । इनमें से पहला भेद वह है जिसमें वाच्य अर्थ प्रसङ्ग में न बैठकर दूसरा अर्थ देता है । इसका उदाहरण निम्न-लिखित है:—

तदा जायन्ते गुणा यदा ते सहृदयैर्गृह्यन्ते ।
रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि ।।

(मूल-प्राकृत की संस्कृत-छाया)

यहाँ दूसरे "कमलानि" का अर्थ कमल लेने पर पुनरुक्ति होगी अतः वास्तविक कमल अर्थ लेना होगा। कमल का अर्थ विशिष्ट कमल हो जाने के कारण दूसरे अर्थ में परिणति हो गई है, अतः यह अर्थान्तर-सङ्क्रमित-वाच्य है। कमल का अर्थ कमल से सम्बद्ध होने से इसे अत्यन्त तिरस्कृत-वाच्य का उदाहरण नहीं माना जा सकता; जहाँ वाच्य अर्थ छोड़कर शब्द सर्वथा दूसरा अर्थ देता है वहाँ अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य होता है; उसका उदाहरण निम्न-लिखित है :—

रविसङ्क्रान्तसौभाग्यस्तुषारावृतमण्डलः ।
निःश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते ।।

यहाँ आदर्श (दर्पण) को अन्ध कहा गया है। "अन्ध" शब्द मुख (अपने) अर्थ में बाधित होकर दूसरा अर्थ "मलिन" देता है जिससे यहाँ अत्यन्त-तिरस्कृत वाच्य है।

इन दोनो भेदों को क्रमशः अजहल्लक्षणा-मूल और जहल्लक्षणा-मूल भी कहते हैं ।।३।।]

द्वौ विवक्षितवाच्यस्य लक्ष्यालक्ष्यक्रमात्मकौ ।
चत्वारिंशद्युतैकेन भेदाः षट् चानयोः क्रमात् ।।४।।

द्वाविति। विवक्षितवाच्यस्य ध्वनिभेदस्य इत्यर्थः। द्वौ एतत्सङ्ख्याकौ भेदौ इति पूर्वतः अनुवृत्तिः। लक्ष्यः (ज्ञायमानः) च अलक्ष्यः (अज्ञायमानः) च लक्ष्यालक्ष्यौ। लक्ष्यालक्ष्यौ क्रमौ ययोः तौ लक्ष्यालक्ष्यक्रमौ तौ एव आत्मा स्वरूपं ययोः तौ लक्ष्यालक्ष्यक्रमात्मकौ। अनयोः भेदयोः इत्यर्थः। क्रमात् क्रमेण। एकेन भेदेन इत्यर्थः। युता युक्ता। चत्वारिंशत्। षट् च सप्तचत्वारिंशत् इत्यर्थः। भेदाः (भवन्ति)।

विवक्षित-वाच्य के दो भेद हैं जिनका स्वरूप (नाम) लक्ष्य-क्रम और अलक्ष्य-क्रम है। इन दोनो के क्रमशः एक के साथ चालीस और छह (कुल सैंता-लीस) भेद हैं।

[लक्षणा-मूलक ध्वनियों का वर्णन पिछले श्लोक में करने के बाद यहाँ अभिधा-मूलक ध्वनियों का वर्णन किया गया है।

"विवक्षितं वक्तुम् इच्छितं वाच्यम् अर्थः यत्र विवक्षितवाच्यम्" व्युत्पत्ति के अनुसार "जिस ध्वनि में अर्थ वक्ता का इच्छित हो, वह विवक्षित-वाच्य है।

इसे विवक्षितान्य-पर-वाच्य भी कहते हैं। जिस तरह दीपक अपने को प्रकाशित करता हुआ घड़े को भी प्रकाशित करता है, उसी प्रकार इसमें वाच्य अर्थ अपना रूप प्रकाशित करता हुआ व्यङ्ग्य अर्थ को भी प्रकाशित करता है।

लक्ष्य-क्रम का दूसरा नाम संलक्ष्य-क्रम (व्यङ्ग्य) है। इसमें व्यङ्ग्य का क्रम ज्ञायमान होता है।

अलक्ष्य-क्रम दूसरा भेद है। इसका दूसरा नाम असंलक्ष्य-क्रम (व्यङ्ग्य) है। इसमें व्यङ्ग्य का क्रम ज्ञायमान नहीं होता।

मूल में उत्तरार्ध का "अनयोः च चत्वारिंशद्-युतैकेन (सह) षट्" अन्वय करने पर " और इन (दो) भेदों के चालीस से युक्त एक के साथ ६ भेद हैं" अर्थ निकलेगा जो समान है।

आगे (७।१२ में) ध्वनि के ५१ भेद बताये जायेंगे; उनमें से अविवक्षित वाच्य (लक्षणा-मूलक) ध्वनि के ४ भेद हटा देने से ४७ भेद हो जायेंगे। लक्ष्य-क्रम व्यङ्ग्य के ४१ भेद होते हैं :—

शब्द-शक्ति से उत्पन्न २ भेद हैं जिनमें से पहले में व्यङ्ग्य वस्तु और दूसरे में व्यङ्ग्य अलङ्कार होता है।

अर्थ-शक्ति से उत्पन्न १२ भेद हैं; कुल मिलाकर १४ भेद हैं। इनमें से प्रत्येक पद-गत और वाक्य-गत हो सकता है जिससे २८ भेद होंगे। अर्थ-शक्ति के उक्त १२ भेद प्रबन्ध-गत भी हो सकते हैं जिससे ४० भेद होंगे। शब्द और अर्थ दोनों (उभय) की शक्ति से १ भेद होगा।

अलक्ष्य-क्रम व्यंग्य के निम्न-लिखित ७ भेद होते हैं :—

अलक्ष्य-क्रम व्यंग्य पद, पदांश, वर्ण, रचना, वाक्य और प्रबन्ध में हो सकता है; इस प्रकार प्रत्येक स्थिति में १-१ भेद होने से ६ भेद होंगे।

दोनो को जोड़ने से (४१+६=) ४७ भेद हो जायेंगे। आगे इनकी चर्चा विस्तार से आयेगी ॥ ४ ॥]

त्रिधा शब्दार्थतद्युग्मशक्तिजन्मा स्फुटक्रमात्।
रसभावतदाभासप्रमुखस्त्वस्फुटक्रमात् ॥ ५ ॥

त्रिधेति। स्फुटः लक्ष्यः क्रमः यस्य सः **स्फुटक्रमः** तस्मात् **स्फुटक्रमात्** लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यात्। **त्रिधा** त्रिप्रकारकः। ध्वनिः उद्भवति इत्यर्थः। **शब्दः** च **अर्थः** च तयोः युग्मं युगलं च **शब्दार्थतद्युग्मानि**। तेषां **शक्तेः जन्म** उत्पत्तिः यस्य सः (ध्वनिः)। एवं शब्दशक्तिजन्मा अर्थशक्तिजन्मा शब्दार्थोभयशक्तिजन्मा च (ध्वनिः) इति अर्थः।

अस्फुटः अलक्ष्यः **क्रमः** यस्य सः **अस्फुटक्रमः** तस्मात् **अस्फुटक्रमात्** अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यात्। तु। **रसः** च **भावः** च **तदाभासः** (रसाभासः च भावाभासः) च **रसभावतदाभासाः**। ते **प्रमुखाः** मुख्याः यत्र सः **रसभावतदाभासप्रमुखः** ध्वनिः इत्यर्थः। प्रमुखपदेन भावशान्तेः ग्रहणम् ॥ ५ ॥

लक्ष्य-क्रम (व्यंग्य) से (ध्वनि के) तीन भेद होते है; (१) शब्द-शक्ति-जन्मा, (२) अर्थ-शक्ति-जन्मा और (३) शब्दार्थोभय-शक्ति-जन्मा।

अलक्ष्य-क्रम (व्यङ्ग्य) से उत्पन्न ध्वनि मे रस, भाव, तदाभास (रसाभास और भावाभास) आदि (भाव-शान्ति) होते हैं ॥ ५ ॥

[इस श्लोक में लक्ष्य-क्रम व्यङ्ग्य के ३ भेद किये गये हैं और अलक्ष्य-क्रम व्यङ्ग्य का स्वरूप बताया गया है।

शब्द-शक्ति-जन्मा ध्वनि वहाँ होती है, जहाँ शब्द बदलते ही ध्वनि समाप्त हो जाय। इसके विपरीत अर्थ-शक्ति-जन्मा ध्वनि वहाँ होती है जहाँ शब्द बदलकर पर्याय-वाची रख देने पर भी ध्वनि रहती है। शब्दार्थोभय-शक्ति-जन्मा ध्वनि वहाँ होती है जहाँ उक्त दोनो प्रकार की स्थिति होती है।

अलक्ष्य-क्रम व्यङ्ग्य में क्रम होता है पर दिखाई नहीं पड़ता। रस के आस्वादन में विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी और रस-निष्पत्ति का क्रम सर्वत्र

होता है, किन्तु रस की प्रतीति के तत्काल हो जाने से इस क्रम का पता नहीं लग पाता। इसके लिये कमल-पत्र का उदाहरण बहुत सुन्दर है। कमल के पत्ते बहुत मुलायम होते हैं। सूई से सौ पत्तों की गड्डी में छेद किया जाय तो क्रम रहने पर भी यह पता नहीं चलता कि कब किस पत्र में छेद हुआ।

यही व्यङ्ग्य लक्ष्य-क्रम होने पर भी लक्ष्य-क्रम हो जाता है यदि रस के बोध में बिलम्ब होने से विभाव आदि में उलझना पड़ जाता है।

अलक्ष्य-क्रम व्यङ्ग्य के भेद अनन्त माने गये हैं। उनकी गणना न हो सकने से केवल प्रमुख ८ भेद ही दिखाये जाते हैं जिनकी चर्चा आगे आयेगी ॥ ५ ॥]

वस्त्वलङ्कारयोर्व्यक्तेर्भेदौ द्वौ शब्दशक्तिजौ।
अर्थशक्तिसमुत्थस्य भेदा द्वादश तद्यथा ॥ ६ ॥

वस्त्विति। वस्तु च अलङ्कारः च वस्त्वलङ्कारौ तयोः वस्त्वलङ्कारयोः। व्यक्तेः व्यञ्जनात् वस्त्वलंकारव्यञ्जनात् इत्यर्थः। शब्दशक्तिजौ शब्दशक्तिध्वनिजातौ। द्वौ एतत्सङ्ख्याकौ। भेदौ (भवतः) वस्तुध्वनिः अलङ्कारध्वनिः च।

अर्थशक्तिसमुत्थस्य अर्थशक्ति-(समुद्भव-)ध्वनेः। भेदाः। द्वादश एतत्सङ्ख्याकाः। तत् भेदकथनम्। यथा वक्ष्यते इत्यर्थः ॥ ६ ॥

वस्तु और अलङ्कार की अभिव्यक्ति से शब्द-शक्ति (से उत्पन्न) ध्वनि से उत्पन्न दो भेद होते हैं (वस्तु-ध्वनि तथा अलङ्कार-ध्वनि)।

अर्थ-शक्ति (से उत्पन्न ध्वनि) से उत्पन्न भेद बारह होते हैं जिनका कथन नीचे किया जा रहा है ॥ ६ ॥

[(शब्द-शक्ति) वस्तु-ध्वनि का उदाहरण निम्न-लिखित है :—

पथिक नात्र स्रस्तरमस्ति मनाक् प्रस्तरस्थले ग्रामे।
उन्नतपयोधरं प्रेक्ष्य यदि वससि तद्वस ॥ (मूल-प्राकृत की संस्कृत-छाया)

यहाँ दिया "स्रस्तर" शब्द प्राकृत के "सत्थर" शब्द की छाया है जिसका अर्थ बिस्तर या शास्त्र (यहाँ धर्म-शास्त्र) है।

स्वतंत्र विहार करने वाली नायिका स्वयंदूती बनकर बटोही से कह रही है कि इस पथरीले इलाके में बिस्तर नहीं उपलब्ध है। यदि बादल देखकर (वर्षा के डर से) रुकना चाहते हो तो रुक सकते हो। मूल के सत्थर और पओहर का दूसरा अर्थ क्रमशः शास्त्र (धर्म-शास्त्र) और स्तन निकलने से शब्द-शक्ति-जात ध्वनि द्वारा यह अर्थ निकलेगा कि "इस इलाके मे धर्म-शास्त्र का निषेध नहीं है; उन्नत स्तनों को अङ्गीकार करो"।

अलङ्कार-ध्वनि का उदाहरण निम्न-लिखित है :—

दुर्गालङ्घितविग्रहो मनसिजः संमीलयंस्तेजसा
प्रोद्यद्राजकुलो गृहीतगरिमा विष्वग्वृतो भोगिभिः।
नक्षत्रेशकृतेक्षणो गिरिगुरौ गाढां रुचिं धारयन्
गामाक्रम्य विभूतिभूषिततनू राजत्युमावल्लभः॥

महारानी उमा के पति (भानुदेव-नामक राजा) का वर्णन इस श्लोक में किया गया है। प्रकरण से उक्त श्लोक का अर्थ राजा के पक्ष मे निकलने के बाद पार्वती-पति शङ्कर का अर्थ ध्वनि से सूचित होगा कि भानुदेव उमा-पति शङ्कर के समान हैं। यह अर्थ "उपमा" अलङ्कार के रूप में है अतः यह अलङ्कार-ध्वनि का उदाहरण है।

यहाँ एक शङ्का यह उठायी जाती है कि श्लेष और अलङ्कार-ध्वनि में इस तरह कोई अन्तर नहीं रह जाता। इसका समाधान यह है कि श्लेष में अलङ्कार वाच्य होता है और अलङ्कार-ध्वनि में व्यङ्ग्य। इसका कारण यह है कि दो अर्थों में से एक अर्थ प्रकरण में बैठ जाने पर ध्वनि में दूसरे अर्थ की संगति के लिये अलङ्कार-ध्वनि माननी पड़ती है पर दोनो अर्थ प्रकरण न होने के कारण बैठ जाने से श्लेष में अलङ्कार वाच्य हो जाता है॥ ६ ॥]

चत्वारो वस्त्वलङ्कारमलङ्कारस्तु वस्तु तत्।
अलङ्कारमलङ्कारो वस्तु वस्तु व्यनक्ति तत्॥ ७ ॥

चत्वार इति। यत् यस्मात् कारणात्। वस्तु (कर्तृ)। अलंकारम् व्यनक्ति व्यञ्जनावृत्त्या बोधयति। अलंकारः। तु। वस्तु (कर्म)।

व्यनक्ति व्यञ्जनावृत्त्या बोधयति। तत् तस्मात् कारणात् चत्वारः अर्थशक्तिजस्य ध्वनेः भेदाः (१) वस्तुना अलङ्कारध्वनिः, (२) अलङ्कारेण वस्तुध्वनिः, (३) अलङ्कारेण अलङ्कारध्वनिः (४) वस्तुना वस्तुध्वनिः च इत्यर्थः ॥ ७ ॥

चूंकि वस्तु अलङ्कार का, अलङ्कार वस्तु का, अलङ्कार अलङ्कार का और वस्तु वस्तु का बोध कराती है, अतः (अर्थ-शक्ति से उत्पन्न ध्वनि के) ४ भेद होते हैं ॥ ७ ॥

[श्लोक में अर्थ-शक्ति ध्वनि के ४ भेद बताये गये है :—

(१) वस्तु से अलङ्कार-ध्वनि, (२) अलङ्कार से वस्तु-ध्वनि, (३) अलङ्कार से अलङ्कार ध्वनि और (४) वस्तु से वस्तु ध्वनि ।

संस्कृत मे सामग्री या विषय-वस्तु के लिये भी वस्तु शब्द आता है । यहाँ उसका यही अर्थ है ॥ ७ ॥]

वक्तुः कविनिबद्धस्य कवेर्वा प्रौढिनिर्मितः ।
स्वसिद्धो वा व्यञ्जकोऽर्थश्चत्वारस्त्रिगुणास्ततः ॥ ८ ॥

वक्तुरिति। कविना सूरिणा। निबद्धस्य कल्पितस्य। वक्तुः प्रौढ्या प्रतिभया निर्मितः उत्पन्नः। कवेः सूरेः। वा च। प्रौढ्या प्रतिभया निर्मितः कल्पितः। स्वसिद्धः स्वतः सम्भवी। वा च। अर्थः। व्यञ्जकः (भवति)। ततः तस्मात्। चत्वारः अव्यवहितपूर्वे श्लोके कथिताः अर्थशक्त्युद्भवस्य ध्वनेः भेदाः। त्रयः गुणाः आवृत्तयः येषां ते त्रिगुणाः सर्वसङ्कलनेन द्वादश इत्यर्थः ॥ ८ ॥

कवि-निबद्ध वक्ता तथा कवि (में से प्रत्येक) की प्रतिभा से उत्पन्न तथा स्वतः सिद्ध अर्थ व्यञ्जक होता है जिससे (विगत श्लोक के) चार (भेद), तिगुने (कुल १२) हो जाते हैं ॥ ८ ॥

[(कवि-निबद्ध) वक्ता की प्रतिभा से कल्पित वस्तु से अलङ्कार-ध्वनि का उदाहरण निम्न-लिखित है :—

सुभगे कोटिसंख्यत्वमुपेत्य मदनाशुगैः ।

वसन्ते पञ्चता त्यक्ता पञ्चतासीद्वियोगिनाम् ।।

[सुन्दरी, काम-बाणों ने वसन्त मे करोडों बनकर पंचता (पाँच की स्थिति) त्याग दी । (वह) पञ्चता (मरण) विरहियों को प्राप्त हुई ।]

मानो पञ्चता काम बाणों से निकलकर विरहियों मे आ गई, इस अर्थ के निकलने से "उत्प्रेक्षा" अलङ्कार व्यक्त होता है और यह स्थिति वक्ता की प्रतिभा से कल्पित वसन्त-वर्णन-रूपी वस्तु से उत्पन्न हुई है ।

(कवि-निबद्ध) वक्ता की प्रतिभा से कल्पित अलङ्कार से वस्तु-ध्वनि का उदाहरण निम्न-लिखित है :—

मल्लिकामुकुले चण्डि भाति गुञ्जन्मधुव्रतः ।
प्रयाणे पञ्चबाणस्य शङ्खमापूरयन्निव ।।

(मानिनि, मल्लिका-मुकुल पर गुञ्जार कर रहा भौंरा इस प्रकार शोभित होता है मानो कामदेव की रण-यात्रा के समय शङ्ख फूक रहा हो ।)

यहाँ "उत्प्रेक्षा" अलङ्कार से यह वस्तु ध्वनित हो रही है कि "यह कामदेव का उन्माद-काल है ; मान क्यों नहीं त्यागती हो ।"

(कवि निबद्ध) वक्ता की प्रतिभा से कल्पित अलङ्कार से अलङ्कार-ध्वनि का उदाहरण निम्न-लिखित है :—

महिलासहस्रभरिते तव हृदये सुभग सा अमान्ती ।
अनुदिनमनन्यकर्मा अङ्गं तनुकमपि तनयति ।।

[मूल-प्राकृत की संस्कृत-छाया]

[हे सुभग, तुम्हारे हजारों महिलाओं से भरे हुये हृदय में न समा रही वह दूसरे काम छोड़कर प्रतिदिन अपने अत्यन्त दुर्बल शरीर को और दुर्बल बना रही है ।]

यहाँ "काव्य-लिङ्ग" अलङ्कार है । शरीर का दुर्बल होना कारण है जिसके होने पर भी हृदय में स्थान मिलने का फल प्राप्त न होने से "विशेषोक्ति" अलङ्कार ध्वनित होता है ।

(कवि-निबद्ध) वक्ता की प्रतिभा से कल्पित वस्तु से वस्तु-ध्वनि का उदाहरण निम्न लिखित है :—

शिखरिणि क्व नु नाम कियच्चिरं किमभिधानमसावकरोत्तपः ।
सुमुखि येन तवाधरपाटलं दशति बिम्बफलं शुकशावकः ॥

[हे सुमुखी, कितने समय तक किस पहाड़ पर कौन सा तप उस शुक-शावक ने किया था जो तुम्हारे अधर के समान लाल बिम्बफल दाँतों से काट रहा है ।]

"शुक-शावक को तप से बिम्बफल की प्राप्ति हुई; इस वस्तु से यह वस्तु ध्वनित होती है कि "अत्यधिक पुण्य से ही तुम्हारे अधर की प्राप्ति हो सकती है ।"

कवि-प्रतिभा से कल्पित वस्तु से अलङ्कार-ध्वनि का उदाहरण निम्न-लिखित है :—

रजनीषु विमलभानोः करजालेन प्रकाशितं वीर ।
धवलयति भुवनमण्डलमखिलं तव कीर्त्तिसन्ततिः सततम् ॥

रातों में चन्द्रमा के कर-समूह से प्रकाशित सम्पूर्ण भुवन-मण्डल को हे वीर, तुम्हारे यश की परम्परा सदा धवल बनाये रहती है ।]

यश के द्वारा धवल बनाये रहना वस्तु है जिससे "व्यतिरेक" अलङ्कार ध्वनित होता है कि तुम्हारा यश चाँदनी से भी श्रेष्ठ है; चान्दनी तो केवल (कुछ) रातों में प्रकाशित करती है पर उससे प्रकाशित किया गया भुवन तुम्हारे यश के द्वारा हमेशा प्रकाशित रहता है ।

कवि-प्रतिभा से कल्पित अलङ्कार से वस्तु-ध्वनि का उदाहरण निम्न-लिखित है :—

दशाननकिरीटेभ्यस्तत्क्षणं राक्षसश्रियः ।
मणिव्याजेन पर्यस्ताः पृथिव्यामश्रुबिन्दवः ॥ (रघुवंश-सर्ग १०)

[रावण के मुकुटों से उसी समय राक्षस-राज्य-लक्ष्मी के आँसू की बूँदें मणि के मिस पृथ्वी पर बिखर गईं ।]

यहाँ मणि को छिपाकर अश्रु-बिन्दुओं की स्थापना करने से "अपह्नुति" अलङ्कार है जिससे यह वस्तु ध्वनित होती है कि राक्षस-राज्य-लक्ष्मी विपत्ति में पड़ गई है।

कवि-प्रतिभा से कल्पित अलङ्कार से अलङ्कार-ध्वनि का उदाहरण निम्न-लिखित है :—

या स्थविरमिव हसन्ती कविवदनाम्बुरुहबद्धविनिवेशा।
दर्शयति भुवनमण्डलमन्यदिव जयति सा वाणी॥

[जो हंसती हुई कवि के वदन-कमल में निविष्ट होकर बूढ़े-से भुवन-मण्डल को नवीन-सा प्रदर्शित करती है, उस सरस्वती की जय हो।]

"बूढ़े-से" और "नवीन-सा" स्थलों में "उत्प्रेक्षा" की गई है जिससे "व्यतिरेक" अलङ्कार ध्वनित होता है कि कवि की सृष्टि ब्रह्मा की सृष्टि में भी सुधार करने की क्षमता रखती है।

कवि-प्रतिभा से कल्पित वस्तु से वस्तु-ध्वनि का उदाहरण निम्न-लिखित है :—

कैलासस्य प्रथमशिखरे वेणुसंमूर्च्छनाभिः
श्रुत्वा कीर्तिं विबुधरमणीगीयमानां यदीयाम्।
स्रस्तापाङ्गाः सरसबिसिनीकाण्डसंजातशङ्का
दिङ्मातङ्गाः श्रवणपुलिने हस्तमावर्त्तयन्ति॥

[कैलाश (पर्वत) के श्रेष्ठ शिखर पर अप्सराओं के द्वारा राग-विशेष में गाई जा रही जिसकी कीर्ति का श्रवण कर कमलिनी के सरस मृणाल की शङ्का से युक्त होकर नेत्र के कोने फैलाकर दिग्गज कर्ण-पुलिन पर सूंड़ फेर रहे हैं।]

यहाँ हाथियों का शङ्का करना वस्तु है जिससे यह वस्तु ध्वनित हो रही है कि कीर्त्ति ऐसी चमत्कार-कारक है कि जो (दिग्गज) जड़ हैं उनमें भी ऐसी बुद्धि पैदा कर देती है।

स्वतः सिद्ध वस्तु से अलङ्कार-ध्वनि का उदाहरण निम्न-लिखित है :—

दिशि मन्दायते तेजो दक्षिणस्यां रवेरपि ।
तस्यामेव रघोः पाण्ड्याः प्रतापं न विषेहिरे ॥

(दक्षिण दिशा में सूर्य का भी तेज मन्द हो जाता है किन्तु उसी में पाण्ड्य देश रघु का प्रताप न सह सका ।)

दक्षिणायन मे सूर्य दक्षिण की ओर रहते हैं और उस समय उनकी मन्दता स्वतः सिद्ध है। इस वस्तु से यह ध्वनित हो रहा है कि सूर्य-प्रताप मे बढ़कर रघु-प्रताप है जो "व्यतिरेक" अलङ्कार है।

स्वतः सिद्ध अलङ्कार से वस्तु-ध्वनि का उदाहरण निम्न-लिखित है :—

आपतन्तममुं दूरादूरीकृतपराक्रमः ।
बलोऽवलोकयामास मातङ्गमिव केसरी ॥

[पराक्रम-सम्पन्न बलराम ने दूर से आ रहे उसको इस प्रकार देखा जैसे सिंह हाथी को देखता है ।]

"इव" शब्द से "उपमा" अलङ्कार स्पष्ट है। उससे यह वस्तु ध्वनित होती है कि जिस प्रकार शेर हाथी को मार डालता है, उसी प्रकार बलराम शत्रु (वेणुदारी) को मार डालेंगे।

स्वतः सिद्ध अलङ्कार से अलङ्कार-ध्वनि का उदाहरण निम्न-लिखित है :—

उदितं मण्डलमिन्दो रुदितं सद्यो वियोगिवर्गेण ।
मुदितं च सकलललनाचूडामणिशासनेन मदनेन ॥

[चन्द्र-मण्डल उदित हुआ, श्रेष्ठ वियोगी तुरंत रो पड़े और सकल श्रेष्ठ ललनाओं के शासक कामदेव मुदित हो गये ।]

यहाँ उदित, रुदित और मुदित क्रियायें एक साथ आई हैं जिससे "समुच्चय" अलङ्कार है। इससे यह ध्वनित होता है कि चन्द्रोदय जो कारण है और मदन की प्रसन्नता जो कार्य है—दोनो—क्रमशः नही हुये; एक साथ हुये जो "अतिशयोक्ति" है।

स्वतः सिद्ध वस्तु से वस्तु-ध्वनि का उदाहरण निम्न-लिखित है :—

अलसशिरोमणिर्धूर्त्तानामग्रिमः पुत्रि धनसमृद्धिमयः ।

इति भणितेन नताङ्गी प्रफुल्लविलोचना जाता ।।

(मूल- प्राकृत की संस्कृत-छाया)

[हे बेटी, वह (तुम्हारे वर) आलसियों में श्रेष्ठ, धूर्तों में अग्रणी तथा धन-समृद्धि-सम्पन्न है । इतना कहने से सुन्दरी (कुमारी) के नेत्र खिल गये ।

"वर आलसी, धूर्त्त और धनी है", यह वस्तु है जिससे दूसरी वस्तु ध्वनित होती है कि "वह घर पर ही रहेगा; तुम्हारा ही उपभोग्य है; दूसरी नायिका उसे नहीं पा सकती" ।

शब्दार्थोभयभूरेकः स च वाक्यैकसंश्रयः ।
पदैकदेशे रचनावर्णवाक्यपदेष्वपि ।।९।।

शब्देति । **शब्दः** च **अर्थः** च **शब्दार्थौ** तयोः **उभयं** युग्मं तस्मात् भवतीति **शब्दार्थोभयभूः** ध्वनिः इत्यर्थः । **एकः** (एव भवति) । **सः** शब्दार्थोभयभूः ध्वनिः इत्यर्थः । **च** । **वाक्यम्** एव **एकः संश्रयः** आश्रयः यस्य सः **वाक्यैकसंश्रयः** (भवति) । एते त्रयोदश भेदाः लक्ष्यक्रमस्य ध्वनेः ।

अलक्ष्यक्रमस्य ध्वनेः षड् भेदाः वक्ष्यन्ते । तत्र श्लोकस्य उत्तरार्धे पञ्च भेदाः । यथा । **पदस्य एकदेशे** अंशे प्रकृतिप्रत्ययोपसर्गादिविविधे । **रचनाः** पदरचनाः (वैदर्भीत्यादयः) च **वर्णाः** मधुराप्रौढादयः वृत्तयः च **वाक्यानि** च **पदानि** च **रचनावर्णवाक्यपदानि** तेषु । **अपि** च (व्यङ्ग्यव्यवहारः भवति) ।

शब्दार्थोभय -(शक्ति)-जात (भेद) एक है और उसका एक-मात्र आधार वाक्य है ।

(अलक्ष्य-क्रम ध्वनि के ६ भेदों में से ५ का विवरण:—) पद के अंश, (पद-) रचनाओं, वर्णों, वाक्यों तथा पदों में (व्यङ्ग्य-व्यवहार होता है) ।

[श्लोक के पूर्वार्ध में लक्ष्य-क्रम-व्यङ्ग्य का १३वाँ भेद समाप्त होने पर उत्तरार्ध मे अलक्ष्य-क्रम-व्यङ्ग्य के ६ भेदों में से ५ भेदों की स्थिति बताई गई है । आश्रय-भेद से यह भेद-व्यवस्था की गई है ।

शब्दार्थोभय-शक्ति-ध्वनि का उदाहरण निम्न-लिखित है:—

रम्यहासा रसोल्लासा रसिकालिनिषेविता।
सर्वाङ्गशोभासम्भारा पद्मिनी कस्य न प्रिया ॥

इस उदाहरण में हास, रस, अलि या अली, और पद्मिनी शब्द नहीं बदले जा सकते। इस प्रकार शब्द का आश्रय हुआ। शेष शब्द बदलने पर भी कोई अन्तर नहीं पड़ता, अतः अर्थ का भी आश्रय हुआ। इस प्रकार दोनों का आश्रय हुआ। इसमें यह ध्वनित होता है कि नायिका पद्मिनी की तरह [पद्मिनी] है।

अलक्ष्य-क्रम-व्यङ्ग्य ध्वनि के पहले भेद पदांश-गत ध्वनि का उदाहरण निम्न-लिखित है:—

ग्रामरुहास्मि ग्रामे वसामि नगरस्थिति न जानामि।
नागरिकाणा पतीन् हरामि या भवामि सा भवामि ॥

(मूल-प्राकृत की,संस्कृत-छाया)

यहाँ पदांश की व्यञ्जना "नागरिकाणां" की षष्ठी विभक्ति में है। जिन्हें तुम नागरिकायें नहीं आकृष्ट कर सकीं, उन तुम्हारे पतियों को मैं ग्रामीण नायिका होकर भी आकृष्ट कर लेती हूँ। इस उक्ति में चतुरता का अतिशय व्यङ्ग्य है।

अन्य भेदों के उदाहरण रसादि के प्रसंग में देखने चाहिये ॥९॥]

प्रबन्धे चेति षोढासौ रसाद्याख्योऽस्फुटक्रमः।
एषु सप्तदशस्वेकं परित्यज्यास्फुटक्रमम् ॥१०॥
ये षोडशाद्या द्विगुणास्ते स्युर्वाक्यपदाश्रयात्।
प्रबन्धेऽपि द्वादश स्युरर्थशक्तिभुवो भिदः ॥११॥

प्रबन्ध इति। असौ पूर्वोक्तः इत्यर्थः। रसः आदिः आदिमः यस्य सः रसादिः। आदिपदेन भावरसाभासादीनां ग्रहणम्। रसादिः आख्या नाम यस्य सः रसाद्याख्यः। अस्फुटक्रमः अलक्ष्यक्रमः (ध्वनिः)। प्रबन्धे वाक्य-समूहे। च अपि (भवति)। इति एवम्। (असौ) षोढा षड्विधः। एषु पूर्वोक्तेषु। सप्तदशसु भेदेषु इत्यर्थः। अस्फुटम् अलक्ष्यक्रमम् (ध्वनिम्)। परित्यज्य विहाय। ये। आद्याः आदिमाः। षोडश एतत्सङ्ख्याकाः

(भेदाः)। ते। वाक्यं च पदं च वाक्यपदे तयोः आश्रयात् संश्रयात् द्विगुणाः द्विः आवृत्ताः। स्युः भवेयुः ॥१०॥११॥

अर्थशक्तिभुवः अर्थशक्तिजातस्य (ध्वनेः) द्वादश। भिदः भेदाः। प्रबन्धे वाक्यसमूहे। अपि। स्युः भवेयुः।

रसादि-नामक अलक्ष्य-क्रम ध्वनि प्रबन्ध में भी होती है; इस प्रकार [वह] ६ प्रकार की है।

इन १७ [भेदों] में से अलक्ष्य-क्रम [-ध्वनि] को छोड़कर जो आरम्भिक १६ हैं, वे वाक्य और पद के आश्रय [-भेद] से दूने होते हैं।

अर्थ-शक्ति-जात १२ भेद प्रबन्ध मे भी होते हैं॥ १०।'११ ॥

[१७ भेदो मे शब्दार्थोभय-शक्ति से उत्पन्न ध्वनि का समावेश न कर केवल लक्षणा-मूलक २ (७।३), शब्द-शक्ति-मूलक २ (७।६), अर्थ-शक्ति मूलक १२ (७।८) और अलक्ष्य-क्रम १ (७।४) का समावेश किया गया है। अलक्ष्य-क्रम की संख्या १ के स्थान पर ६ और शब्दार्थोभय-शक्ति-जात की संख्या ० के स्थान पर १ जोड़कर २३ कहना अधिक स्पष्ट होता। शब्दार्थोभय-शक्ति-जात ध्वनि का समावेश इसलिये नहीं किया गया कि वह केवल वाक्य में होती है, अतः जहाँ वाक्य और पद के आश्रय-भेद से २-२ भेद करने हैं, वहाँ उसका ग्रहण व्यर्थ है। अलक्ष्य-क्रम-मात्र कहने से ६ के समूह का अर्थ निकल सकता है; तो भी १८ कहना अच्छा होता।

उक्त १६ को दूना करने से ३२ भेद हुये। अर्थ-शक्ति-जात ध्वनि के १२ प्रकारों में से प्रत्येक को पद और वाक्य में रखकर १२-१२ (कुल २४) भेद उक्त ३२ में समाविष्ट कर दिये गये हैं। इन १२ मे से प्रत्येक को वाक्य-समूह म रखने से १२ अन्य भेद भी हो जायेंगे जिससे, इधर, ४४ भेद ७।११ के अनुसार होंगे।

महाभारत, रामायण आदि महाकाव्य और काव्य प्रबंध के अंतर्गत आते हैं जिनमें शान्त, करुण आदि रस ध्वनित होते हैं ॥१०॥११॥]

द्वात्रिंशद् द्वादशैकः षट् सर्वसङ्कलितध्वनेः।
भेदाः स्युरेकपञ्चाशत् संभिन्नास्तु सहस्रशः ॥१२॥

द्वात्रिंशदिति। (एवम्) द्वात्रिंशत्। द्वादश। एकः। षट् (च इति)। संकलितः च सः ध्वनिः च सङ्कलितध्वनिः सर्वः च सः सङ्कलितध्वनिः च सर्वसङ्कलितध्वनिः तस्य सर्वसङ्कलितध्वने.। भेदाः। भिदः। एकपञ्चाशत्। संभिन्नाः सङ्करसंसृष्टिभ्यां सम्मिलिताः। तु एतद्विपरीतम्। सहस्रशः असंख्याः। स्युः भवेयुः ॥१२॥

३२, १२, १ और ६—सबके संकलन से प्राप्त ध्वनि के ५१ भेद हैं। इसके विपरीत (संकर और संसृष्टि से) सम्मिलित कर हजारों भेद है ॥१२॥

[७।११ में इन भेदो का अलग-अलग ब्यौरा देखा जा सकता है।

काव्य-प्रकाश में इन भेदों की संख्या १०४५५ तक पहुँचाई गई है। इनमें से ५१ भेद शुद्ध हैं जो ऊपर दिये गये हैं; शेष १०४०४ का विवरण निम्नलिखित है :—

एक स्थान (श्लोकादि) मे एक प्रकार की ध्वनि सजातीय या विजातीय (१+५०=) इक्यावना ध्वनियों के प्रथम आ सकती है। इसी प्रकार उक्त ५१ ध्वनियों में से प्रत्येक के ५१ भेद होंगे (जिस भेद के ५१ भेद करेंगे, उसमें अत्यधिक सुन्दरता तथा उसके सहयोगी मे अल्प सुन्दरता देकर वही भेद घूम-फिर कर आने से रोका जा सकता है।) जिससे कुल भेद (५१×५१=) २६०१ होजायेंगे। अब ३ प्रकार के संकर और एक प्रकार की संसृष्टि में से प्रत्येक के २६०१ भेद होने से (४×२६०१=)१०४०४ भेद हो जायेंगे।

जहाँ दो चीजें तिल और चावल की तरह अलग-अलग दिखें वहाँ संसृष्टि होती है और जहाँ जल तथा दूध को तरह मिलकर अलग-अलग न दिखें, वहाँ संकर होता है। इस संकर के ३ भेद हैं:—

प्रथम संकर या अङ्गाङ्गि-भाव संकर—जिसमें दो चीजों में से एक अंग हो और दूसरा अङ्गी (जिसका अंग हो)।

द्वितीय संकर या संदेह संकर—जिसमें दो चीजों में से कौन होना उचित है, यह संदेह हो।

तृतीय संकर या एकवाचकानुप्रवेश संकर—जिसमे एक वाचक (शब्द) दो जगह बैठे।

५।११६ के अलंकार-प्रकरण मे भी उक्त चर्चा सक्षेप मे की गई है। यह विषय प्रधानतया अलङ्कार का है। प्रथम सकर का उदाहरण निम्न-लिखित है:—

अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत्पुरःसरः।
अहो दैवगतिश्चित्रा तथापि न समागमः॥

यहाँ सन्ध्या और दिवस से क्रमशः नायिका और नायक की प्रतीति होने से "समासोक्ति" अलङ्कार है और "अनुराग" कारण के रहने पर भी "समागम" कार्य न होने से "विशेषोक्ति" अलङ्कार है। ये दोनो अलंकार क्रमशः अङ्ग तथा अङ्गी हैं।

"मुखचन्द्रं पश्यामि" मे "मुख चन्द्रमा के समान" अर्थ लेने पर "उपमा" अलङ्कार और "मुख ही चन्द्र" अर्थ लेने पर "रूपक" अलङ्कार होता है। दोनो मे से क्या होना चाहिये, यह संदेह होता है, अतः यह द्वितीय संकर का उदाहरण है।

तृतीय संकर का उदाहरण निम्न-लिखित है:—

मुरारिनिर्गता नूनं नरकप्रतिपन्थिनी।
तवापि मूर्ध्नि गङ्गेव चक्रधारा पतिष्यति॥

यहाँ "इव" पद से "मुरारि-निर्गता" का "अर्थ-श्लेष" और "नरक-(नरक या नरकासुर) प्रतिपन्थिनी" का शब्द श्लेष—दोनो—प्रतिपादित होते हैं।

२ से अधिक ध्वनियो के एक ही श्लोकादि मे आने और इसी तरह सम्मिलित करने पर भेदों की संख्या अनंत हो जायेगी।

भेदों की अधिकता ध्वनि-वादी इसलिये दिखाते हैं कि काव्य में ध्वनि की सर्व-व्यापकता बताई जा सके। ग्रन्थकार अलङ्कार-वादी हैं और उन्हे ध्वनि का विशेष प्रतिपादन अभीष्ट नहीं है; केवल परम्परा देखकर संक्षेप मे उन्होने मुख्य ५१ भेदों की गणना कर दी है॥१२॥]

वक्तृस्यूतं बोधयितुं व्यङ्ग्यं वक्तुरभीप्सितम्।
स्वाङ्कुरितमतद्रूपं स्वयमुल्लसितं गिरः॥१३॥

वक्तृस्यूतमिति। बोधयितुम् अवगमयितुम्। वक्तुः कथयितुः। अभीप्सितम् इष्टम्। व्यङ्ग्यम्। वक्तृस्यूतम् (वक्तृतात्पर्यविषयीभूतम्) (नाम भवति)।

अतद्रूपं वक्तृतात्पर्याविषयीभूतम्। गिरः वाण्याः। स्वगम् स्वतः। उल्लसितम् अभिव्यक्तम्। स्वाङ्कुरितम् (नाम भवति)॥ १३॥

(दूसरों को) बताने के लिये वक्ता को जो व्यङ्ग्य इष्ट होता है, वह वक्तृ-स्यूत होता (=कहलाता) है। इसके विपरीत (जो व्यङ्ग्य वक्ता को इष्ट नही होता पर दूसरे निकाल लेते है) वाणी से स्वयं अभिव्यक्त (व्यङ्ग्य) स्वाङ्कुरित होता (=कहलाता) है॥ १३॥

[यहा आर्थी व्यञ्जना के अवान्तर भेद बताये जा रहे है

पहले भेद का उदाहरण "गङ्गायां घोषः" है। इसमे वक्ता का आशय शीतलता, पावनता आदि का बोध व्यङ्ग्य के द्वारा कराना है।

दूसरे भेद का उदाहरण "अस्तं गतो भानुमान्" है। वक्ता का आशय सामान्य रूप से सूर्यास्त का वर्णन या कोई एक बात व्यङ्ग्य रूप मे समझाना है, पर इसके अनेक अर्थ श्रोता अपने मे लगा सकते है:—

सन्ध्या का समय हो गया, दूकान बढाओ, दीपक जलाओ, अभिसार के लिये तैयार हो जाओ, प्रिय अब आने वाला है, अब तक प्रिय नही आया, दूर मत जाओ, गायों को बांध दो, सूर्य का ताप कम हो गया है आदि (असंख्य अर्थ निकल सकते हैं)॥ १३॥

कश्चित् साधारणः कश्चिदामन्त्र्य प्रतिबोधितः।
कश्चित्तटस्थः कश्चिच्च बोधितप्रतिबोधितः॥१४॥

कश्चिदिति। कश्चित् कोऽपि। साधारणः सामान्यः वक्तृतात्पर्यानभिज्ञः। कश्चित् कोऽपि। आमन्त्र्य सम्बोध्य। प्रतिबोधितः। कश्चित् कोऽपि। तटस्थः असम्बोध्य विज्ञापितः। कश्चित् कोऽपि। च। बोधितेन (केनापि जनेन) विज्ञापितेन जनेन प्रतिबोधितः ज्ञापितः॥१४॥

कोई साधारण, कोई सम्बोधित कर विज्ञापित, कोई तटस्थ (बिना संबोधन

के विज्ञापित) और कोई (अन्य-द्वारा) बोधित के द्वारा विज्ञापित होता है (;इस प्रकार वक्तृ-स्यूत व्यङ्ग्य के ४ भेद होते हैं ॥१४॥

["साधारण" उस व्यक्ति को कहते हैं जो यह बिना जाने कि वक्ता ने किस अभिप्राय से वाक्य कहा है, अपने मन में अर्थ लगा ले। "अस्त गतो भानुमान्" इसका उदाहरण है जिसे ७।१३ में देखा जा सकता है।

"सम्बोधित कर विज्ञापित" वह व्यक्ति है जिसे वक्ता सम्बोधित कर अर्थ-बोध कराता है। उदाहरण "पथिक" आदि है जो ७।६ की व्याख्या में देखा जा सकता है।

"तटस्थ" उस व्यक्ति को कहते है जिसे सुनाना अभिप्रेत होता है पर संबोधित नहीं किया जाता। उदाहरण "पश्य निश्चल" आदि है जिसे ७।२ के अंत मे देखा जा सकता है। उसमें नायिका दिखावे के लिये सखी को संबोधित कर कहती है; सुनाना अपने प्रेमी को चाहती है।

बोधित-प्रतिबोधित" वह व्यक्ति है जो ऐसे वक्ता के द्वारा सबोधित होता है जिसे किसी ने पहले विज्ञापित किया (संदेश देकर भेजा) है। उदाहरण निम्न-लिखित है:—

प्राणेश विज्ञप्तिरियं मदीया तत्रैव नेया दिवसाः कियन्तः।
अत्र स्थितिर्युक्तिमती न देशे करा हिमांशोरपि तापयन्ति ॥

यहाँ नायक ऐसे व्यक्ति के द्वारा प्रतिबोधित है जो नायिका द्वारा पहले ही बोधित है।

कभी-कभी साधारण उस व्यक्ति को कहते हैं जिसे कोई बात बिना प्रश्न के सुनाई जाय जिससे गुप्त बात छिप जाय, जैसे:—

कुम्भं गृहीत्वा विपुलं मत्वरं समुपागता।
श्रमस्वेदनिरासाय विश्राम्यामि सखि क्षणम् ॥

यहाँ नायिका ने रति-जन्य स्वेद को छिपाने के लिये बिना पूछे ही बहाना सुना दिया है।

"सम्बोधित कर विज्ञापित" प्रायः नीच (पात्र होता है), "तटस्थ" प्रायः समान स्तर का (पात्र होता है) और "बोधित-प्रतिबोधित" उत्तम पात्र होता है ॥१४॥]

इत्येव बोद्धवैचित्र्याद्वक्तृस्यूतं चतुर्विधम् ।
उपेक्षानिह्नवाभ्यां च द्विधा स्वाङ्कुरितं मतम् ॥१५॥

इतीति । इति एवम् इत्थम् । बोद्धुः बोधकस्य जनस्य वैचित्र्यात् वैशिष्ट्यात् बोद्धृवैचित्र्यात् । वक्तृस्यूतम् एतन्नाम व्यङ्ग्यम् इत्यर्थः । चतस्रः विधाः प्रकाराः यस्य तत् चतुर्विधम् (भवति) ।

स्वाङ्कुरितम् एतन्नामकं व्यङ्ग्यम् इत्यर्थः । च । उपेक्षा अगूढता च निह्नवः गूढता च उपेक्षानिह्नवौ ताभ्याम् उपेक्षानिह्नवाभ्याम् । द्विधा द्विप्रकारकम् अगूढं गूढं च मतम् कथितम् ॥१५॥

इस प्रकार समझने वाले (सम्बोधित व्यक्ति) की विशेषता से "वक्तृ-स्यूत" व्यङ्ग्य चार प्रकार का होता है ।

और गूढता और अगूढता (के भेद) से "स्वाङ्कुरित" के दो प्रकार (गूढ और अगूढ) माने गये हैं ॥१५॥

[इस श्लोक में वक्तृ-स्यूत की चर्चा का उपसंहार किया गया है ।

गूढ वह व्यङ्ग्य है जिसे सामान्य व्यक्ति न समझ पायें; केवल वे ही समझ पायें जिनकी बुद्धि काव्य-अनुशीलन से परिपक्व हो गई है । इसके विपरीत अगूढ़ वह व्यङ्ग्य है जो स्पष्ट होने से साधारण व्यक्ति की भी समझ में आ जाय । दोनों के उदाहरण ७।२ की टीका में लक्षणामूलक व्यञ्जना के अंतर्गत देखे जा सकते हैं ॥१५॥]

भूतादिकालभेदेन निह्नवः स्यादनेकधा ।
अनेनापि प्रभेदेन व्यक्तिवल्ली विजृम्भते ॥१६॥

भूतेति । भूतः अतीतः (कालः) आदिः आदिमः यस्य सः भूतादिः (आदिपदेन वर्तमानस्य भाविनः च ग्रहणम्) भूतादयः च ते कालाः समयाः भूतादिकालाः तेषां भेदेन भिदा । निह्नवः वस्तुगोपनं गूढव्यङ्ग्यत्वम् इति यावत् । अनेकधा बहुविधः । स्यात् भवेत् ।

अनेन एतेन । अपि । प्रभेदेन भिदा । व्यक्तिः लक्षणामूलव्यञ्जना एव वल्ली लता । विजृम्भते विकसति ॥१६॥

भूत आदि कालो के भेद से गूढता कई प्रकार की होती है और इस भेद (-व्यवस्था) से व्यञ्जना की लता विकसित होती जाती है ॥१६॥

[भूतादि-काल-भेद से गूढता के ३ भेद होंगे (१) भूत गूढता, (२) वर्त्त-मान गूढता तथा (३) भावी गूढता।

"अपि" से तात्पर्य है कि ये भेद वक्तृ-स्मृत के ४ भेदो के साथ जुटेंगे।

व्यनित वल्ली के विजृम्भण का अर्थ है व्यञ्जना के भेदों का उत्तरोत्तर बढ़ना।

७।३ मे लक्षणा-मूलक अविवक्षित-वाच्य ध्वनि के २ भेद (१) अर्थान्तर-संक्रमित और (२) अत्यन्त-तिरस्कृत बताये गये थे। पुनः ७।११ के पूर्वार्द्ध के अनुसार पद और वाक्य के आश्रय के भेद से प्रत्येक के २-२ (कुल ४-४) भेद बताये गये। फिर ७।१२ के अंतिम चरण के अनुसार प्रत्येक भेद के (५१ × ४ =) २०४ - २०४ भेद हुये। इस प्रकार लक्षणा-मूलक ध्वनि के (४ × २०४ =) ८१६ भेद पहले ही बताये जा चुके है। ७।१३ से ७।१६ तक सम्बोधित व्यक्ति और गूढता-अगूढता के आधार पर क्रमशः ४, १ (अगूढ़ता) और ३ (गूढता) भेद किये गये है। उनकी गणना, गौणता के कारण, अलग ही की जाती है अन्यथा ७।१२ तक की गई भेद-व्यवस्था में इन भेदो को भी समाविष्ट कर दिया जाता ॥१६॥]

नानाप्रभेदा नियता क्वचित् प्रकरणादिना।
अर्थेऽर्थमन्यं यं वक्ति तद्वाक्यव्यङ्ग्यमिष्यते ॥१७॥

नानेति। **क्वचित्** कस्मिंश्चित्। **अर्थे**। **प्रकरणम्** प्रसङ्गः **आदौ** आरम्भे यस्य तेन **प्रकरणादिना**। **नियता** नियन्त्रिता (सती)। **नाना** बहवः **प्रभेदाः** भिदः यस्याः सा (वाणी) **यम्**। **अन्यम्** द्वितीयम् **अर्थम्**। **वक्ति** प्रतिपादयति। **तत्** (अत्र सर्वनाम विधेयपदम् लिङ्गं अनुसरति)। **वाच्यव्यङ्ग्यम्**। **इष्यते** मन्यते ॥१७॥

प्रसङ्ग आदि के द्वारा किसी अर्थ मे नियन्त्रित होकर अनेक भेदो वाली वाणी जिस दूसरे अर्थ का प्रतिपादन करती है, उसे वाच्य व्यङ्ग्य माना जाता है ॥ १७ ॥

[श्लोक के उत्तरार्ध मे यत् का सम्बन्धी तत् शब्द यत् के अनुसार पुंलिङ्ग मे न आने से समाहार द्वन्द्व कर किसी प्रकार बैठाने की कोशिश की जाती है। यह ठीक नही है। संस्कृत मे प्राय विधेय में आया "यत्" शब्द का सम्बन्धी शब्द विधेय के अनुसार ही होता है। इसके उदाहरण निम्न-लिखित प्रयोग हैं:—

शैत्यं हि यत् सा प्रकृतिर्जलस्य। (रघुवंश ५।५४)

मातुस्तु यौतकं यत् स्यात् कुमारीभाग एव सः ॥ (मनु-स्मृति ९।१३१)

मूल मे "वाणो" या उसका पर्याय-वाची शब्द न आने से बात अधूरी रह गई है।

मूल मे "आदि" पद मे संयोग, वियोग, साहचर्य, विरोध, अर्थ, प्रसङ्ग, लिङ्ग, अन्य शब्द का सामीप्य, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, अभिनय, व्यक्ति और स्वर का ग्रहण होता है :—

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।

अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ॥

सामर्थ्यमौचिती देशः कालोऽभिनय एव च।

व्यक्तिः स्वरश्च शब्दार्थस्यानवच्छेदहेतवः ॥

यहाँ अभिधा-मूलक व्यञ्जना की चर्चा की गई है; इसका उदाहरण निम्न-लिखित है :—

भद्रात्मनो दुरधिरोहतनोर्विशालवंशोन्नतेः कृतशिलीमुखसंग्रहस्य।

यस्यानुपप्लुतगतेः परवारणस्य दानाम्बुसेकसुभगः सततं करोऽभूत् ॥

राजा का प्रसंग होने से उसकी प्रशंसा ऊपर के श्लोक का वाच्यार्थ बनेगी जिससे गज के अर्थ को व्यङ्ग्य माना जायेगा। यदि प्रसंग न होता तो यहाँ केवल दो वाच्य अर्थ मिलते और श्लेष होता। प्रकरण होने से यहाँ न तो केवल वाच्य अर्थ है और न केवल व्यङ्ग्य अर्थ, बल्कि (गज-रूप अर्थ) वाच्य होते हुये व्यङ्ग्य अर्थ है।

इस प्रकार वक्तृ-स्यूत, स्वाङ्कुरित और वाच्य-व्यङ्ग्य क्रमशः व्यङ्ग्यार्थ-मूलक लक्ष्यार्थ-मूलक और अभिधेयार्थ-मूलक हैं। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक भेद किये गये हैं जिन्हें दूसरे ग्रन्थों में देखा जा सकता है ॥ १७ ॥]

महादेवः सत्रप्रमुखमखविद्यैकचतुरः
सुमित्रा तद्भक्तिप्रणिहितमतिर्यस्य पितरौ।
मयूखस्तेनासौ सुकविजयदेवेन रचिते
चिरं चन्द्रालोके महति मुनिसङ्ख्यः सुखयतु॥ १८॥

इति चन्द्रालोकालङ्कारे ध्वनिनिरूपणो नाम सप्तमो मयूख ।

[टीका १।१६ की टीका मे देखा जा सकती है; केवल "अनेन", "आद्यः", "वाग्विचार" और "प्रथमः" की जगह क्रमशः "तेन" (=पूर्वोक्तेन =उपर्युक्त), "मुनिसङ्ख्यः" (मुनिः ऋषिः ऋषिमिता अष्ट इति यावत् संख्या गणना यस्य सः मुनिसख्यः अष्टमः = जिसकी संख्या ऋषि अर्थात् आठ है=आठवाँ), "ध्वनिनिरूपणः" (ध्वनेः निरूपणं विचारः यत्र=जिसमे ध्वनि का विचार किया गया है) और "सप्तमः" (सप्ताना पूरणी सङ्ख्या=सातवाँ) समझना चाहिये॥ १८॥]

अष्टमो मयूखः

यद् व्यज्यमानं मनसः स्तैमित्याय स नो ध्वनिः।
अन्यथा तु गुणीभूतव्यङ्ग्यमापतितं त्रिधा ॥ १ ॥

यदिति। **यत्** काव्यम् इत्यर्थः। समस्तपदाङ्गीकारे **येन** (काव्येन **व्यज्यमानं** व्यञ्जनया प्रत्यायितं व्यङ्ग्यम् इति यावत् **यद्व्यज्यमानम्**। **मनसः** हृदयस्य **स्तैमित्याय** द्रवीभावाय आह्लादाय इत्यर्थः। **सः** पूर्वोक्तः। **नः** अस्माकं मतेन। **ध्वनिः** (नाम)।

अन्यथा तु इतरथा एतद्विपरीतम् इति यावत्। आह्लादस्य अभावे इत्यर्थः। **त्रिधा** त्रिप्रकारकं यथा स्यात् तथा। **आपतितं** भूतम् **गुणीभूत-व्यङ्ग्यम्** (नाम) (काव्यं भवति) ॥१॥

जो (काव्य) जिसकी प्रतीति व्यञ्जना कराती है (जो–काव्य–व्यञ्जना द्वारा प्रकट होता हुआ) मन का द्रवीभाव (आह्लाद) करता है, वह हमारी ध्वनि है।

इसके विपरीत आह्लाद न होने पर) ३ प्रकार से घटित गुणीभूत-व्यङ्ग्य (-नामक काव्य) होता है ॥ १ ॥

[इसके पूर्व ध्वनि और उसके भेदो की चर्चा की जा चुकी है। ध्वनि के बाद गुणीभूत-व्यङ्ग्य का प्रसंग स्वाभाविक होने से यहाँ उसकी चर्चा की जा रही है।

आगे व्यङ्ग्य के ८ (८।१०) भेद बताये जायेंगे; आरंभिक रूप से ३ भेद बताकर फिर उप-विभाग द्वारा ८ भेद किये जायगे।

ध्वनि उत्तम काव्य माना जाता है। इसकी परिभाषा देते हुये मम्मट का कहना है कि वाच्य की अपेक्षा व्यङ्ग्य के बली होने पर यह (काव्य) उत्तम होता हुआ विद्वानों के द्वारा "ध्वनि" कहा गया है :—

इदमुत्तममतिशायिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः ।

"इसके विपरीत" का अर्थ है जहाँ वाच्य अर्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्य अर्थ बली न हो। "गुणीभूत" का अर्थ "गौण" है। जहाँ व्यङ्ग्य अर्थ गौण होता है, वहाँ गुणीभूत व्यङ्ग्य होता है, यह नाम से ही स्पष्ट है। मम्मट ने ऐसे काव्य को मध्यम माना है :—

अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमम् ।

इस प्रकार यहाँ दो प्रकार के काव्य बताये गये है :–(१) ध्वनि और (२) गुणीभूत व्यङ्ग्य। ध्वन्यालोक मे तीसरा भेद चित्र काव्य माना गया है और उसके २ उप-विभाग शब्द-चित्र और अर्थ-चित्र किये गये है। रस-गङ्गाधर मे यहा दिये गये दोनो प्रकार के काव्य उत्तम, अर्थालङ्कार-काव्य मध्यम और शब्दालङ्कार-काव्य अधम बताया गया है, इस प्रकार ४ भेद होते है। साहित्य-दर्पण मे इन ४ भेदो मे से प्रत्येक के २ भेद दृश्य काव्य और श्रव्य काव्य करने से ८ भेद प्रतिपादित किये गये है ॥ १ ॥]

व्यक्त एव क्वचिद् व्यङ्ग्यः क्वचिदर्थस्वभावतः ।
क्वचिच्चारुतरस्याग्रे स विमुञ्चति चारुताम् ॥ २ ॥

व्यक्त इति। **क्वचित्** कुत्रचन। **व्यक्तः** प्रकटः वाच्यः)। **एव**। **व्यङ्ग्यः** (भवति)। **क्वचित्** कुत्रचित्। **अर्थस्य स्वभावः** प्रकृतिः **अर्थस्वभावः** ततः **अर्थस्वभावतः** स्वाभाविकात् अर्थात्। **व्यङ्ग्यः** (भवति)। **क्वचित्** कुत्रापि (च)। **चारुतरस्य** रमणीयस्य (वाच्यस्य) **अग्रे** उपस्थितौ। **सः** व्यङ्ग्यः इत्यर्थः। **चारुताम्** रमणीयताम्। **विमुञ्चति** त्यजति ॥ २ ॥

व्यङ्ग्य कही प्रकट ही होता है, कही अर्थ की प्रकृति से (व्यङ्ग्य) होता है, और कहीं वह (व्यङ्ग्य) रमणीय (वाच्य) के आगे (अपनी) रमणीयता त्याग देता है ॥ २ ॥

[इस प्रकार प्रथम श्लोक में बताये गये ३ भेदो का ब्यौरा इस श्लोक मे दिया गया है:—

(१) वाच्यार्थ की तरह ही व्यङ्ग्यार्थ का भी प्रस्फुट होना; इसे प्रकट

व्यङ्ग्य कह सकते है, (२) वाच्यार्थ को विशिष्टता से व्यङ्ग्यार्थ का फीका पड जाना; इसे अचारु-व्यङ्ग्य कह सकते हैं तथा (३) वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ का हीन कोटि का होना; इसे चारुतर-वाच्य-व्यङ्ग्य कह सकते है ।।२।।]

अगूढं कलयेदर्थान्तरसङ्क्रमितादिकम् ।
विस्मृतः किमपां नाथ स त्वया कुम्भसम्भवः ।।३।।

अगूढमिति । **अर्थान्तरसंक्रमितम्** आदौ आरम्भे **अर्थान्तरसंक्रमितादि** तदेव **अर्थान्तरसंक्रमितादिकम्** अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यादि (व्यङ्ग्यम्) । अत्र आदिपदेन अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यस्य च पदगतशब्दार्थशक्तिमूल-सलक्ष्यक्रमस्य च व्यङ्ग्यस्य ग्रहणम् । **अगूढम्** (नाम गुणीभूतव्यङ्ग्यम्) । **कलयेत्** जानीयात् ।

(उदाहरति यथा) **अपां** जलानाम् **नाथ** स्वामिन् (सम्बुद्धौ) हे समुद्र इति यावत् । **त्वया** भवता । **सः** प्रसिद्धः समुद्रपाता अगस्त्यः इति यावत् । **किम् विस्मृतः** । "यत् एवम् आचरसि । न विस्मर्त्तव्य. । तस्मात् भेतव्यम्" इति आशयः ।। ३ ।।

अर्थान्तर-संक्रमित इत्यादि (व्यङ्ग्य) को अगूढ (-नामक गुणीभूत व्यङ्ग्य) जानना चाहिये ।

(उदाहरण:–) हे समुद्र, आप उस घड़े से उत्पन्न (समुद्र को पीने वाले अगस्त्य ऋषि) को क्या भूल गये ?

[मूल मे "आदि" पद से अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य और पद-गत-शब्दार्थ-शक्ति-मूल-संलक्ष्य-क्रम का ग्रहण किया जायेगा । यहाँ गुणीभूत व्यङ्ग्य का "अगूढ" नामक भेद किया गया है ।

अगूढ़ वह व्यङ्ग्य है जो इतना स्पष्ट होता है कि उसे वाच्यार्थ ही समझना चाहिये । ऐसा व्यङ्ग्य असहृदय भी समझ जाते है । उत्तम व्यङ्ग्य तब होता है जब वह न तो इतना गूढ होता है कि जल्दी समझ मे ही न आये और न इतना अगूढ होता है कि सहृदयों से भिन्न लोग भी समझ जायँ ।

उदाहरण मे "विस्मृतः", "अपां नाथ", "त्वया" तथा "कुम्भ-सम्भवः" पद

क्रमशः "नहीं भूलना चाहिये", "जड़ (ड और ल के समान होने से जल=जड) -नाथ", "समुद्र पीने वाले की सामर्थ्य से परिचित" तथा "समुद्र पान करने वाले अगस्त्य" का अर्थ देते हैं, अतः क्रमशः पद-गत अर्थ-शक्ति-मूल-ध्वनि, पद-गत शब्द-शक्ति-मूल-ध्वनि, अर्थान्तर-संक्रमित-वाच्य-ध्वनि तथा अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य ध्वनि के उदाहरण है। यह ध्वनि वाच्यार्थ जैसी प्रस्फुट होने से अगूढ हैं। अर्थ है कि तुम मूर्ख-राज हो, अतः समुद्र को पी जाने वाले अगस्त्य को भूल गये हो; तुम तो उनकी शक्ति से परिचित हो अतः उन्हे न भूलकर उनसे डरो ॥३॥]

अपरस्य रसादेश्चेदङ्गमन्यद्रसादिकम् ।
हा हा मत्कुचकाश्मीरलिप्तं भिन्नमुरः शरैः ॥४॥

अपरस्येति। **अन्यत्** अपरम्। **रस आदौ** आरम्भे यस्य तत् **रसादि** तदेव **रसादिकम्**। आदिपदेन भावादिग्रहणम्। **अपरस्य** अन्यस्य स्वभिन्नस्य इति अर्थः। **रसः आदौ** आरम्भे यस्य तस्य **रसादेः**। **अङ्गं** उत्कर्षकम्। **चेत्** यदि (तदा अपराङ्गं नाम गुणीभूतव्यङ्ग्यान्तरं भवति)।

(उदाहरति यथा) **हा हा** हन्त हन्त। मम नायिकायाः **कुचयोः** स्तनयोः **काश्मीरेण** कुङ्कुमेन **लिप्तं** व्याप्तं **मत्कुचकाश्मीरलिप्तम् उरः** वक्षः नायकस्य इत्यर्थः। **शरैः** बाणैः। **भिन्नं** विदीर्णम् ॥४॥

अगर एक रसादि दूसरे रसादि का अङ्ग हो जाय (तो अपराङ्ग-गुणीभूत-नामक गुणीभूत व्यङ्ग्य का दूसरा भेद होता है)।

(उदाहरणः—) हाय ! हाय ! मेरे (नायिका के) स्तनो के केसर से लिपा हुआ (नायक का) वक्ष बाणो से विदीर्ण हो गया ॥४॥

[श्लोक मे दोनो जगह "आदि" से भाव, रसाभास आदि का ग्रहण होगा।

श्लोक के पूर्वार्ध मे परिभाषा अधूरी है; गुणीभूत व्यङ्ग्य का नाम नही दिया गया है और "अगर" कहकर "तो" से शुरू होने वाला उपवाक्य नही दिया गया है। "(तदा) अपरस्य अङ्गम्" दूसरी बार जोडकर किसी तरह वाक्य पूरा माना जा सकता है।

यह वर्णन अपने पति की छाती रण मे बाण-विदीर्ण देखकर किसी नायिका की उक्ति हो सकता है।

रस सदा प्रधान होता है; वह यदि किसी का अङ्ग (सहायक) हो जाय तो उतना श्रेष्ठ नही रह जाता, अतः अपरांग-गुणीभूत-व्यङ्ग्य बनता है।

उदाहरण मे करुण रस स्पष्ट है। पूर्वानुभूत आलिंगन का स्मरण करने से शृंगार रस करुण रस का पोषक, अतः अंग (सहायक) हो गया है। ५।११७ मे यह प्रसंग अलंकार की चर्चा मे आ चुका है ॥४॥]

तथा वाच्यस्य सिद्ध्यङ्गं नौरर्थो वारिधेर्यथा।
संश्रित्य तरणिं धीरास्तरन्ति व्याधिवारिधीन् ॥५॥

तथेति। तथा एवम्। **वाच्यस्य** वाच्यार्थस्य। **सिद्धौ अङ्गं** सहायम् उपपादकम् इत्यर्थः (व्यङ्ग्यम् वाच्यसिद्ध्यङ्गं नाम गुणीभूतव्यङ्ग्यम् भवति)। दृष्टान्तम् आह। यथा उदाह्रियते वक्ष्यते इति यावत् **नौः** नौका (इति)। **अर्थः** व्यङ्ग्यार्थः। **वारिधेः** समुद्रस्य , इति वाच्याथस्य उपपादकः)।

(उदाहरति यथा) **धीराः** बुद्धिमन्तः। **तरणिं** सूर्यम्। **संश्रित्य** आश्रित्य। व्याधयः रोगाः एव **वारिधयः** समुद्राः तान् **व्याधिवारिधीन्** तरन्ति उत्तीर्णाः भवन्ति तत्र न मज्जन्ति इति यावत् ॥५॥

इसी प्रकार वाच्य (अर्थ) का सिद्धि मे सहायक (व्यङ्ग्य) होता है; जैसेः—(नीचे के उदाहरण मे) "नाव" ("तरणि" पद का व्यङ्ग्य) अर्थ (वाच्यार्थ) समुद्र का ("समुद्र" की सिद्धि मे) (सहायक है) ॥५॥

[श्लोक के पूर्वार्द्ध मे परिभाषा दी तो गई है, पर अधूरी है। गुणीभूत-व्यङ्ग्य का नाम परिभाषा के आधार पर या अन्य आचार्यों के ग्रन्थ से लेना पड़ता है। इस गुणीभूत व्यङ्ग्य का नाम वाच्य-सिद्ध्यङ्ग है।

श्लोक के उत्तरार्ध मे उदाहरण दिया गया है जिसमें सूर्य का वर्णन किया जा रहा है, अतः "तरणि" का एक-मात्र वाच्यार्थ "सूर्य" है। लेकिन "वारिधि" को पार करने के लिये आवश्यक "नौका" अर्थ भी इस ("तरणि")-से निकल सकता है जो व्यङ्ग्यार्थ है। इस प्रकार वाच्यार्थ (वारिधि-तरण) की सिद्धि मे व्यङ्ग्यार्थ योग-दान करता है, अतः वाच्य-सिद्ध्यङ्ग-नामक गुणीभूत व्यङ्ग्य है।

सूर्य की स्तुति या सूर्य-किरण के सेवन से व्याधि नष्ट होती है। पुराणों में कहा गया है कि आरोग्य की इच्छा सूर्य से करनी चाहियेः—

आरोग्यं भास्करादिच्छेत् ।

आयुर्वेद मे भी सूर्य का व्याधि-नाशक गुण मिलता है ॥५॥]

अस्फुटं स्तनयोरत्र कोकसादृश्यवन्मतम् ।
कुङ्कुमाक्त स्तनद्वन्द्वं मानसं मम गाहते ॥६॥

अस्फुटमिति । **अस्फुटम्** (नाम गुणीभूतव्यङ्ग्यं वक्ष्यमाणे उदाहरणे विद्यते) । अत्र वक्ष्यमाणे उदाहरणे । **स्तनयोः** कुचयोः (सादृश्यम्) । **कोकयोः** चक्रवाकयोः **सादृश्यं** समता तद्वत् **कोकसादृश्यवत्** । **मतम्** इष्टम् व्यङ्ग्यम् इत्यर्थः ॥६॥

(उदाहरति यथा) **कुङ्कुमेन** काश्मीरेण । **अक्तं** लिप्तं लोहितम् इत्यर्थः । **स्तनयोः** कुचयोः **द्वन्द्वं** युगलम् । **मम** मदीयम् । **मानसं** हृदयम् । **गाहते** प्रविशति ॥६॥

अस्फुटः—यहाँ (आगे के उदाहरण मे) "स्तन-द्वन्द्व" का अर्थ "चक्रवाको के जोडे की सदृशता वाला" अभिलषित है ।

(उदाहरणः—) केसर से लिप्त स्तन-युगल मेरे मन मे प्रविष्ट हो (मुझे याद आ) रहा है ॥६॥

[परिभाषा न देकर यहाँ केवल गुणीभूत व्यङ्ग्य का नाम दे दिया गया है । संक्षेप के लिये कोई न कोई बात प्रायः ग्रन्थकार के द्वारा छोड दी जाती है । यहाँ "अस्फुट" नाम से परिभाषा समझी जा सकती है कि "जहाँ व्यङ्ग्य की प्रतीति विलम्ब से होने से अस्पष्टता आये, वहाँ "अस्फुट" होता है" ।

उदाहरण का वर्णन नायिका के प्रति नायक की उक्ति हो सकता है ।

उदाहरण में एक स्तन दूसरे स्तन के समान है" बताने के लिये उसे केसर-युक्त कहकर चक्रवाकों का जोड़ा बनाया गया है । केसर के लाल रंग से रंगे होने से स्तन चकवाक-युगल हैं, अतः पूर्ण रूप से समान है" यह व्यङ्ग्य अर्थ सहृदयों से भी बहुत देर मे निकल पाता है, अतः यह "अस्फुट" का उदाहरण है ॥६॥]

संदिग्धं यदि संदेहो दैर्घ्याद्युत्पलयोरिव ।
संप्राप्ते नयने तस्याः श्रवणोत्तंसभूमिकाम् ॥७॥

सन्दिग्धमिति। **यदि** चेत्। (वक्ष्यमाणे उदाहरणे) **दैर्घ्यम्** दीर्घता **आदि** आद्य यस्य तत् **दैर्घ्यादि** (वाच्यार्थः) तत् च **उत्पलं** (व्यङ्ग्यार्थः) नीलकमलं च **दैर्घ्याद्युत्पले** तयोः **दैर्घ्याद्युत्पलयोः** (कतरः अर्थः प्रधानः इति)। **इव**। (वाच्यव्यङ्ग्ययोः अर्थयोः) **सन्देहः** संशयः। (तदा) **सन्दिग्धम्** नाम गुणीभूतव्यङ्ग्य भवति)।

(उदाहरति यथा । **तस्याः** नायिकायाः इत्यर्थः। **नयने** नेत्रे **श्रवणयोः** कर्णयोः **उत्तसः** (कर्ण-) भूषणं तस्य भूमिः एव **भूमिका** स्थानम् ताम् **सम्प्राप्ते** गते। कर्णान्तिदीर्घे इति आशयः ॥७॥

अगर (निम्नाकित उदाहरण मे) दीर्घतादि-(तथा) कमलवत् सन्देह हो तो सन्दिग्ध (-नामक गुणीभूत व्यङ्ग्य) होता है।

(उदाहरणः-) उस (नायिका)-के नेत्रो ने कान के गहने का स्थान पा लिया ॥ ७ ॥

[उदाहरण मे नेत्रो का कानो तक पहुँचना बताया गया है जिससे वाच्यार्थ यह निकला कि आँखे बहुत बड़ी है। साथ ही "उनका कर्ण-भूषण पद पा लेना" यह व्यङ्ग्य अर्थ सूचित करता है कि वे कर्ण-भूषण-स्वरूप कमल हो गई है। इन दो प्रकार के—वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ—अर्थों मे कौन प्रधान है, यह संदेह होता है, अतः संदिग्ध-नामक गुणीभूत व्यङ्ग्य है।

सन्दिग्ध के लिये सन्देह-प्राधान्य शब्द का भी व्यवहार होता है।

परिभाषा स्पष्ट नही है। स्पष्ट कहना चाहिये था कि वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ मे कौन प्रधान है, यह संदेह हो तो सदिग्ध होता है ॥ ७ ॥]

तुल्यप्राधान्यमिन्दुत्वमिव वाच्येन साम्यभृत्।
कान्ते त्वदाननरुचा म्लानिमेति सरोरुहम् ॥८॥

तुल्येति। (वक्ष्यमाणे उदाहरणे) **वाच्येन** वाच्यार्थेन पङ्कजपराभवरूपेण। **साम्यभृत** समतधारकम्। **इन्दुत्वम्** चन्द्रत्वम् व्यङ्ग्यम्। **इव** (व्यङ्ग्यम्)। **तुल्यप्रधान्यम्** (तुल्यं सम प्राधान्यम् **मुख्यता** वाच्यव्यङ्ग्ययोः अर्थयोः इति) (नाम **गुणीभूतव्यङ्ग्यम्** भवति)।

(उदाहरति यथा) **कान्ते** ये । तव **आननस्य** वदनस्य **रुचा** कान्त्या । **सरोरुहम्** कमलम् । म्लानिम् मालिनता तद्रूपं पराभवम् इतिआशयः । **एति** याति ॥ ८ ॥

(निम्न उदाहरण मे) इन्दुत्व (व्यङ्ग्य अर्थ) को भाँति वाच्य (अर्थ) की समता धारण करने वाला होता हुआ तुल्य-प्राधान्य (नामक गुणाभूत-व्यङ्ग्य) होता है ।

(उदाहरणः--) हे प्रिये, कमल तुम्हारी मुख-कान्ति से म्लान हो रहा है ॥८॥

[वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ के समान होने पर तुल्य-प्राधान्य होता है । उदाहरण में कमल का पराभव वाच्यार्थ है । कमल का पराभव चन्द्रमा से होता है, पर यहाँ मुख से कहा गया है, "अतः मुख चन्द्र के तुल्य है" (यह) व्यङ्ग्यार्थ है । इन दोनो के समान होने से किसी की प्रधानता नही है, अतः तुल्य-प्राधान्य है । ऐसी स्थिति मे वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ दोनो चमत्कार-पूर्ण होते है ।

यह वर्णन नायिका के प्रति नायक की उक्ति हो सकता है ॥८॥]

असुन्दरं यदि व्यङ्ग्यं स्याद् वाच्यादमनोहरम् ।
सरस्यामीलदम्भोजे चक्रः कान्तां विलोकते ॥९॥

असुन्दरमिति । **यदि** चेत् । **व्यङ्ग्यं** व्यङ्ग्यार्थः । **वाच्यात्** वाच्यार्थात् । न **मनोहरम्** **अमनोहरम्** अरमणीयम् । **स्यात्** भवेत् (तदा) । **असुन्दरम्** (नाम गुणीभूतव्यङ्ग्यम् भवति ।)

(उदाहरति यथा) **आमील**न्ति ईषत् सङ्कुचन्ति **अम्भोजानि** कमलानि यस्मिन् तस्मिन् **आमीलदम्भोजे** । **सरसि** तडागे । **चक्रः** चक्रवाकः पक्षी । **कान्तां** प्रिया चक्रवाकीम् इत्यर्थः । **विलोकते** दीनदृष्ट्या ॥९॥—

अगर व्यङ्ग्य (अर्थ) वाच्य (अर्थ) की अपेक्षा रमणीय न हो तो असुन्दर (-नामक गुणीभूत व्यङ्ग्य) होता है ।

(उदाहरण.—) थोडा मुरझा रहे कमलो वाले तालाब मे चकवा (अपनी) प्रिया को देख रहा है ॥९॥

[मुरझाते कमलों वाले तालाब से "प्रिया को (दीन दृष्टि से) देखना" वाच्यार्थ बहुत रमणीय है। इसकी अपेक्षा यह व्यङ्ग्यार्थ कि "कमलों के थोड़ा मुरझाने से रात निकट अतः वियोग अवश्यम्भावी है" हीन है, अतः "असुन्दर" नामक गुणीभूत व्यङ्ग्य ह ॥९॥]

काकुस्थं प्रणतोऽम्भोधिरद्य माद्यतु रावणः।
इत्यष्टधागुणी भूतव्यङ्ग्यमङ्गीकृतं बुधैः ॥१०॥

काकुस्थमिति। (अथ) काकुस्थम् (काकौ ध्वनिविकारे तिष्ठति इति) (नाम गुणीभूतव्यङ्ग्यम्)।

(उदाहरति यथा) अद्य अधुना। अम्भोधिः सागरः। प्रणतः नम्रः रामस्य समक्षम् इत्यर्थः। रावणः लङ्केश्वर। माद्यतु दर्पयुक्तः भवतु।

इति इत्थम्। बुधैः विद्वद्भिः गुणीभूतव्यङ्ग्यम्। अष्टधा अष्ट-प्रकारम्। अङ्गीकृतं स्वीकृतम् ॥ १० ॥

काकुस्थ (-नामक गुणीभूत व्यङ्ग्य)

(उदाहरणः—) आज समुद्र नम्र हो गया है; रावण घमंड दिखाये।

इस प्रकार विद्वानो के द्वारा गुणीभूत व्यङ्ग्य आठ प्रकार का स्वीकार किया गया है ॥१०॥

[रामचन्द्र जी के डर से समुद्र के नम्र होकर रास्ता दे देने पर ताना दिया गया है कि "अब रावण घमंड दिखाये न!" रावण (क्या) घमंड दिखायेगा?" इस प्रकार अर्थ करने पर प्रश्न भी हो सकता है। दोनो स्थितियों में ध्वनि के विकार (काकु) से दूसरा अर्थ निकलता है, अतः यहाँ काकुस्थ-नामक गुणीभूत व्यङ्ग्य है।

श्लोक ३ से श्लोक १० तक गुणीभूत व्यङ्ग्य के ८ भेद बताये गये हैं। इन ८ भेदों का कारण या आधार ३ प्रकार का होता है जो श्लोक २ में बताया गया है।

काकुस्थ का दूसरा नाम काक्वाक्षिप्त भी पाया जाता है। काकुस्थ में व्यङ्ग्य वाच्यार्थ का सहायक नहीं होता।

"रामचन्द्र जी समुद्र पर सेतु बनाकर लङ्कापुरी में आ गये हैं; अब रावण यह घमंड त्याग दे कि लङ्का पुरी समुद्र की परिखा से सुरक्षित है" यह व्यङ्ग्यार्थ है।

सङ्कर और संसृष्टि से भेदों की संख्या बढ जायेगी। वस्तु से अलङ्कार की ध्वनि होने पर गुणीभूत व्यङ्ग्य नहीं होता, क्योंकि वस्तु की अपेक्षा अलङ्कार अधिक चमत्कार-कारी होता है और व्यङ्ग्य के वाच्य की अपेक्षा अधिक चमत्कार-कारी होनेपर व्यङ्ग्य (उत्तम काव्य) होता है; गुणीभूत-व्यङ्ग्य (मध्यम काव्य) नहीं॥१०॥]

महादेवः सत्रप्रमुखमखविद्यैकचतुरः
सुमित्रा तद्भक्तिप्रणिहितमतिर्यस्य पितरौ।
मयूखस्तेनासौ सुकविजयदेवेन रचिते
चिरं चन्द्रालोके महति वसुसंख्यः सुखयतु॥११॥

इति चन्द्रालोकालङ्कारे गुणीभूतव्यङ्ग्य निरूपणो नामाष्टमो मयूखः॥

[तेन (जयदेवेन इत्यर्थः) (उसके द्वारा), महति (विशाले चन्द्रालोकाख्ये ग्रन्थे इत्यर्थः) (बडा), वसुसंख्यः (वसवः अष्ट सङ्ख्या यस्य सः मयूखः इत्यर्थः) (आठ की संख्या वाला अर्थात् आठवाँ) गुणीभूतव्यङ्ग्यनिरूपणः (गुणीभूतं च तत् व्यङ्ग्यं च गुणीभूत व्यङ्ग्यम् तस्य निरूपणं यत्र) (गुणीभूत-व्यङ्ग्य-निरूपण-नामक) तथा अष्टमः (आठवां)।

उक्त शब्दों के अतिरिक्त शेष १।१६ में देखा जा सकता है।

ऋक्-संहिता तथा पुराणों में वसु आठ बताये गये है, अतः आठ के लिये संस्कृत में वसु शब्द का प्रयोग खूब होता है। ऐसे प्रयोग शास्त्रों को भी काव्यमय भाषा और छन्दों में लाना संभव बनाकर संस्कृत को अद्वितीय बनाते हैं, हिन्दी में भी संस्कृत के अनुकरण पर ऐसे प्रयोग रहीम, हरिऔध आदि की रचनाओं में देखे जाते हैं। वसुओं की नामावली भिन्न-भिन्न देखी जाती है। अग्निपुराण में निम्नांकित नाम मिलते हैं:—

(१) ध्रुव, (२) धर, (३) सोम, (४) आप (अप्), (५) वायु, (६) अग्नि, (७) प्रत्यूष और (८) प्रभास॥११॥]

नवमो मयूखः

मुख्यार्थस्याविवक्षायां पूर्वाऽर्वाची च रूढितः ।
प्रयोजनाच्च सम्बद्धं वदन्ती लक्षणा मता ॥१॥

मुख्येति । मुख्यः प्रधानः अभिधेयः इति यावत् च सः **अर्थः** च तस्य **मुख्यार्थस्य** । न विवक्षा वक्तुम् इच्छा **अविवक्षा** तस्याम् **अविवक्षायाम्** । **सम्बद्धं** मुख्यार्थसम्बद्धम् अर्थान्तरम् । **वदन्ति** प्रतिपादयन्ति । **लक्षणा** (नाम) । **मता** इष्टा । (सा) **रूढितः** लोकप्रसिद्धेः । **च पूर्वा** नाम । **प्रयोजनात्** वक्तुः तात्पर्यात् । **च** । **अर्वाची** नाम (भवति) ॥ १ ॥

प्रधान (अभिधेय) अर्थ के अभीष्ट न होने पर (उससे) संबद्ध (अर्थ) का प्रतिपादन करने वाली (वृत्ति) लक्षणा मानी गई है । (वह) लोक-प्रसिद्धि से पूर्वा (नाम) और प्रयोजन से अर्वाची (नाम) होती है ॥१॥

[शब्द की तीन वृत्तियों मे से व्यञ्जना का वर्णन करने के बाद यहाँ लक्षणा का वर्णन किया जा रहा है ।

शाब्दिक अर्थ मुख्य माना, और अभिधा वृत्ति से जाना जाता है। इसे अभिधेयार्थ भी कहते हैं । वक्ता को अभिधेयार्थ अभीष्ट न होने पर उससे सम्बद्ध अर्थ अभीष्ट होता है जो या तो रूढि से निकलता है या किसी प्रयोजन के कारण । दोनो स्थितियो में लक्षणा वृत्ति होती है । यहाँ इसके दो भेद किये गये हैं:—(१) पूर्वा जिसे निरूढ-लक्षणा भी कहते हैं तथा (२) अर्वाची जिसे प्रयोजन-लक्षणा, स्वारसिकलक्षणा या फल-लक्षणा भी कहते हैं ।

हर शब्द के साथ एक अर्थ संबद्ध रहता है । शब्द की उत्पत्ति के साथ-साथ जो अर्थ संबद्ध होता है, उसे मुख्य अर्थ कहते हैं । प्रयोग मे आते रहने से शब्द मे परिवर्तन-परिवर्धन आदि होता रहता है । इस प्रकार आया अर्थ रूढ़ि से प्राप्त

कहा जाता है। प्रयोजन से लक्षणा तब होती है जब कोई बात नये ढंग से कही जाती है। ऐसी लक्षणा मे महाभाष्य (४।१।४८ सूत्र पर) के अनुसार तात्स्थ्य, ताद्धर्म्य, सामीप्य तथा साहचर्य सम्बन्ध से अभिधेयार्थ को बाधित कर लक्ष्यार्थ प्रगट होता है। इनके उदाहरण क्रमश "मञ्चाः हसन्ति" (खाटे हँसती है = खाट पर बैठे व्यक्ति हँसते है), "सिंहो माणवकः" (लडका शेर है = लड़का शेर के समान है), "गङ्गाया घोषः" (गङ्गा मे अहीरों का गाँव है = गङ्गा के तट पर अहीरों का गाँव है) तथा "यष्टिः प्रवेशत"(लाठियो को अन्दर आने दो= लाठी लिये हुये आदमियों को अन्दर आने दो) है। कोष्ठ में पहले अभिधेयार्थ देकर "=" चिह्न के बाद लक्ष्यार्थ दिया गया है जो प्रयाजन के अनुरोध से अपने आप निकल आता है।

लक्षणा के दो अर्थ हैः—(१) "लक्षणमेव लक्षणा" व्युत्पत्ति के अनुसार लक्ष्यार्थ-ज्ञान लक्षणा है तथा (२) "लक्ष्यतेऽनयेति लक्षणा" व्युत्पत्ति के अनुसार लक्ष्यार्थ ज्ञान को उत्पन्न करने वाला व्यापार लक्षणा है। मीमांसक लोग पहला अर्थ लेते हैं और यही मम्मट को भी स्वीकार है।

शब्द से अर्थ किस तरह निकलता है, इसके बारे मे साहित्य-शास्त्र के पहले ही व्याकरण, न्याय और पूर्व मीमासा मे पर्याप्त निरूपण किया गया है। ऊपर पतंजलि की चर्चा की गई है। वैयाकरण भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के काण्ड २ के श्लोक २५४, २५७, ३११ व ३१४ मे लक्षणा की चर्चा की है। न्याय शास्त्र मे गौतम ने लक्षणा की चर्चा न्याय-दर्शन के अध्याय २ के आह्निक २ के सूत्र ६४ मे की है। मीमांसा शास्त्र मे कुमारिल भट्ट ने तन्त्र-वार्तिक अध्याय १।४ के सूत्र २२ व अध्याय ३।१ के सूत्र ८ मे लक्षणा की चर्चा की है। इनके अतिरिक्त अभिधा-वृत्ति-मातृका, काव्य-प्रकाश, तत्त्व- चिन्तामणि, शब्द-शक्ति-प्रकाशिका, साहित्य-दर्पण, न्याय-सिद्धान्त-मुक्तावली, वेदान्त-परिभाषा, रस-गङ्गाधर, वृत्ति-वार्तिक, वैयाकरण-मञ्जूषा, त्रिवेणिका आदि ग्रन्थो मे लक्षणा का निरूपण किया गया है।

"निरूपण-लक्षणा" का उदाहरण "कलिङ्गः साहसिकः" है। "कलिंग" शब्द का अभिधेय (मुख्य) अर्थ "कलिग देश" और रूढ (प्रसिद्ध) अर्थ "कलिग-देश-निवासी है"। वक्ता को कलिग से "कलिग-वासी" अर्थ अभीष्ट है

और वह अर्थ "साहसिकः" विशेषण को देखते हुये अपेक्षित भी है क्योंकि कलिग देश जड़ होने के कारण साहसी नही हो सकता। कलिग-देश से कलिग-वासी का संयोग-संबंध है। "प्रयोजन-लक्षणा" या "प्रयोजन-वती" (लक्षणा) के उदाहरण ऊपर दिये जा चुके है।

यदि यह कहा जाये कि "कलिङ्ग" के उक्त दोनो अर्थ अभिधा से माने जायँ तो क्या हर्ज है; लक्षणा मनाने की क्या जरूरत" तो इसका समाधान यह है कि अभिधा मानने पर "कलिङ्ग" शब्द को द्व्यर्थक मानना पड़ेगा और फिर वाच्यार्थ का निर्धारण करने के लिये प्रसंगादि की अपेक्षा होगी। व्यर्थ मे प्रसंगादि को प्रतिबन्धक बनाकर विलम्ब करने से क्या लाभ जब कि लक्षणा से अर्थ आसानी से निकल आता है।

कुछ प्राचीन आचार्य अन्वयानुपपत्ति (अन्वय का अभाव) तथा तात्पर्यानुपत्ति (अर्थ का अभाव) को लक्षणा का निमित्त बताते हैं; यह ठीक नही है। "कव्वे से रोटी की रक्षा करना" वाक्य मे अन्वय और आशय का अभाव नहीं है, फिर भी लक्षणा से यह अर्थ लगेगा कि "कव्वे-जैसे सभी रोटी ले जाने वालों से रक्षा करना"। इस तरह अन्वय की अनुपपत्ति न होने पर भी लक्षणा मानना आवश्यक है। तात्पर्यानुपपत्ति वृत्ति केवल शब्द और अर्थ का सम्बन्ध बताती है; केवल उससे उक्त उदाहरण में अभीष्ट अर्थ "अपहारक" नहीं लग सकता; दोनो ही स्थितियों में लक्षणा माननी पडेगी ॥१॥]

लक्षणीयस्वशब्दस्य मीलनामीलनाद् द्विधा।
लक्षणा सा त्रिधा सिद्धसाध्यसाध्याङ्गभेदतः ॥२॥

लक्षणीयेति। सा पूर्वोक्ता। **लक्षणा** भेदद्वयवती पूर्वा च अर्वाची च। **लक्षणीयं** लक्ष्यं च तत् **स्वं** वस्तु च **लक्षणीयस्वम्** लक्ष्यार्थः तस्य **शब्दस्य** वाचकस्य। **मीलनम्** अकीर्त्तनम् (अनुपादानम् इति यावत्) च **अमीलनम्** कीर्त्तनम् (अनुपामृदान इति यावत्) च **मीलनामीलनं** (समाहारः) तस्मात्। **द्विधा** द्विप्रकारका (भवति। एवं चत्वारः भेदाः)। **सा** पूर्वोक्ता भेदचतुष्टयविशिष्टा। **लक्षणा। सिद्धम्** उद्देश्यम् च **साध्यं** विधेयं च

साध्याङ्गं विधेयान्वयि इति भेदात् भिदः। त्रिधा त्रिप्रकारका। एवं द्वादश भेदाः ॥ २ ॥

वह लक्षणा, लक्ष्यार्थ-बोधक (शब्द) के ग्रहण न करने और (ग्रहण) करने से दो प्रकार की होती है तथा उद्देश्य, विधेय और विधेयान्वयी (विधेय-सम्बद्ध) भेदो से तीन प्रकार की होती है ॥ २ ॥

[इस श्लोक मे पूर्वा और अर्वाची मे से प्रत्येक के २-२ भेद बताये गये जिससे कुल ४ भेद हुये। इन ४ भेदो मे से प्रत्येक के ३-३ भेद होने से कुल १२ भेद हो गये। पूर्वा और अर्वाची मे से प्रत्येक के ६-६ भेद होगे। ९।२ के पूर्वार्ध के अनुसार हर एक के २-२ उपभेद कर ९।२ के उत्तरार्ध के प्रत्येक उपभेद के पुनः ३-३ भेद करेगे जिसमे ६-६ भेद हो जायेंगे।

यहाँ एक बात विशेष रूप से समझने की है। लक्ष्य-बोधक पद का अर्थ है लक्षक के अतिरिक्त लक्ष्य-बोधक पद, क्योकि लक्षक तो लक्षणा मे हर हालत मे रहेगा ही और वह लक्ष्य-बोधक होता ही है; फिर "मीलन" (अनुपस्थिति) का प्रश्न ही कैसे पैदा होगा !

"शुक्लो घट." और "अग्निर्माणवक:" में लक्ष्य-वाचक पद का अमीलन (उपादान या नित्य सम्बन्ध) है। "शुक्ल" और "अग्नि" लक्षक शब्द है और लक्ष्य बोधक शब्द भी है। "घट" और "माणवक" जब क्रमशः घड़े और लड़के का अर्थ देते है तब इन अर्थो के वाचक और जब शुक्लत्व-गुण (विशेषण) विशिष्ट (वाले) घट तथा अग्नित्व-गुण (विशेषण)-विशिष्ट (वाले) माणवक का अर्थ देते है तब लक्ष्य-बोधक भी है। इस प्रकार हर उदाहरण का हर शब्द लक्ष्य-बोधक है।

"श्वेतो धावति" तथा "कुन्ताः प्रविशन्ति" मे "श्वेत" और "कुन्त" लक्षक हैं और लक्षक ही अकेला लक्ष्य-बोधक शब्द है; दूसरे लक्ष्य-बोधक शब्द का मीलन (अनुपस्थिति) है। केवल वैयाकरण इन उदाहरणों मे दूसरा लक्ष्यार्थ-बोधक शब्द होना मानते है। उनके अनुसार क्रिया का अर्थ आश्रय होता है जिससे क्तिन् प्रत्यय ("धावति" की) ति और ("प्रविशन्ति" की) "न्ति" का अर्थ इनका आश्रय अर्थात् "पुरुष" है और "पुरुष" लक्षक" पद

के अतिरिक्त लक्ष्य-बोधक पद है, अतः "धावति" और "प्रविशन्ति" भी लक्ष्य-बोधक हैं। यह मत साहित्य, न्याय आदि मे मान्य नही है; प्रसंग-वश उल्लेख कर दिया गया है। काव्य-प्रकाश, साहित्य-दर्पण आदि ग्रन्थो मे लक्ष्यार्थ-बोधक शब्द होने और न होने पर क्रमशः "सारोपा" और "साध्यवसाना" नाम दिया गया है।

श्लोक के उत्तरार्ध के अनुसार किये गये ३ भेदो के उदाहरण निम्न-लिखित है (इसी आधार पर अन्य उपयुक्त उदाहरण बनाकर उक्त ४ भेदो मे से प्रत्येक के ३-३ भेद कर १२ उदाहरण बनाये जा सकते है) :—

"रे पाषाण उक्तं गृहाण" वाक्य मे "पाषाण" (पत्थर) से मूर्ख अर्थ लिया जायेगा जो लक्ष्यार्थ है। पाषाण लक्ष्यार्थ-बोधक शब्द है। यह शब्द उद्देश्य का अङ्ग है, अतः यह उदाहरण सिद्ध-लक्षणा का हुआ। "कामिनीवचोऽमृतम्" उदाहरण मे अमृत का अर्थ लक्षणा से आनन्द-दायी है अतः यह लक्ष्यार्थ-बोधक है। यह शब्द विधेय है, अतः यह उदाहरण साध्य-लक्षणा का हुआ। "गङ्गाया घोषः" उदाहरण में घोष विधेय है। पूरा अर्थ अन्वय-वाची (सम्बन्धी) शब्द 'गङ्गाया" मे "तट" अर्थ के लिये लक्षणा करने पर निकलता है, अतः यह उदाहरण साध्याङ्ग-लक्षणा का हुआ ॥ २ ॥]

स्फुटास्फुटप्रभेदेन प्रयोजनमपि द्विधा।
विदुः स्फुटं तटस्थत्वादर्थगत्वाद् द्विधा बुधाः ॥३॥

स्फुटेति। **स्फुटम्** अगूढं च **अस्फुटं** गूढं च **स्फुटास्फुटे** तयोः **प्रभेदः** भेदः तेन **स्फुटास्फुटप्रभेदेन।** **प्रयोजनम्** लक्षणाप्रयोजनम्। **द्विधा** द्विप्रकारकम्। **बुधाः** विद्वांसः। **स्फुटम्** अगूढव्यङ्ग्या लक्षणाम्। **अपि** च। **तटस्थत्वात्** लक्षणा तटस्थप्रयोजना भवति इति हेतोः इति। **अर्थः।** **अर्थगत्वात्** लक्षणा अर्थग (-त) -प्रयोजना भवति इति हेतोः (च)। **द्विधा** द्विप्रकारकम् **विदुः।** अभिदधुः ॥ ३ ॥

विद्वानों ने लक्षणा का प्रयोजन स्फुट और अस्फुट के भेद से दो प्रकार तथा स्फुट (को) तटस्थ और अर्थ-गत होने के कारण दो प्रकार का कहा है ॥ ३ ॥

पूर्वा (निरूढ-) लक्षणा में व्यङ्ग्यार्थ नही होता। अर्वाची मे व्यङ्ग्यार्थ ही प्रयोजन होता है, अतः उसका विशेष महत्त्व है तथा उसकी भेद-संख्या अधिक है।

स्फुट (प्रयोजन) में व्यङ्ग्य स्पष्ट होता है जिससे वह सामान्य व्यक्ति के द्वारा भी आसानी से जाना जा सकता है। अस्फुट (प्रयोजन) मे व्यङ्ग्य गूढ़ होता है, अतः केवल काव्य-वेत्ता ही उसे समझ पाते है। "अग्निर्माणवकः" उदाहरण मे "बालक अग्नि के समान तेजस्वी है" (इस) अर्थ की प्रतीति अभिधेयार्थ की भाँति तुरन्त हो जाती है, अतः यहाँ स्फुट (प्रयोजन) है। "पटोऽयं दग्धः" उदाहरण मे "कपडे का एक हिस्सा जल गया है; अवशिष्ट भाग भी कपडे के खण्डित हो जाने से व्यर्थ है" (इस) अर्थ की प्रतीति काव्य-मर्मज्ञों को ही होती है, अतः यहाँ अस्फुट (प्रयोजन) है।

स्फुट (प्रयोजन) के २ भेदों में से पहला "तटस्थ" है। जब प्रयोजन की प्रतीति लक्ष्य (लक्ष्यार्थ) और लक्षक पद (के अर्थों) मे नहीं होती, तब प्रयोजन तटस्थ माना जाता है। "समासोक्ति" के उदाहरणो में यह पाया जाता है। उदाहरण निम्न-लिखित है :—

अयमैन्द्रीमुखं पश्य रक्तश्चुम्बति चन्द्रमा.।

इस उदाहरण मे पर नायिका (पूर्व दिशा) के प्रति आसक्त नायक (चन्द्रमा) की प्रतीति कराना प्रयोजन है और "मुखं चुम्बति" लाक्षणिक प्रयोग इसी प्रयोजन के लिये है। उस (प्रयोजन) की प्रतीति नायक (चन्द्रमा) मे हो रही है; न तो लक्षक पद के अर्थ "मुख चूमता है" में और न लक्ष्यार्थ "अग्र भाग का स्पर्श करता है" मे ही। प्रयोजन (नायक नायिका के वृत्तात की प्रतीति) व्यञ्जना व्यापार से जाना जाता है। यह व्यङ्ग्यार्थ (जो प्रयोजन है) वाच्य का सहायक होने से गुणीभूत होकर समासोक्ति हो गया है।

स्फुट (प्रयोजन) के दूसरे भेद "अर्थ-गत" में प्रयोजन लक्ष्य (लक्ष्यार्थ) या लक्षक पद (के अर्थ) मे रहता है; उदाहरण आगे दिया जायेगा ॥ ३ ॥]

अस्फुटं चार्थनिष्ठत्वात्ताटस्थत्वादपि द्विधा।
लक्ष्यलक्षकनिष्ठत्वादर्थसंस्थमपि द्विधा ॥ ४ ॥

अस्फुटमिति । अस्फुटं नाम प्रयोजनम् इत्यर्थः। **अपि । अर्थनिष्ठत्वात्** अर्थ-ग (-त)- त्वात् । **तटस्थत्वात्** । च । **द्विधा** द्विप्रकारक (भवति)। **अर्थसंस्थम्** अर्थ-ग (-त)- म् । **अपि** च । **लक्ष्यं** लक्ष्यार्थः च **लक्षकं** (पदं) लक्षकपदार्थः च लक्ष्यलक्षके तयोः निष्ठं स्थितं तस्य भावः तत्त्वं तस्मात् **लक्ष्यलक्षकनिष्ठत्वात्** । **द्विधा** द्विप्रकारक (भवति) ॥ ४ ॥

और स्फुट (प्रयोजन) अर्थ-ग (-त) और तटस्थ होने के कारण दो प्रकार का होता है तथा अर्थ-ग (-त) लक्ष्य (अर्थ)-गत और लक्षक (पदार्थ)- गत होने से दो प्रकार का होता है ॥ ४ ॥

[यहाँ अर्थ-ग (-त) आदि शब्दों के पर्याय-वाची होने से इन्हे पारिभाषिक न मानकर विशेषण माना जा सकता है ।

पिछले श्लोक मे "तटस्थ" की व्याख्या की गई है ।

अस्फुट (प्रयोजन) के तटस्थ भेद का उदाहरण निम्नांकित है :—

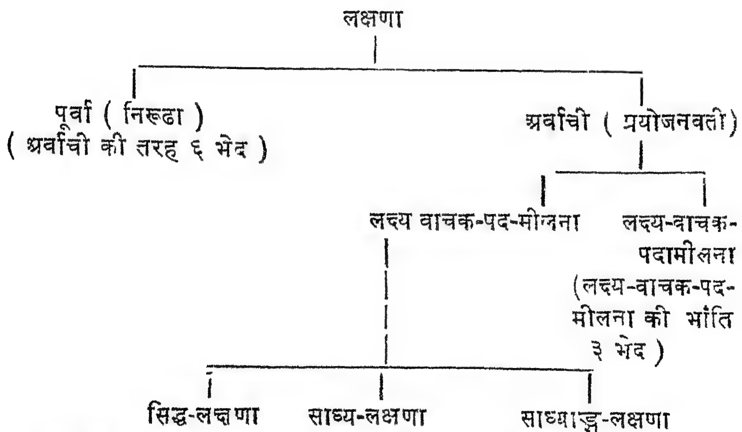
मुखं विकसितस्मितं वशितवक्रिमप्रेक्षितं
समुच्छलितविभ्रमा गतिरपास्तसंस्था मतिः ।
उरो मुकुलितस्तनं जघनमंसबन्धोद्धुरं
बतेन्दुवदनातनौ तरुणिमोद्गमो मोदते ॥

उक्त उदाहरण में प्रयोजन गूढ़ है । स्मित (मुस्कराहट) विकसित नहीं होती; विकसित फूल होता है । विकसित असंकुचित अर्थात् फैला हुआ होता है, अतः "अत्यधिक" लक्ष्यार्थ है जो मुख्य (अभिधेय) अर्थ (विकसित) का बाध कर देता है । प्रयोजन, मुस्कराहट मे फूल की तरह रमणीयता, सुगन्ध आदि दिखाना है । यह प्रयोजन न तो लक्षक-पद के अर्थ (खिले-हुये) में है और न लक्ष्यार्थ (अत्यधिक) में है, अतः तटस्थ है ।

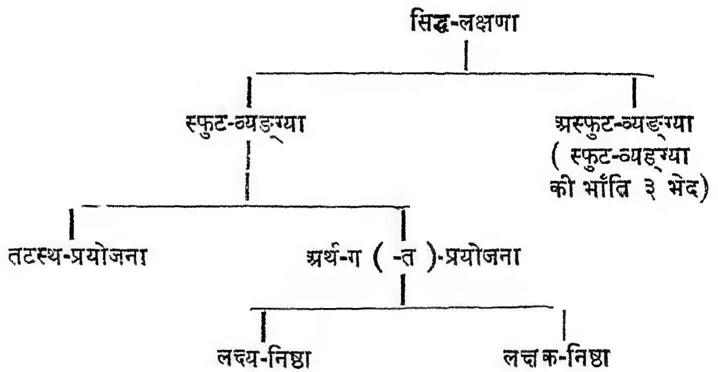
अर्थ-ग (-त) प्रयोजन "रूपक" अलंकार में देखा जाता है । लक्ष्य-गत प्रयोजन का उदाहरण "इन्दुमुखम्" है । इन्दु (चन्द्रमा) को देखकर कहा गया है कि यह (नायिका का) मुख है । इन्दु मुख नहीं हो सकता जिससे मुख (अभिधेय) अर्थ में बाधा आती है, और लक्ष्यार्थ निकलता है कि मुख चन्द्रमा से अभिन्न है । इसमें प्रयोजन, उत्कृष्टता, शीतलता, सुन्दरता, आदि

दिखाना है जो लक्ष्यार्थ मुख में है। लक्षक-गत (प्रयोजन) का उदाहरण "मुखमिन्दुः" है (नायिका का) मुख देखकर उसे इन्दु (चन्द्रमा) बताया गया है। मुख इन्दु नहीं हो सकता, अतः मुख (अभिधेय) अर्थ का बाध होता है और फिर "मुख से अभिन्न चन्द्रमा" (इस) लक्ष्य (अर्थ) की प्रतीति लक्षणा से होती है। प्रयोजन कान्ति आदि मुख मे दिखाना है जो लक्षक पदार्थ (मुख) में होने से प्रयोजन लक्षक-गत है। ये दोनों उदाहरण स्फुट (प्रयोजन) के है। इनके आधार पर अस्फुट (प्रयोजन) के उदाहरण भी बताये जा सकते है।

इस प्रकार प्रयोजन से सम्बन्ध न होने के कारण पूर्वा लक्षणा ६ प्रकार की ही हुई (श्लोक १ व २)। अर्वाची के भी उक्त ६ भेद हुये जिनमे से प्रत्येक के २-२ भेद (स्फुट और अस्फुट) होने से अर्वाची के कुल १२ भेद हुये। इन १२ भेदों मे से प्रत्येक के ३-३ भेद (श्लोक ३-४) होने से अर्वाची के कुल ३६ भेदके हो गये। पूर्वा और अर्वाची के भेदो को मिलाकर लक्षणा के ४२ भेद हो गये :—



अर्वाची के इन ६ भेदो मे से प्रत्येक के ६-६ भेद होने से (६×६=) ३६ भेद हो जायेंगे। नमूने के लिये सिद्ध-लक्षणा के ६ भेद नीचे दिखाये जाते हैं :—



इस प्रकार कुल ४२ भेद हो गये ॥ ४ ॥]

लक्षकस्थं स्फुटं यत्र सा विचक्षणलक्षणा ।
अस्फुटत्वं तटस्थत्वं लक्ष्यस्थत्वममुष्य च ॥ ५ ॥

लक्षकस्थमिति । यत्र यस्यां लक्षणायाम् । लक्षके लक्षकपदार्थे तिष्ठति इति लक्षकस्थम् (प्रयोजनम्) । स्फुटम् अगूढम् (भवति) । सा (लक्षणा) विचक्षणलक्षणा (नाम भवति) । अमुष्य अस्य प्रयोजनस्य इत्यर्थः । च । अस्फुटत्वम् । तटस्थत्वम् । लक्ष्यस्थत्वम् । च । एवं त्रयः भेदाः तटस्थं (प्रयोजनम्) अस्फुटं (प्रयोजनम्) लक्ष्यस्थं च (प्रयोजनम्) ॥ ५ ॥

जहाँ लक्षक (पदार्थ) मे स्थित (प्रयोजन) गूढ़ होता है, वह (लक्षणा) विचक्षण-लक्षणा (-नाम से पुकारी जाती) है । इसके (भेद) अस्फुट, तटस्थ और लक्ष्यस्थ है ॥ ५ ॥

[ऊपर के श्लोक के अंत मे सिद्ध-लक्षणा के आदि ६ भेदों में से प्रत्येक के ६-६ (कुल ३६) भेद बताये गये है । दूसरों के मत से ६ के स्थान पर ४ भेद बताये गये हैं । "दूसरो का मत है" इसका स्पष्ट उल्लेख न होने से भ्रम पैदा होता है । ये चार भेद ऊपर के ३६ भेदां में आ चुके हैं, अत. यहाँ अलग से व्याख्या नहीं दी जा रही है ॥ ५ ॥]

अन्यास्तिस्र इति व्यक्ता शक्तितः सा चतुर्विधा।
इन्दुरेवैष तद्वक्त्रमुत्कर्षो लक्ष्यते मुखे ॥ ६ ॥

अन्या इति। **अन्याः** पूर्वोक्ताः विचक्षणलक्षणाव्यतिरिक्ताः। **तिस्रः** त्रिसङ्ख्याकाः। **इति** इत्थम्। **सा** लक्षणा। **शक्तितः** अभिधातः। **व्यक्ता** भिन्ना। **चतुर्विधा** चतुःप्रकारका (च भवति)।

(उदाहरति यथा) **एषः** दृश्यमानः। **इन्दुः** चन्द्रः। **एव**। **तस्याः** (नायिकायाः इत्यर्थः) **वक्त्रम्** मुखम् । इति)। **मुखे** वदने नायिकायाः इत्यर्थः। **उत्कर्षः** उत्कृष्टता। **लक्ष्यते** प्रतीयते लक्षणया ज्ञायते इति यावत् ॥ ६ ॥

अन्य तीन (लक्षणायें) है। इस प्रकार वह (लक्षणा) अभिधा से भिन्न और चार प्रकार की होती है।

(उदाहरण :–) यह चन्द्रमा ही उस (नायिका) का मुख है। (यहाँ) मुख मे उत्कृष्टता की प्रतीति (लक्षणा से) हो रही है ॥ ६ ॥

[प्रयोजनवती लक्षणा के ३६ भेद श्लोक ४ तक बताये गये थे। श्लोक ५ तथा ६ मे ४ ही भेद बताये गये है जो दूसरो के मत का उल्लेख-मात्र है।

अभिधा जो अर्थ देती है, उससे भिन्न अर्थ प्रयोजन के उद्देश्य से लाक्षणिक प्रयोग द्वारा लाया जाता है जिससे लक्षणा अभिधा से भिन्न है।

श्लोक के उत्तरार्ध मे उद्देश्य और विधेय को परस्पर बदलकर दो वाक्य समझे जा सकते है :–

(१) एषः इन्दुः एव तद्वक्त्रम् तथा (२) तद्वक्त्रम् एषः इन्दुः एव।

पहले उदाहरण मे लक्षक इन्दु और लक्ष्य वक्त्र है और दूसरे उदाहरण मे लक्षक वक्त्र और लक्ष्य इन्दु है। लक्षणा के द्वारा बताया जाने वाला अर्थ लक्ष्य कहलाता है और वह अर्थ देने वाला शब्द लक्षक होता है। दोनो ही उदाहरणो मे मुख की उत्कृष्टता लक्ष्य (मुख) मे है और दूसरे (उदाहरण) मे लक्षक (मुख) मे। पहले मे मुख को इन्दु का तादात्म्य प्राप्त होता है और दूसरे मे इन्दु को मुख का तादात्म्य। दोनो ही स्थितियों में मुख मे चन्द्र के शीत-

लादि गुण लाना प्रयोजन है जो व्यञ्जना से निकलता है। श्लोक ४ के उत्तरार्ध में यह चर्चा पहले ही आ चुकी है। ये दो उदाहरण क्रमशः लक्ष्य-निष्ठ-स्फुट-प्रयोजना लक्षणा के है तथा उत्कर्ष प्रयोजन है जो अगूढ और व्यञ्जना-वृत्ति से प्राप्त होता है; इस तरह अभिधा से लक्षणा का अन्तर उदाहरण के द्वारा स्पष्ट है ॥ ६ ॥]

प्रदीपं वर्धयेत्तत्र तटस्थं मङ्गलोदयः।
पटोऽयं दग्ध इत्यादौ स्फुटं नास्ति प्रयोजनम् ॥ ७ ॥

प्रदीपमिति । प्रदीपं दीपकम् । **वर्धयेत्** निर्वापयेत् । **तत्र** पूर्वोक्ते वाक्ये । [प्रयोजनम्] **मङ्गलस्य** शुभस्य **उदयः** आविर्भावः **मङ्गलोदयः** । **तटस्थम्** [नाम] । **अयं** पुरः दृश्यमानः । **पटः** वस्त्रम् । **दग्धः** ज्वलित. **इत्यादौ** इति उदाहरणे । **प्रयोजनम्** । **स्फुट** अगूढं । **न** । गूढम् इत्यर्थ । **अस्ति** वर्त्तते ॥ ७ ॥

"दिया बढ़ाना (= बुझाना) चाहिये" इसमे "मङ्गल-उदय" तटस्थ (प्रयोजन) है। "यह कपड़ा जला है" इत्यादि मे प्रयोजन अगूढ नही (गूढ़) है ॥ ७ ॥

[श्लोक के पूर्वार्ध मे स्फुट-तटस्थ-प्रयोजना (लक्षणा) और अस्फुट-तटस्थ-प्रयोजना लक्षणा का उदाहरण "प्रदीपं वर्धयेत्" दिया गया है। "इसमें वर्धयेत्" पद "वृधु" (आत्मनेपद । णिच्) धातु से बना है जिसका अर्थ "बढ़ाना" है। बुझाना अर्थ लक्षणा से निकलता है। "बुझाने" के अर्थ मे आने वाले नाशयेत्, निर्वापयेत् आदि प्रयोग देने पर अमङ्गल होता; उसका परिहार कर मङ्गलोदय (प्रयोजन) के लिये ऐसा किया गया है। "वर्ध" (चुरादि परस्मैपद) धातु का अर्थ छेदन होता हैं; वह यहाँ नही है। हिन्दी में "दिया बढाओ" लाक्षणिक प्रयोग नहीं देखा जाता पर "दूकान बढाओ" (=बन्द करो) प्रयोग देखा जाता है जिसका "बढाओ" संस्कृत के इस "वर्धयेत्" से विकसित हुआ है।

इस उदाहरण में प्रकरण आदि के बहुत स्पष्ट होने पर यही वाक्य स्फुट-तटस्थ-प्रयोजना (लक्षणा) का उदाहरण होगा और (प्रकरण आदि के) उतना

स्पष्ट न होने पर अस्फुट-तटस्थ-प्रयोजना लक्षणा का। प्रयोजन तटस्थ इसलिये है कि वह न तो "प्रदीप" से सबद्ध है और न वर्धयेत् से; बल्कि बुझाने वाले व्यक्ति से। "कपडा जला है" प्रयोग कपडे के एक अंश के जलने पर किया गया है पर अभिधा से अर्थ "कपड़ा पूरा जल गया है" निकलता है। इसमें इस बात की प्रतीति कराना प्रयोजन है कि अब यह कपड़ा शास्त्रोक्त कार्य या शिष्ट समाज मे पहनने के योग्य नही है। यहाँ प्रयोजन लक्षक (जलने से बचा हुआ पट)-निष्ठ और अस्फुट है, अतः यह उदाहरण लक्षक-निष्ठ-अस्फुट-प्रयोजना (लक्षणा) का है ॥ ७ ॥]

अमृतं सूक्तमित्यादौ लक्ष्यस्थमतिहृद्यता।
आभिमुख्यात् सन्निधानात्तथाऽऽकारप्रतीतितः॥ ८॥
कार्यकारणभावात् सा वाच्यवाचकभावतः।

अमृतमिति। **अमृतं** सुधा। शोभन च तत् उक्तं भाषितं च सूक्तं **सुभाषितम्।** **इत्यादौ** इति उदाहरणे **अतिहृद्यता** सविशेषरमणीयता रूपं प्रयोजनम्। लक्ष्ये लक्ष्यार्थे [सूक्ते इत्यर्थः] तिष्ठति इति **लक्ष्यस्थम्।**

सा लक्षणा इत्यर्थः [तु]। अभिमुखस्य सम्मुखस्य भावः **आभिमुख्यं** साम्मुख्यम् तस्मात् **आभिमुख्यात्** एतन्नामकात् सम्बन्धात्। **सन्निधानात्** सामीप्यात् एतन्नामकात् सम्बन्धात्। **आकारस्य** सान्निध्याकारस्य **प्रतीतिः** ज्ञानम् ततः **आकारप्रतीतितः** एतन्नामकात् सम्बन्धात्, **कार्यं** च **कारणं** च **कार्यकारणे** तयोः **भावात्** **कार्यकारणभावात्** एतन्नामकात् सम्बन्धात्। **तथा** एवम्। **वाच्यं** च **वाचकं** च **वाच्यवाचके** तयोः **भावः** **वाच्यवाचकभावः** ततः **वाच्यवाचकभावतः** एतन्नामकात् सम्बन्धात् (भवति) ॥८॥

"अमृत सुभाषित है" इत्यादि (उदाहरण) मे अत्यन्त रमणीयता लक्ष्य (अर्थ) मे विद्यमान है।

वह (लक्षणा) सांमुख्य, सामीप्य, सान्निध्य, काल्पनिक सान्निध्य-ज्ञान, कार्य-कारण-भाव तथा वाच्य-वाचक-भाव (-नामक संबंधों) से होती है ॥ ८ ॥

["अमृतं सूक्तम्" उदाहरण मे अमृत लक्षक,सूक्त लक्ष्य तथा अत्यन्त रमणीयता प्रयोजन है। यह रमणीयता सूक्त मे लाई गई है तथा प्रयोजन अस्फुट (गूढ) है, अतः यह (उदाहरण) लक्ष्यस्था स्फुट-प्रयोजना लक्षणा का है ।

लक्षणा के लिये लक्षक और लक्ष्य में कोई न कोई संबध होना जरूरी होता है । इन सबंधो को नीचे उदाहरण के साथ दिया जा रहा है:—

आभिमुख्य-संबंध—इसमे लक्षक अपने सामने स्थित वस्तु का अर्थ देता है या यो कहे कि लक्षक और लक्ष्य अर्थ के एक दूसरे के सामने आने पर लक्षणा होती है। इसका उदाहरण है "अङ्गुल्यग्रे करिशतमस्ति" (उँगली के सामने सौ हाथी है) । इसमे लक्ष्यक अङ्गुल्यग्र और लक्ष्य उँगली के सामने कोई स्थान है। आभिमुख्य संबंध से "अङ्गुल्यग्रे" पद की लक्षणा "अङ्गुलि-अग्रवत्त स्थान" मे की गई है ।

सन्निधान-संबंध—इसमे लक्षक अपने समीप का अर्थ देता है अर्थात् लक्षक के समीप की वस्तु को लक्ष्यार्थ बनाते है। इसका उदाहरण "गङ्गाया घोष." (गंगा के प्रवाह पर अहीरो का गाँव है) है । इसमे गङ्गायाम्" पद गगा-प्रवाह पर" अर्थ छोडकर "गगा-तट पर" अर्थ देता है। सन्निधान सबंध से "गङ्गा" पद की लक्षणा "गंगा-तीर" मे की गई है ।

आकार-प्रतीति-संबंध—"आकार" का अर्थ (उक्त) सन्निधान का आकार अर्थात् काल्पनिक सन्निधान (= सामीप्य)" और "प्रतीति" का अर्थ "ज्ञान" है । इसका उदाहरण "वृक्षाग्रे चन्द्रः" (पेड़ की चोटी पर चंद्रमा है) है । इसमे "वृक्षाग्रे" लक्षक है जिसके अभिधेयार्थ की संगति नही बैठती क्योकि चन्द्रमा बहुत ऊपर है; समीपता भी नही है। पेड़ के बहुत ऊँचा होने पर काल्पनिक सामीप्य से "वृक्षाग्र" की लक्षणा "वृक्षाग्र के दिख रहे-से सामीप्य" अर्थ मे की गई है ।

कार्य-कारण-भाव-संबंध—यदि लक्षक (कार्य बनकर) अपने कारण का (लक्ष्य) अर्थ देता है तो कार्य-कारण-भाव संबंध होता है । इसका उदाहरण "आयुर्घृतम्" है । यहाँ लक्षक "आयुष्" लक्ष्य (अर्थ) आयु का कारण और

["अमृतं सूक्तम्" उदाहरण में अमृत लक्षक, सूक्त लक्ष्य तथा अत्यन्त रमणीयता प्रयोजन है। यह रमणीयता सूक्त मे लाई गई है तथा प्रयोजन अस्फुट (गूढ) है, अतः यह (उदाहरण) लक्ष्यस्था स्फुट-प्रयोजना लक्षणा का है।

लक्षणा के लिये लक्षक और लक्ष्य में कोई न कोई सबंध होना जरूरी होता है। इन सबंधो को नीचे उदाहरण के साथ दिया जा रहा है:—

आभिमुख्य-संबंध—इसमे लक्षक अपने सामने स्थित वस्तु का अर्थ देता है या यो कहे कि लक्षक और लक्ष्य अर्थ के एक दूसरे के सामने आने पर लक्षणा होती है। इसका उदाहरण है "अङ्गुल्यग्रे करिशतमस्ति" (उँगली के सामने सौ हाथी है)। इसमे लक्ष्यक अङ्गुल्यग्र और लक्ष्य उँगली के सामने का स्थान है। आभिमुख्य संबंध से "अङ्गुल्यग्रे" पद की लक्षणा "अङ्गुलि-अग्रवर्त्ती स्थान" मे की गई है।

सन्निधान-सबंध—इसमे लक्षक अपने समीप का अर्थ देता है अर्थात् लक्षक के समीप की वस्तु को लक्ष्यार्थ बनाते है। इसका उदाहरण "गङ्गाया घोष:" (गंगा के प्रवाह पर अहीरो का गाँव है) है। इसमे गङ्गायाम्" पद गगा-प्रवाह पर" अर्थ छोड़कर "गगा-तट पर" अर्थ देता है। सन्निधान सबंध से "गङ्गा" पद की लक्षणा "गंगा-तीर" मे की गई है।

आकार-प्रतीति-संबंध—"आकार" का अर्थ (उक्त) सन्निधान का आकार अर्थात् काल्पनिक सन्निधान (= सामीप्य)" और "प्रतीति" का अर्थ "ज्ञान" है। इसका उदाहरण "वृक्षाग्रे चन्द्रः" (पेड़ की चोटी पर चंद्रमा है) है। इसमे "वृक्षाग्रे" लक्षक है जिसके अभिधेयार्थ की संगति नहीं बैठती क्योकि चन्द्रमा बहुत ऊपर है; समीपता भी नहीं है। पेड के बहुत ऊंचा होने पर काल्पनिक सामीप्य से "वृक्षाग्र" की लक्षणा "वृक्षाग्र के दिख रहे-से सामीप्य" अर्थ मे की गई है।

कार्य-कारण-भाव-संबंध—यदि लक्षक (कार्य बनकर) अपने कारण का (लक्ष्य) अर्थ देता है तो कार्य-कारण-भाव संबंध होता है। इसका उदाहरण "आयुर्घृतम्" है। यहाँ लक्षक "आयुष्" लक्ष्य (अर्थ) आयु का कारण और

प्रयोजन मासादि पदार्थ की अपेक्षा घृत की अधिक आयु-कारकता दिखाना है जो घृत और आयु का तादात्म्य करने से प्राप्त होता है।

इस प्रकार कार्य-कारण-भाव होने पर "आयुष्" की लक्षणा "आयु के कारण" अर्थ मे की गई है।

वाच्य-वाचक-भाव-संबंध—यदि लक्षक वाचक का (लक्ष्य) अर्थ देता है और वाचक वाच्यार्थ का जो लक्षक का लक्ष्यार्थ होता है तो वाच्य-वाचक-भाव संबंध होता है। इसका उदाहरण "द्विरेफः" पद है। "भ्रमर" शब्द मे दो रेफ (=र) है; इस आधार पर "द्विरेफ"(द्वौ रेफौ यत्र) से "भ्रमर" (पद) (लक्ष्य) अर्थ निकलता है। इस "भ्रमर" पद से जो वाचक है "भ्रमर" अर्थ निकलता है जो "भ्रमर" पद का वाच्य और द्विरेफ का लक्ष्य है। इस प्रकार वाच्य-वाचक-भाव से "द्विरेफ" पद की लक्षणा "भ्रमर" पद के अर्थ मे की गई है जो "भ्रमर" वाच्य का वाचक है। नैयायिक इसे लक्षित-लक्षणा कहते है (न्याय-मुक्तावली)। "द्विरेफ" का वाच्यार्थ "दो रेफ वाला" और लक्ष्यार्थ "भ्रमर"(भौंरा) है। इस लक्ष्यार्थ का वाचक "भ्रमर" पद है, न कि द्विरेफ, और लक्षक द्विरेफ है। द्विरेफ से पहले भ्रमर पद लक्षित होता है और बाद मे भ्रमर अर्थ। इस प्रकार लक्षित (भ्रमर पद) से लक्ष्यार्थ (भ्रमर) निकलता (अर्थात् लक्षणा होती) है, अतः ऐसी स्थिति मे लक्षित-लक्षणा होती है। यह लक्षित-लक्षणा निरूढा लक्षणा का भेद है जिसे वैयाकरण नही मानते, अतः उनके मत से यहाँ निरूढा लक्षणा ही है (वैयाकरण-लघु-मञ्जूषा)। नैयायिक दो लक्षणाये ही मानते है:—(१) निरूढा और (२) स्वारसिकी (अर्थात् स्व-रस या स्वेच्छा से बनाई) जिसे साहित्य मे प्रयोजनवती कहते है। निरूढा लक्षणा तब होती है जब पद अपना मुख्य (यौगिक, अभिधेय या मूल) अर्थ छोडकर अनादि काल से चला आ रहा निरूढ अर्थ देता है। अनादि काल का अर्थ भाषा-विज्ञान की भाषा मे वह काल है जबसे रूढ़ि हुई है; उसके पूर्व तो मुख्य, यौगिक या मूल अर्थ ही था ॥८॥]

इत्येवमादेः सम्बन्धात् किञ्चान्यस्माच्चतुष्टयात् ॥९॥

सादृश्यात् समवायात् सा वैपरीत्यात् क्रियान्वयात।

सारोपाध्यवसानाख्ये गौणशुद्धे पृथक् पृथक् ॥१०॥

इतीति । इति समास पूर्व विवरणम् । **एवम्** पूर्वोक्तम् **आदि** प्रथमं यस्य तस्मात् **एवमादेः** । **सम्बन्धात्** सम्बन्धपञ्चकात् । किं च अमुम् अर्थम् विशदयति ग्रन्थकारः । **अन्यस्मात्** इतरस्मात् वक्ष्यमाणात् इति यावत् । **चतुष्टयात्** सम्बन्ध-चतुष्टयात् (तद्यथा)। **सादृश्यात्** गुणानाम् इत्यर्थः । **समवायात्** समवायसम्बन्धात् । **वैपरीत्यात्** विपरीतसम्बन्धात् । **क्रियायाः** कर्मणः **अन्वयात्** सम्बन्धात् **क्रियान्वयात्** तत्क्रियासम्बन्धात् च)। **सा** (लक्षणा भवति)। **पृथक्** पृथक् क्रमशः विभाजनम् उप-(विभाजन च विवक्षितम् । **आरोपः** च **अध्यवसान** च **आरोपाध्यवसाने** ताभ्या सह **सारोपाध्यवसाने** सारोपा च साध्यवसाना च ते एव **आख्ये** नामनी **सारोपाध्यवसानाख्ये** । इति लक्षणायाः विभाजनम् । **आख्ये** नामन सारोपायाः साध्यवसानायाः च लक्षणयोः । **गौणी** च **शुद्धा** च **गौणशुद्धे** । इति लक्षणायाः उपविभाजनम् ॥९॥१०॥

इस प्रकार इन और अन्य सम्बन्धों से वह (लक्षणा) होती है; जैसेः—अन्य चार (१) सादृश्य, (२) समवाय, (३) वैपरीत्य और (४) क्रियान्वय (सम्बन्धों) से । इस (लक्षणा)-के नाम (१) सारोपा और (२) साध्यवसानी तथा (१) गौणी और (२) शुद्धा है । ये (जोड़े) अलग-अलग है ॥९॥१०॥

["इत्यादि सम्बन्धो से निम्न-लिखित सम्बन्ध लिये जाते हैं जिन्हें उदाहरण-सहित नीचे दिया जा रहा हैः—

(१) **तादर्थ्य-सम्बन्ध**—वस्तु तथा जिसके लिये वह आये (इन)—दानो का संबंध; जैसे इन्द्र के लिये बनाई गई स्थूणा के लिये "अमी इन्द्राः" उदाहरण में "इन्द्राः" पद शब्द का प्रयोग ।

(२) **स्व-स्वामि-संबंध**—भृत्य और स्वामी के सम्बन्ध को स्व-स्वामि-संबंध कहते है । राज-पुरुष को देखकर "राजाऽसौ" कहना भृत्य को स्वामी बना-कर भृत्य-स्वामी के सम्बन्ध से लक्षणा करना है ।

(३) **अवयवावयवि-संबन्ध**—यह अवयव (अङ्ग) और अवयवी (अंग वाले) का संबंध है । हाथ के ऊपरी हिस्से के लिये "हस्तोऽयम्" प्रयोग

इसका उदाहरण है ' अवयवी (हाथ) से अवयव (हस्ताग्र) का बोध कराया गया है।

साहचर्य सम्बन्ध—"यष्टीः प्रवेशय" उदाहरण मे लक्षणा साहचर्य सम्बन्ध से की गई है। वाच्य-अर्थ "दण्ड को अंदर लाओ" और लक्ष्यार्थ "दण्ड-धारी ब्राह्मणो को अन्दर लाओ" है। इस प्रकार दण्ड से ब्राह्मणो का साहचर्य (साथ-साथ रहना) होने से ब्राह्मण मे यष्टित्व का आरोप किया गया है।

तात्स्थ्य सबंध-"मञ्चाः क्रोशन्ति" उदाहरण मे वाच्यार्थ "खाटें चिल्लाती है" और लक्ष्यार्थ "खाट पर बैठे लोग चिल्लाते है" है। इस प्रकार तात्स्थ्य (किसी पर रहने वाला होना) सम्बन्ध मे मञ्चत्व का आरोप मञ्च पर बैठे लोगो पर किया गया है।

तन्मानकत्व-सम्बन्ध—"प्रस्थः (एक तौल) सक्तुः (सत्तू प्रस्थ भर है) उदाहरण मे प्रस्थत्व का आरोप सक्तु मे किया गया है, अतः तन्मानकत्व (किसी की तौल के बराबर होना) सम्बन्ध है।

तद्धार्य-सम्बन्ध—"चन्दनं तुला" (चन्दन पलडा है) उदाहरण में चन्दन मे तुलात्व का आरोप तद्धार्य (किसी के द्वारा धारित होना) सम्बन्ध है। लक्ष्यार्थ है "पलडे पर चन्दन है।"

तादूगुण्य-सम्बन्ध—"कृष्ण. शकटः" (बैलगाड़ी काली है) उदाहरण मे शकट मे कृष्णत्व गुण (विशेषण) का आरोप है, अतः तादृगुण्य (किसी का गुण होना) सम्बन्ध से लक्षणा की गई है।

आधिपत्य सम्बन्ध—"अयं कुलस्य राजा" (यह वंश का राजा है)। इस उदाहरण मे "पुरुषो" मे राजत्व का आरोप आधिपत्य सबध से है, अत आधिपत्य (किसी का स्वामी होना)–संबंध से लक्षणा की गई है।

इस प्रकार असंख्य सम्बन्धों से लक्षणा हो सकती है। इन ग्यारह संबंधों को पहले ३ भागो मे बाँटकर आशाधर भट्ट ने त्रिवेणिका मे अनेक उप विभाग बनाये है :—

विभाग	उप-विभाग	
संयोग-सम्बन्ध	व्याप्य-व्यापक-भाव-संबंध	धार्य-धारक-भाव-संबंध
	भर्तृ-भार्यत्व ”	आधाराधेय ” ”
समवाय ”	अवयवावयवि-भाव ”	गुण-गुणि ” ”
	क्रिया-क्रियावद्भाव ”	जाति व्यक्ति ” ” (या विशेष्य-सामान्य भाव-संबंध)
विशिष्ट-बुद्धि-योग्य-संबंध	विशेष-नित्य-द्रव्य-भाव-संबंध—जिसके भेद जन्य-जनक-भाव-संबंध, विशेषण विशेष्य भाव-संबंध वर्ण्य-वर्णक-भाव-संबंध तथा उपमानोपमेय-भाव-सम्बन्ध है ।	

उक्त बात स्पष्ट करते हुये जिन अन्य चार संबंधो की चर्चा की गई है, वे निम्न-लिखित है :—

[१] **सादृश्य संबंध**—दो सदृशो के पारस्परिक संबंध के आधार पर की गई लक्षणा सादृश्य संबंध से की गई कही जाती है । "गौर्वाहीक:" उदाहरण में वाहीक आदमी है; वह गौ नहीं हो सकता पर गौ मे विद्यमान जड़ता, मन्दता आदि दुर्गुणों के सादृश्य से दोनो का तादात्म्य दिखाकर लक्षणा की जाती है ।

[२] **समवाय सम्बन्ध**—समवाय [झुण्ड] को देखकर बहुलता के आधार पर सबका समावेश करने पर समवाय-सम्बन्ध से लक्षणा मानी जाती है । झुण्ड मे छत्र-धारियों की बहुतायत देखकर "छत्रिणो यान्ति" कह दिया जाता है जिसका अभिधेय अर्थ सभी को छत्र-धारी बनाना है जो संभव नहीं है, अतः लक्षणा से केवल छत्र-धारियों का बोध होता है ।

[३] **वैपरीत्य संबंध**—उलटी बात कहने पर वैपरीत्य-सम्बन्ध होता है । अकुशल के लिये "कुशलोऽसौ" प्रयोग जान-बूझ कर करना इस सम्बन्ध से की

गई लक्षणा का उदाहरण है। इसे आलंकारिक लक्षण-लक्षणा और नैयायिक जहत्स्वार्था लक्षणा कहते हैं।

[४] क्रियान्वय या तात्कर्म्य सम्बन्ध—किये गये कार्य से किसी का संबंध दिखाना क्रियान्वय सम्बन्ध है। किसी धार्मिक-व्यक्ति के लिये "युधिष्ठिरोऽयम्" कहा जाय तो इस संबंध से लक्षणा होगी। युधिष्ठिर न होने पर भी युधिष्ठिर कहने से अभिधेय अर्थ का बोध हो जाने पर क्रियान्वय संबंध में लक्षणा यह अर्थ देगी कि जो कार्य युधिष्ठिर ने किये थे, वे ही इन्होंने किये हैं अर्थात् युधिष्ठिर की तरह धार्मिक है।

इनमें सादृश्य-सम्बन्ध से की गई लक्षणायें गौणी कहलाती हैं और अन्य संबन्धों से की गई लक्षणायें शुद्धा।

लक्षणा किन संबंधों के आधार पर की जाती है, इसकी चर्चा के बाद पुनः लक्षणा के भेद किये जा रहे हैं। श्लोक १ से ४ तक लक्षणा के भेद बताये जा चुके हैं। फिर श्लोक ५ से श्लोक ८ के पूर्वार्द्ध तक अन्य मत बताये गये हैं। पुन: अन्य मतों की चर्चा की गई है। श्लोक १० के उत्तरार्ध में लक्षणा के (१) सारोपा और (२) साध्यवसाना भेद करने के बाद प्रत्येक के २-२ भेद (१) गौणी और (२) शुद्धा करने पर कुल ४ भेद होंगे।

सारोपा के लिये ग्रन्थकार ने पहले (९।२) लक्ष्य-वाचक पदामीलना नाम दिया है। सारोपा की परिभाषा मम्मट ने निम्न-लिखित दी है।

सारोपान्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा।

सारोपा में जिसका आरोप किया जाय (आरोप्यमाण या विषयी; जैसे गौः) तथा जिस पर आरोप किया जाय (विषय या आरोप-आधार; जैसेः— वाहीकः)दोनों को अलग-अलग दिया जाता है; जैसेः— "गौर्वाहीक."। इस उदाहरण में "गौ" का आरोप "वाहीक" (वाहीक-प्रदेश-वासी) पर किया जा रहा है, और दोनों का उल्लेख है।

साध्यवसाना को मम्मट ने साध्यवसानिका कहा है और निम्न-लिखित परिभाषा दी है :—

विषय्यन्तःकृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात्साध्यवसानिका ।

विषयी जब विषय को निगीर्ण कर ले अर्थात् "अतिशयोक्ति" अलङ्कार की तरह स्वय विषय का भी काम करे तब साध्यवसानिका लक्षणा होती है, जैसे :–"गौरयम्" । इस उदाहरण मे विषयी "गौः" ने विषय "वाहीक" को अन्तर्भूत कर लिया है । "अयम्" सर्वनाम "गौः" के लिये है । "वाहीक" की सत्ता बिलकुल मिट गई है और "गौ" के रूप मे उसे प्रस्तुत किया गया है ॥ १० ॥]

गौणं सारोपमुद्दिष्टमिन्दुर्मुखमितीदृशम् ।
गौण साध्यवसानं स्यादिन्दुरेवेदमीदृशम् ॥ ११ ॥

गौणमिति । इन्दुः चन्द्रः **मुखम्** वदनम् । इति पूर्वोक्तम् । **ईदृशम्** एतादृशम् उदाहरणम् । **गौणं सारोपम्** । (इति । **उद्दिष्टम्** कथितम् । इन्दुः चन्द्र **एव इदम्** । **ईदृशम** एतादृशम् उदाहरणम् । **गौण साध्यवसानम्** । **स्यात्** भवेत् ॥ ११ ॥

"चन्द्रमा मुख है" यह प्रकार (उदाहरण) गौण सारोप कहा गया है ।

"चन्द्रमा ही यह (तो) है" यह प्रकार (उदाहरण) गौण साध्यवसान है ॥ ११ ॥

[यहाँ चन्द्रमा मे पाये जाने वाले आह्लाद आदिक गुण मुख मे सादृश्य सम्बन्ध से आरोपित किये गये हैं, अतः दोनो उदाहरण गौणी लक्षणा के हैं ।- पहले उदाहरण (इन्दुर्मुखम्) मे आरोप्यमाण (इन्दु) और आरोप-विषय (मुख) के अलग-अलग होने से सारोपा लक्षणा और दूसरे (उदाहरण) (इन्दुरेवेदम्) में आरोप्यमाण (इन्दु) के द्वारा आरोप-विषय (मुख) का निगरण (निगल जाने की स्थिति) है, अतः साध्यवसाना लक्षणा है । पहले उदाहरण में इन्दु तादात्म्य-युक्त मुख और दूसरे (उदाहरण) मे इन्दु पद से मुख के तादात्म्य की प्रतीति होती है ।)

श्लोक में गौण, सारोप या साध्यवसान को "इति" का विशेषण बताया गया है जिससे "वाक्य या उदाहरण गौण, सारोप या साध्यवसान है" अर्थ

निकलता है। "गौण सारोपा या साध्यवसाना लक्षणा" अर्थ समझा जा सकता है।

दूसरों के मत का यहाँ पल्लवन किया गया है ॥ ११ ॥]

शुद्ध सारोपमुद्दिष्टमायुर्घृतमितीदृशम्।
शुद्धं साध्यवसानं स्यादायुरेवेदमीदृशम् ॥१२॥

शुद्धमिति। आयुः घृतम्। इति पूर्वोक्तम्। ईदृशम् एतादृशम् (उदाहरणम्)। शुद्धं सारोपम्। उद्दिष्ट कथितम्। अत्र शुद्धा सारोपा लक्षणा इति अर्थः।

आयुः एव इदम्। ईदृशम् एतादृशम् उदाहरणम्। शुद्ध साध्यवसानम्। अत्र शुद्धा साध्यवसाना लक्षणा इति अर्थः। स्यात् भवेत् ॥ १२ ॥

"आयु घी है" यह प्रकार (उदाहरण) शुद्ध सारोप कहा गया है। "आयु ही यह (तो) है" यह प्रकार शुद्ध साध्यवसान होता है ॥ १२ ॥

[शुद्ध और सारोप या साध्यवसान यहाँ वाक्य या उदाहरण के विशेषण है और क्रमशः "शुद्धा और सारोपा या साध्यवसाना लक्षणा" अर्थ की प्रतीति करा सकते हैं।

ऊपर दिये दोनो उदाहरणो मे सादृश्य-सम्बन्ध से लक्षणा नहीं की गई है, अतः शुद्धा है। यहाँ कार्य-कारण संबंध से लक्षणा है जिसमे आयु कार्य और घृत कारण है।

पहले उदाहरण मे लक्षणा सारोपा है क्योकि आरोप्यमाण (विषयी) आयुः और (आरोप-) विषय—घृत दोनो—का उपादान (ग्रहण) है। अन्य उदाहरण "आयुरेवेदम्" मे (आरोप-) विषय न होने से साध्यवसाना (लक्षणा) है।

प्रयोजन इस व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति कराना है कि आयु को बढ़ाने वाला सर्वोत्कृष्ट पदार्थ घृत ही है; मासादि अन्य पदार्थ नहीं ॥ १२ ॥]

उपादानार्पणद्वारे द्वे चान्ये इति षड्विधा।
कुन्ता विशन्ति गङ्गायां घोषो निवसतीति च ॥ १३ ॥

उपादानेति। उपादानं (मुख्यार्थस्य) ग्रहणं च अर्पणम् (मुख्यार्थस्य)

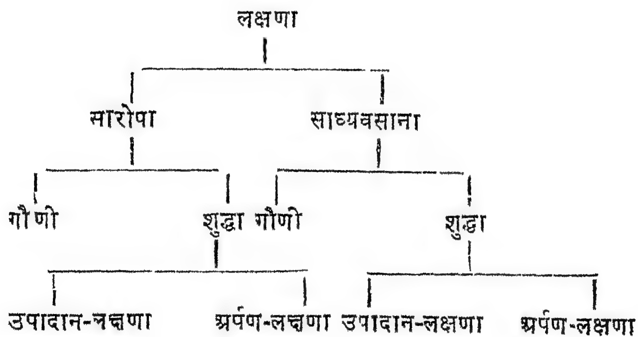
त्यागः च उपादानार्पणे। ते द्वारे आदी ययोः ते उपादानार्पणद्वारे। उपादानलक्षणा अर्पणलक्षणा च। द्वे द्विसङ्ख्याके। अन्ये अपरे (लक्षणे भवतः)। इति एवम्। (लक्षणा) षड् विधा प्रकाराः यस्याः सा षड् विधा (भवति)।

(उदाहरण यथा) कुन्ताः विशन्ति प्रविशन्ति इति। गङ्गायां भागीरथ्याम् घोषः आभीरपल्ली निवसति तिष्ठति। इति। च ॥ १३ ॥

आदि मे "उपादान" तथा (आदि मे) "अर्पण" वाली दो और (लक्षणाये) होती है। इस प्रकार लक्षणा ६ प्रकार की होती है।

(उदाहरण ये है –) "भाले घुस रहे है" और "गङ्गा मे अहीरो का गाँव स्थित है" ॥ १३ ॥

[ऊपर श्लोक ११ और १२ मे २–२–कुल ४–भेद किये गये है। इस श्लोक मे श्लोक ११ के २ भेदो मे से प्रत्येक के २-२–कुल ४–भेद किये गये है। इस प्रकार ६ भेद हो जाते है :–



"भाले घुस रहे है" उदाहरण में "भाले" का अर्थ है "भाले लिये हुये आदमी"। इस प्रकार "भाले" का उपादान है; उसे लक्षित अर्थ मे त्यागा नहीं गया है। इसके विपरीत "गङ्गायां घोषो निवसति" उदाहरण में सप्तमी विभक्ति प्रवाह का अर्थ छोड़कर तट अर्थ देती है। इस प्रकार ये क्रमशः उपादान-लक्षणा

और अर्पण-लक्षणा के उदाहरण है। शुद्धा के चारो भेदों के नाम और उदाहरण नीचे दिये जा रहे है :–

१। शुद्धा सारोपा उपादान-लक्षणा का उदाहरण :– कुन्ताः पुरुषाः प्रविशन्ति (=कुन्त-स्वरूप पुरुष प्रवेश कर रहे है)। आरोप्यमाण (विषयी) कुन्त और (आरोप-) विषय पुरुष के होने से सारोपा, सादृश्य-संबंध न होने से शुद्धा और लक्ष्यार्थ मे मुख्य अर्थ कुन्त के उपादान से उपादान लक्षणा है।

२। शुद्धा सारोपा अर्पण-लक्षणा का उदाहरण :–आयुर्घृतम् (=आयु घी है)। आरोप्यमाण (विषयी) आयु और (आरोप-) विषय घृत के होने से सारोपा,सादृश्य न होने से शुद्धा और लक्ष्यार्थ मे मुख्य अर्थ आयु को त्यागकर आयु-कारक (न कि आयु-धारी) लेने से अर्पण-लक्षणा है।

३। शुद्धा साध्यवसाना उपादान-लक्षणा का उदाहरण:– कुन्ताः प्रविशन्ति (=भाले घुस रहे है)। आरोप्यमाण (विषयी) कुन्त ने (आरोप-) विषय पुरुष को निगलकर अपने मे विलीन कर लिया है, अतः साध्यवसाना, सादृश्य संबंध न होने से शुद्धा और लक्ष्यार्थ मे मुख्य अर्थ कुन्त के उपादान से उपादान-लक्षणा है।

४। शुद्धा साध्यवसाना अर्पण-लक्षणा का उदाहरण :–आयुः इदम् (आयु यह है)। आरोप्यमाण (विषयी) आयु के द्वारा (आरोप-) विषय घृत के निगलकर विलीन कर लिये जाने के कारण साध्यवसाना, सादृश्य-संबंध न होने से शुद्धा और मुख्यार्थ आयु का लक्ष्यार्थ आयु-कारक (न कि आयु-धारी) लेने से अर्पण-लक्षणा है।

ये ६ भेद काव्य-प्रकाश के अनुसार है; लेखक ने अपना मत मयूख (अध्याय) के आरंभ मे व्यक्त कर दिया है। उपादान-लक्षणा को (शास्त्रान्तर मे) जहत्स्वार्था और अर्पण-लक्षणा को लक्षण-लक्षणा और (शास्त्रान्तर मे) अजहत्स्वार्था भी कहते है।

सादृश्य-संबंध होने पर मुख्यार्थ (गौ आदि) का उपादान लक्ष्यार्थ (वाहीक आदि) मे नही होता; केवल सादृश्य का उपादान होता है, अतः

गौणी-सारोपा और गौणी साध्यवसाना के भी उपादान-लक्षणा और अर्पण-लक्षणा भेद नहीं हो सकते ।

वेदान्त मे जहदजहत्स्वार्था लक्षणा का नाम आया है जिसमे मुख्यार्थ का कुछ उपादान भी होता है, और कुछ त्याग भी । "तत्त्वमसि" उदाहरण मे तत् और त्वम् से अर्थ चेतन निकलता है पर का अर्थ "तत्" के सर्वज्ञत्व-विशिष्ट चैतन्य के उपादान और "त्वम्" के अल्पज्ञत्व-विशिष्ट चैतन्य के त्याग का बोध कराता है, अतः जहदजहत्स्वार्था लक्षणा की परिभाषा उसमे घटित होती है । वेदान्त-परिभाषा मे उक्त उदाहरण को न मानकर "सोऽयं देवदत्तः" उदाहरण माना गया है तथा वृत्ति-वार्तिक मे "ग्रामो दग्धः", "पुष्पित वनम्" (वन का एक भाग) आदि उदाहरण दिये गये है । इसे भाग-त्याग-लक्षणा भी कहते है ।

उपादान-लक्षणा और अर्पण-लक्षणा को और अच्छी तरह से समझने के लिये यह परिभाषा समझ लेनी चाहिये कि मुख्य अर्थ का अन्वय क्रिया से होने पर उपादान-लक्षणा होती है और मुख्य अर्थ का अन्वय क्रिया से न होने पर अर्पण-लक्षणा । "कुन्ता पुरुषाः प्रविशन्ति" या "कुन्ताः प्रविशन्ति" उदाहरण मे प्रवेश का कार्य कुन्त करते है पर "आयुर्घृतं शोभते" या "आयुरिद शोभते" मे सोहने का कार्य आयु नही करता ॥ १३ ॥]

लक्ष्यलक्षकवैशिष्ट्याद् द्विविधा लक्षणा पुनः ।
सरस काव्यममृत विद्या स्थिरतर धनम् ॥ १४ ॥

लक्ष्येति । लक्षणा द्वितीयश्लोकोक्तारार्धे उक्ता सिद्धा साध्या च लक्ष्यं लक्ष्यार्थः लक्षकं च लक्ष्यलक्ष्यके तयोः वैशिष्ट्यात् लक्ष्यलक्षक-वैशिष्टयात् । द्विविधा द्विप्रकारका लक्ष्यविशेषणविशिष्टा लक्षकविशेषण-विशिष्टा च ।

(उदाहरति यथा) सरसं रसवत् काव्यम् कविता अमृतम् सुधा इति लक्ष्यविशेषणविशिष्टायाः लक्षणायाः उदाहरणम् । विद्या स्थिरतरं सुस्थायि धनं वित्तम् इति लक्षकविशेषणविशिष्टायाः लक्षणायाः उदाहरणम् ॥ १४ ॥

लक्षणा, फिर, लक्ष्य (अर्थ) और लक्षक की विशिष्टता (विशेषण-युक्त होने) से दो प्रकार की होती है।

(उदाहरण :–) रस-युक्त काव्य अमृत है। विद्या विशेष स्थायी धन है ॥ १४ ॥

[जो पहले आता है या जिसका वर्णन होता है वह उद्देश्य और जो बाद मे आता है या जो उद्देश्य के लिये वर्णन होता है, वह विधेय कहलाता है। लक्ष्य और लक्षक मे से प्रत्येक उद्देश्य भी हो सकता है और विधेय भी। यहाँ पहले वाक्य "सरसं काव्यममृतम्" मे उद्देश्य "काव्य", विधेय अमृत, लक्षक अमृत तथा लक्ष्य (अर्थ) अमृत-तादात्म्य-युक्त तथा "सरस" विशेषण से विशिष्ट (युक्त) सरस काव्य है। लक्ष्य (अर्थ) काव्य के "सरस" विशेषण से युक्त होने से यह उदाहरण लक्ष्य-विशेषण-विशिष्ट शुद्धा लक्षणा का है। दूसरे उदाहरण 'विद्या स्थिरतर धनम्" मे उद्देश्य विद्या, विधेय धन, लक्षक "स्थिरतर" विशेषण से विशिष्ट धन तथा लक्ष्य (अर्थ) उस धन से तादात्म्य धारण करने वाली विद्या है। लक्षक धन के "स्थिर" विशेषण से युक्त होने के कारण यह उदाहरण लक्षक-विशेषण-विशिष्टा साध्या लक्षणा का है।

श्लोक २ के उत्तरार्ध मे सिद्ध-प्रयोजना और साध्य प्रयोजना लक्षणायें प्रयोजन के सिद्ध और साध्य भेदो से बनाई गई है। उनके २-२ भेद इस श्लोक के द्वारा किये गये है। "गम्भीरायां गङ्गायां घोषः" उदाहरण देकर साध्याङ्ग-लक्षणा म भी विशिष्टता लाई जा सकती है।

मीमासक, समुदाय म शक्ति मानकर वाक्य (विशेषण विशिष्ट पद) मे लक्षणा मानते है, पर नैयायिक वाक्य (विशेषण-विशिष्ट पद) मे शक्ति का अभाव होने से पद (विशेष्य) मे ही लक्षणा मानते है जिससे द्वन्द्व और कर्मधारय समास मे लक्षणा नही मानते, केवल बहुव्रीहि, तत्पुरुष, समाहार-द्वन्द्व और अव्ययीभाव समास में (लक्षणा) मानते हैं ॥ १४ ॥]

तथा सहेतुरतथा भेदभिन्ना च कुत्रचित्।
सौन्दर्यमेष कन्दर्पः सा च मूर्त्तिमती रतिः ॥१५॥

तथेति। तथा तेन एव प्रकारेण। (लक्षणा) कुत्रचित क्वचित्। सहेतुः हेतुना सहिता। अतथा तद्विपरीता अहेतुः इत्यर्थः। च। भेदैः भिद्भिः भिन्ना बहुला (भवति)।

(उदाहरति यथा) एषः समीपे दृश्यमानः पुरुषः। सौन्दर्येण सुरूपेण। कन्दर्पः कामः इति सहेतोः लक्षणायाः उदाहरणम्। सा पूर्वोक्ता प्रसिद्धा अनुभूता वा नायिका। च। मूर्त्तिमती शरीरिणी। रतिः ॥ १५ ॥

इसी प्रकार (लक्षणा) कहीं सहेतु (हेतु-युक्त) और तद्विपरीत (अहेतु या हेतु-रहित) भेदों मे विभाजित होती है।

(उदाहरण :—) (१) यह सुन्दरता मे (हेतु) कामदेव है।

(२) और वह मूर्तिमान् रति है ॥ १५ ॥

[पहले उदाहरण "एष सौन्दर्येण कन्दर्पः" मे कन्दर्प होने मे हेतु "सौन्दर्य" आया है, अतः सहेतु लक्षणा है। दूसरे उदाहरण "सा च मूर्त्तिमती रतिः" मे रति होने मे कोई हेतु न दिया होने से अहेतु लक्षणा है ॥१५॥]

शब्दे पदार्थे वाक्यार्थे सङ्ख्यायां कारके तथा।
लिङ्गे चेयमलङ्काराङ्कुरबीजतया स्थिता ॥ १६ ॥

शब्द इति। तथा एवम्। इयम् असौ लक्षणा इत्यर्थः। अलङ्काराणाम अङ्कुरस्य उद्भवस्य बीज हेतुः तस्य भावः तत्ता तया। अलङ्काराङ्कुर बीजतया। शब्दे पदे। पदार्थे पदस्य अर्थे। वाक्यार्थे वाक्यस्य अर्थे। संख्यायाम। कारके कर्त्रादौ। च। लिङ्गे पुंलिङ्गादौ। स्थिता विद्यते ॥ १६ ॥

इसी प्रकार यह (लक्षणा) अलंकारो की उत्पत्ति मे बीज होकर पद, पद के अर्थ, वाक्य के अर्थ, संख्या, कारक और लिङ्ग के आधार पर स्थित है॥१६॥

[श्लोक मे दिये गये शब्द आदि आधारों पर होने से लक्षणा के अन्य ६ भेद किये जा सकते है। यहाँ लक्षणा की व्यापकता बताई गई है। नीचे उदाहरण दिये जाते है :—

पद में लक्षणा का उदाहरणः—अग्नेरग्निर्नष्टः (आग की लपट नष्ट हो गई) इस उदाहरण मे "अग्निः" पद का अर्थ "लपट" है।

पद के अर्थ में लक्षणा का उदाहरणः—मुखं चन्द्र (मुख चन्द्रमा है।) इस उदाहरण मे मुख पदार्थ है जिसमे चन्द्र के तादात्म्य की प्रतीति लक्षणा से होती है।

वाक्य के अर्थ में लक्षणा का उदाहरणः—यद् गुरुवचनमाकर्णयन्ति तदमृतं पिबन्ति (गुरुओ की बात सुनना अमृत पीना है)। इस उदाहरण मे पहले वाक्य (उपवाक्य) मे दूसरे वाक्य (उपवाक्य) की एकता का आरोप लक्षणा द्वारा किया गया है।

सङ्ख्या में लक्षणा का उदाहरण—यावन्तो युद्धप्रियास्तावन्तोऽर्जुना. (जितने युद्ध से प्रेम करने वाले है, उतने अर्जुन है)। इस उदाहरण मे अर्जुन के एक होने पर भी उनमे बहुत्व का आरोप करने से संख्या में लक्षणा है।

कारक में लक्षणा का उदाहरणः—स्थाली पचति (बटलोई पकाती है)। अर्थ "बटलोई मे पकाता है"। (संस्कृत के मुहावरे स) अधिकरण कारक मे लक्षणा हुई है।

लिङ्ग में लक्षणा का उदाहरणः—सा हस्तिनी (हथिनी)। इस उदाहरण मे हस्तिनी के लिङ्ग मे लक्षणा है। आशय हाथी का निकलता है और हाथी के गुणो का आरोप किया जाता है।

मूल मे अलङ्कार से ध्वनि, रस आदि का भी ग्रहण होता है। लेखक के अलङ्कार-वादी होने और छन्द और संक्षेप की अपेक्षा से केवल अलङ्कार कह दिया गया है।

लक्षणा से रूपक, समासोक्ति, अतिशयोक्ति आदि सभी अलङ्कारों का जन्म होता है; जैसेः—उपादान लक्षणा अर्थान्तर-सङ्क्रमित-वाच्य-नामक ध्वनि मे आती है, अर्पण-लक्षणा अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य-नामक ध्वनि मे प्रयुक्त होती है, गौणी सारोपा "रूपक" अलङ्कार मे व्यवहृत होती है, गौणी साध्यवसाना अतिशयोक्ति मे आती है, शुद्धा साध्यवसाना मे अतिशयोक्ति व्यङ्ग्य होती है आदि।

इस प्रकरण मे भेदों की संख्या बहुत बिखरी-बिखरी है और वैसा स्पष्ट संपूर्ण योग नही किया गया है, जैसा ध्वनि-भेद मे किया गया है। साहित्य-

दर्पण में लक्षणा के ८० भेद दिखाये गये हैं। लक्षणा के २ भेद निरूढा और प्रयोजनवती बताकर प्रत्येक के ८-८ भेद कर उन्हे निम्न-लिखित नाम दिये गये हैं :—

(१) सारोपा उपादान लक्षणा, (२) सारोपा लक्षण-लक्षणा, (३) साध्यवसाना उपादान-लक्षणा, (४) साध्यवसाना लक्षण-लक्षणा, (५) गौणी सारोपा उपादान-लक्षणा, (६) गौणी सारोपा लक्षण लक्षणा, (७) गौणी साध्यवसाना उपादान-लक्षणा और (८) गौणी साध्यवसाना लक्षण-लक्षणा।

प्रयोजनवती लक्षणा के ८ भेदो मे से हर एक गूढ-व्यङ्ग्या और अगूढ-व्यङ्ग्या होती है जिससे ८ से १६ भेद हो गये। इनमे से प्रत्येक का प्रयोजन धर्मी मे रहने पर ये १६ भेद और धर्म मे रहने पर अन्य १६ भेद होते हैं। इस प्रकार ३२ भेद होते है। निरूढा लक्षणा के ८ भेद मिलाने पर भेद संख्या ४० होती है। इनमे से प्रत्येक भेद के पद मे होने पर ४० भेद और वाक्य मे होने पर अन्य ४०—कुल ८०—भेद हो जाते है ॥ १६ ॥]

महादेवः सत्रप्रमुखमखविद्यैकचतुरः
सुमित्रा तद्भक्तिप्रणिहितमतिर्यस्य पितरौ।
मयूखस्तेनासौ सुकविजयदेवेन रचिते
चिरं चन्द्रालोके महति नवसङ्ख्यः सुखयतु ॥ १७ ॥

इति श्रीजयदेवकविविरचिते चन्द्रालोकालङ्कारे लक्षणानिरूपणो नाम नवमो मयूखः।

[व्याख्यादि १। १६ के समान है; केवल असौ, असौ, सुमनसः, वाग्विचारः तथा प्रथमः की जगह तेन (जयदेवेन) (उस—जयदेव—के द्वारा), महति (विशाले चन्द्रालोके) (बड़े) नवसङ्ख्यः (नव सङ्ख्या यस्य सः मयूखः) (नौ संख्या वाला अर्थात् नौवाँ) श्रीजयदेवकविविरचिते (श्रीजयदेवनाम्ना कविना सूरिणा विरचिते निर्मिते चन्द्रालोके) (कवि श्री-जयदेव द्वारा रचित) लक्षणानिरूपणः (लक्षणायाः निरूपणं विचारणं यत्र सः मयूखः) (लक्षणा-निरूपण) और नवमः (नौवाँ) शब्द भिन्न हैं ॥ १७ ॥]

दशमो मयूखः

धर्मं कञ्चित्पुरस्कृत्य प्रायः शब्दः प्रवर्त्तते ।
यथार्थं स्पष्टमाचष्टे शब्दस्तामभिधां विदुः ॥१॥

धर्ममिति । शब्दः । यया वृत्त्या इत्यर्थः । कञ्चित् कमपि । धर्मं जात्यादिरूपम् । पुरस्कृत्य द्वारीकृत्य । प्रायः प्रायेण । प्रवर्त्तते अर्थबोधने समर्थः भवति । तत्र । यया वृत्त्या इत्यर्थः । स्पष्टम् असन्दिग्धम् । अर्थं शब्दार्थम् । आचष्टे कथयति । तां वृत्तिम् इत्यर्थः । अभिधाम् । विदुः जानन्ति । बुधाः इति शेषः ॥१॥

दसवाँ मयूख (अध्याय या किरण)

शब्द जिस (व्यापार)-से किसी (जाति-आदि-रूपी) धर्म को साधन बनाकर अकसर प्रवृत्त होता है तथा (जिस व्यापार) स्पष्ट अर्थ को बताता है, उसे (विद्वान्) अभिधा के रूप मे जानते है ॥१॥

[व्यञ्जना और लक्षणा बताने के बाद यहाँ उन दोनो की मूल-स्वरूप अभिधा-वृत्ति बताई जा रही है ।

हर शब्द का किसी न किसी अर्थ मे साक्षात् संकेत होता है । यह संकेतित अर्थ होता है और इसे ही अभिधा वृत्ति प्रगट करती है । लक्षणा और व्यञ्जना वृत्तियाँ भी अभिधा का सहारा लेकर ही आगे बढती है, अतः यह वृत्ति मुख्य है । इसी से इसे मुख्या, आद्या और शक्ति भी कहते है । इस शक्ति से अर्थ को बताने वाला शब्द अभिधायक, मुख्य, आद्य, शक्त और वाचक तथा अर्थ अभिधेय, मुख्य, आद्य, शक्य और वाच्य कहलाता है । वृत्ति के लिये शक्ति, व्यापार और क्रिया शब्द भी प्रयुक्त होते है । शब्द का अन्य विस्तार १।६ से १।१३ पूर्वार्ध तक बताया जा चुका है ।

आशाधर मिश्र ने "कोविदानन्द" मे बताया है कि "सङ्केत सनातन है पर

शक्ति प्रयोग-काल में प्रकट होती है।" यों दोनो मे स्पष्ट भेद है पर व्यवहार-काल में यह भेद नही प्रतीत होता। अर्थ सनातन काल से है जब से किसी शब्द का प्रयोग (सम्बद्ध अर्थ मे) होने लगा।

अभिधा साक्षात् (सीधे) अर्थ बताती है क्योंकि संकेत नियत है जब कि अन्य वृत्तियो से पहले अर्थ का बाध होता है और फिर रूढि या प्रयोजन से दूसरा अर्थ लिया जाता या व्यक्त होता है। सङ्केत से विलक्षण कार्य—शब्द-बोध—होता है, अतः उसे ईश्वरेच्छा भी कहते है।

पद-संबंधी ज्ञान पदार्थ-सम्बन्धी ज्ञान का स्मारक होता है। यह व्यापार वृत्ति है। नैयायिक, रूप आदि २४ गुणो मे अभिधा का समावेश करते है। सभी शब्द सभी अर्थो के बोधक होने से विशिष्ट अर्थ बताने मे समर्थ होते हैं तथा अभिधा एक पदार्थ मानी जाती है। वैयाकरणो के अनुसार पद और पदार्थ का वाच्य-वाचक-भाव सम्बन्ध शक्ति है जिसे संकेत भी कहते है (नागेश)। वेदान्तियों का मत मीमासकों से मिलता है; उनके अनुसार जैसे हर वस्तु मे भिन्न-भिन्न शक्ति होती है, वैसे ही हर पद मे अपना-अपना अर्थ देने का शक्ति होती है; अन्तर केवल इतना है कि वस्तुओं की शक्ति स्वय कार्य करती है और पदों की शक्ति अपना ज्ञान हो जाने पर कार्य करती है। आधुनिक आचार्यों के मत से इच्छा ही शक्ति है, अतः जो सङ्केत निश्चित कर दिया जाय, उसी के अनुसार शक्ति सङ्केतित अर्थ देने लगती है।

अपभ्रंश शब्दों का बोध होने मे शक्ति का भ्रम, कारण है। दूसरा मत यह है कि उनमें भी शक्ति होती है। आलङ्कारिक यह मानते हैं कि संकेतित अर्थ बताने वाली वृत्ति अभिधा है और यह अनुभव से जानी जाती है। अमुक शब्द से अमुक अर्थ जाना जाय अर्थात् कौन वाचक है और कौन वाच्य, यह व्याकरण, उपमान (सादृश्य), कोश, वृद्ध-वचन, व्यवहार, वाक्य की समाप्ति के अभाव, विवरण और प्रसिद्ध पद के सान्निध्य से जाना जाता है। बडे लोग "गाय लाओ" कहते है और फिर गाय लाई जाती है। कभी "घोड़ा लाओ" कहते हैं और लाने का कार्य समान होता है, पर क्रम बदल जाता है। देखने और सुनने वाला बालक स्मरण और विवेक से "गाय", "घोडे" और "लाओ" का अर्थ समझ

लेता है। इसी प्रकार नियत संकेत पीढी-दर-पीढ़ी समझे जाते है।

धर्म ६ प्रकार का होता है। इनके आधार पर संकेत नियत होता है। इसका विवरण अगले श्लोक मे आयेगा ॥१॥]

जात्या गुणेन क्रियया वस्तुयोगेन संज्ञया।
निर्देशेन तथा प्राहुः षड्विधामभिधां बुधाः ॥२॥

जात्येति। **बुधाः** विद्वांसः। **अभिधां** वृत्तिम् इत्यर्थः। **जात्या** गोत्वादि-जातिवाचकशब्देन। **गुणेन** शुक्लत्वादिगुणवाचकशब्देन। **क्रियया** चलनत्वादिक्रियावाचकशब्देन। **वस्तुनः योगेन** सम्बन्धेन दण्ड्यादिवस्तु-वाचकशब्देन। **संज्ञया** डित्थादिसञ्ज्ञावाचकशब्देन। **तथा** एवम्। **निर्देशेन** कंसादिनिर्देशवाचकशब्देन। **षड् विधा** प्रकाराः यस्याः ताम् **षड्विधाम्**। **प्राहुः** अकथयन्॥ २ ॥

विद्वानों ने अभिधा को जाति, गुण, क्रिया, वस्तु-संबंध, संज्ञा तथा निर्देश से ६ प्रकार का कहा है ॥२॥

[जाति आदि उक्त ६ भेद धर्म के है। जाति से ही व्यक्ति के अर्थ का ग्रहण होता है। यदि हर व्यक्ति के लिये अलग-अलग सङ्केत रखे जायँ तो व्यक्तियों (गाय आदि) के अनंत होने से अनंत संकेत आनन्त्य दोष उत्पन्न करेंगे; उनका स्मरण असंभव और निरर्थक होने से जाति-मात्र मे संकेत मानकर उससे व्यक्ति का ग्रहण मानना उचित है। जाति के एक होने से संकेत नियत होने के बाद उससे उस जाति के व्यक्ति का भी बोध हो जाता है। यदि कभी व्यक्ति-व्यक्ति मे भेद की आवश्यकता पडी तो वर्ण, आकार आदि के आधार पर पहचान की जा सकती है। इस प्रकार जाति-वाचक शब्द में संकेत मानने पर व्यक्ति का बोध जाति और व्यक्ति मे अविनाभाव संबंध होने से संभव है इसके विपरीत व्यक्ति अर्थ लेने पर व्यक्ति का ही बोध होता है; जाति का नहीं और व्यभिचार-दोष आता है। आलङ्कारिकों के मत से शब्द से जाति का अर्थ निकलता है और फिर जाति से व्यक्ति का स्मरण होता है। भाट्ट मत के अनुसार जाति अर्थ निकलने के बाद अर्थापत्ति (जब जाति अर्थ

निकल आया तो व्यक्ति का अर्थ तो निकल ही आया) से व्यक्ति अर्थ निकल आता है। गुरु-मत के अनुसार जाति अर्थ निकलता है और सादृश्य-संबंध से उस जाति के व्यक्ति का अर्थ निकल आता है। मण्डन मिश्र के अनुसार शक्ति (अभिधा) से जाति अर्थ और लक्षणा से व्यक्ति अर्थ निकलता है। कुब्ज-शक्ति-वादियों के मत से जाति अर्थ निकलने के बाद जाति-विशिष्ट व्यक्ति का अर्थ निकलता है। मीमांसक केवल जाति अर्थ मानते हैं। इस सम्बन्ध में अन्य अनेक मत हैं।

अभिधा को ४ प्रकार की मानते हुये लेखक ने अपना यह मत प्रदर्शित किया है कि शब्द से न केवल जाति का बोध होता है, बल्कि गुण आदि का बोध भी होता है। मीमांसक केवल जाति अर्थ मानते हैं; गुण आदि नहीं। उनके अनुसार बर्फ, दूध, शंख आदि में शुक्लत्व जाति, गुड, चावल आदि के पाक में पाक-जाति और बालक, युवा आदि के द्वारा अलग-अलग डित्थ के उच्चारण में डित्थ-जाति में शब्द का संकेत होता है। ऐसा मानना ठीक नहीं है। क्रिया में जाति का संकेत न होने पर "चलती हुई गाय लाओ" और "बैठी हुई गाय लाओ" में कोई अंतर नहीं रह जायेगा।

गुण में संकेत होने से शुक्ल कहने से नील, पीत आदि में शुक्ल व्यक्ति को पहचाना जा सकता है।

वस्तु-योग का अर्थ है वस्तु से संबंध; जैसे:—"दण्डी" में "दण्ड (वस्तु) से योग (संबंध) है।

डित्थ आदि संज्ञायें (नाम) केवल व्यक्ति का बोध कराती हैं। इनका दूसरा नाम यदृच्छा शब्द है।

निर्देश का अर्थ वर्णों का स्व-पर (अपना बोधक) होना है। "हिरण्यपूर्वं कशिपुं प्रचक्षते" (शिशुपालवध १।४२) में "हिरण्यपूर्वम्" और "कशिपुं" शब्द निर्देश-शब्द हैं। दोनो "हिरण्यकशिपु" का निर्देश करते हैं। "हिरण्य-कशिपु" कह देने से निर्देश शब्द न होकर संज्ञा शब्द हो जायेगा।

ग्रन्थकार के मत से निर्देश शब्द के आधार पर अभिधा होती है। दूसरों के मत से ऐसे स्थल में लक्षणा होती है ॥२॥]

गौर्नीलः पाचको दण्डी डित्थः कंस इति क्रमात् ।
कं संहिनस्ति कंसारिर्नरं च कं समाश्रितम् ॥३॥

गौरिति । (उदाहरणानि) क्रमात् क्रमशः । **गौः** गोत्वरूपजातिवाचकशब्दः । **नीलः** नीलत्वरूपगुणवाचकशब्दः । **पाचकः** पाकत्वरूपक्रियावाचकशब्दः । **दण्डी** दण्डत्वरूपवस्तुयोगवाचकशब्दः । **डित्थः** डित्थत्वरूपसञ्ज्ञावाचकशब्दः । **कंसः** वक्ष्यमाणे उदाहरणे कंकारसकाररूपवर्णनिर्देशवाचकशब्दः । च । इति । **कंसस्य अरिः** शत्रुः **कंसारिः** कृष्णः इत्यर्थः । च । **कं** किन्नामानम् । **नरं** पुरुषम् । **हिनस्ति** हन्ति । इति प्रश्ने कृते उत्तररूपेण कंकारसकाररूपवर्णनिर्देशवाचककंसशब्दः उपलभ्यते । **सम्** संकारम् **आश्रितम्** युक्तम् सङ्कारेण अनुगतम् इति यावत् **कं** कंकारम् कंसम् इत्यर्थः (हिनस्ति) ॥३॥

क्रम से (उदाहरण):—गौ, नील, पाचक, दण्डी, डित्थ और कंस (निम्नलिखित उत्तर-वाक्य के कं और स के रूप में) ।

और कंस-शत्रु (कृष्ण) किस पुरुष को मारते हैं ? कं को जो स से युक्त (अनुगत) है (अर्थात् कंस को) ।

[श्लोक के चौथे चरण से "नरक" अर्थ भी निकल सकता है । तदर्थ "नरम्" को प्रश्न-वाक्य से निकालकर उत्तर-वाक्य में लाकर (कं कंकारेण समाश्रितम् अनुगतम् नरं नरकम् इत्यर्थः) "क के द्वारा अनुगत नर अर्थात् नरक अर्थ निकलेगा । कृष्ण ने नरक-नामक असुर को मारा था, यह कथा पुराणों में आती है ।

ऊपर के श्लोक में जाति आदि धर्मों की चर्चा की गई थी । यहाँ प्रत्येक का उदाहरण क्रम से दिया गया है । गौ गोत्व जाति, नील नीलत्व गुण, पाचक पाकत्व क्रिया, दण्डी दण्डत्व वस्तु के योग (संबंध), डित्थ डित्थत्व संज्ञा और कंस वस्तु-निर्देश का वाचक शब्द है । यह चर्चा श्लोक २ की टीका में आ चुकी है ।

वस्तु-निर्देश क्या है, यह ऊपर बताया जा चुका है । इसे विशेष रूप से

समझ लेना चाहिये। कंस कहने पर संज्ञा-वाचक शब्द हो जाता क्योंकि वर्ण क्रम-पूर्वक रखे हुये हैं। जब यह क्रम तोड़ दिया जाता है और शब्द के वर्णों का निर्देश किया जाता है अर्थात् वे (वर्ण) अलग-अलग बोले जाने के बाद अर्थ के वाचक होते है, तब उन्हें निर्देश-वाचक शब्द कहा जाता है। उदाहरण मे "क" और "स" दो वर्ण प्रतीत होते हैं जो स्व-परक है, और उनसे बना कंस शब्द वाचक है, अतः यह निर्देश-वाचक का उदाहरण है ॥३॥

न योगादेरायतनं न सङ्केतनिकेतनम्।
वृत्त्या निर्देशशब्दोऽयं मुख्यया स्वाभिधेयया ॥ ४ ॥

नेति। अयं पूर्वोक्तः। निर्देशे स्वरूपे शब्दः निर्देशशब्दः निर्देश-वाचकः शब्दः। न योगः व्युत्पत्तिः आदौ आरम्भे यस्य तस्य आयतनं आस्पदम् (भवति)। निर्देशशब्दे व्युत्पत्तिः न भवति इति अर्थः। न (च) सङ्केतस्य इङ्गितस्य निकेतनं स्थानम् (भवति) निर्देशशब्दे सङ्केतः न भवति इति अर्थः। स्वं निजं (वर्णद्वयं वर्णवृन्दं वा) अभिधेयं यत्र तया स्वाभिधेयया। मुख्यया अभिधया। वृत्त्या व्यापारेण। प्रतीयते इति शेषः ॥ ४ ॥

यह उपर्युक्त निर्देश-शब्द न तो व्युत्पत्ति का आश्रय (धारक) है और न संकेत का घर (धारक); (केवल) (उस) अभिधा वृत्ति से प्रतीत होता है जिसमें स्वरूप (अपने वर्ण) ही अभिधेय होता है ॥ ४ ॥

[संकेत न होने का अर्थ है कि कं और स के अलग-अलग निर्देश करने के कारण कोई संकेत नहीं रहता। महाभाष्य में जाति, गुण, द्रव्य तथा क्रिया में शब्दों की प्रवृत्ति बताई गई है। इस प्रकार उसके अनुसार अभिधा ४ प्रकार की है। यहाँ अभिधा के ६ प्रकार बताये गये है जिनमे द्रव्य की जगह संज्ञा है और वस्तु-योग तथा निर्देश—ये २—भेद अधिक हैं ॥ ४ ॥]

पीयूषवर्षप्रभवं चन्द्रालोकमनोहरम्।
सुधानिधानमासाद्य श्रयध्वं विबुधा मुदम् ॥ ५ ॥

पीयूषेति। विबुधाः सम्बुद्धौ हे बुधाः। अन्यत्र देवाः। पीयूषम् अमृतं

वर्षति इति **पीयूषवर्षः** पीयूषवर्षापरनामधेयः ग्रन्थकारः जयदेवः। अन्यत्र चन्द्रः। **सुधायाः** अमृतस्य **निधानं** धाम। **मनोहरं** रमणीयम्। **चन्द्रस्य** शशिनः **आलोकं** प्रकाशम् चन्द्रालोकनामानं प्रस्तुतम् ग्रन्थम्। अन्यत्र कौमुदीम्। **आसाद्य** प्राप्य। **मुदम्** आनन्दम्। अयध्वं प्राप्नुत ॥ ५ ॥

विबुधो (विद्वानो अन्यत्र देवो), पीयूष-वर्ष (जयदेव। अन्यत्र चन्द्रमा) से उत्पन्न, अमृत का घर व रमणीय चन्द्रालोक (नामक ग्रन्थ। अन्यत्र चाँदनी) प्राप्त कर आनन्द की उपलब्धि करो ॥ ५ ॥

[विषय की समाप्ति कर इस श्लोक मे ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ के पढ़ने का फल लिखा है। "पीयूष-वर्ष", "चन्द्रालोकं" और "विबुधाः" के २-२ अर्थ है जिनमे से पहला अर्थ प्रकरण मे लगेगा।

भाव यह है कि अमृत-भोजी देवताओं को जिस प्रकार चाँदनी आनन्द देती है, उसी प्रकार यह चन्द्रालोक ग्रन्थ विद्वानों को आनन्द दे ॥ ५ ॥]

जयन्ति याज्ञिकश्रीमन्महादेवाङ्गजन्मनः।
सूक्तिपीयूषवर्षस्य जयदेवकवेर्गिरः ॥ ६ ॥

जयन्तीति। शोभना उक्तिः भाषितम् सूक्तिः सा एव पीयूषम् तस्य **वर्षः** वर्षकः तस्य **सूक्ति-पीयूषवर्षस्य**। **अङ्गात्** शरीरात् **जन्म** उत्पत्तिः यस्य सः **अङ्गजन्मा**। **याज्ञिकः** यज्ञकर्ता च असौ **श्रीमान्** लक्ष्मीवान् च याज्ञिकश्रीमान् स च असौ **महादेवः** च याज्ञिकश्रीमन्महादेवः तस्य **अङ्गजन्मा** पुत्रः। **जयदेवनाम्नः कवेः जयदेवकवे**। **गिरः** वाण्यः। **जयन्ति** सर्वोत्कर्षेण वर्त्तन्ते ॥ ६ ॥

सुभाषित-रूपी अमृत की वर्षा करने वाले यज्ञ-कर्त्ता श्रीमान् महादेव के पुत्र जयदेव (-नामक) कवि की वाणियाँ सर्वोत्कृष्ट है ॥ ६ ॥

[यहाँ आत्म-प्रशंसा की गई है जो १।४ तथा १।५ से मेल नहीं खाती। बाद के कवियों में यह प्रवृत्ति और उनके वर्णन में इस प्रकार का पारस्परिक विरोध देखा जाता है, अतः प्रचलन के कारण उतना नहीं खटकता ॥ ६ ॥]

Form No

महादेवः सत्रप्रमुखमखविधैकचतुरः
सुमित्रा तद्भक्तिप्रणिहितमतिर्यस्य पितरौ।
मयूखस्तेनासौ सुकविजयदेवेन रचिते
चिरं चन्द्रालोके महति दशसङ्ख्यः सुखयतु ॥ ७ ॥

इति चन्द्रालोकालङ्कारेऽभिधानिरूपणो नाम दशमो मयूखः।

[व्याख्या ६।१७ के समान है; केवल "नव" "श्रीजयदेवकविविरचिते" तथा "लक्षणा" को हटाकर **"दश"** (दस) और **"अभिधा"** जोड़ दिया गया है ॥ ७ ॥]

